पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी

२०००) पूज्य नद जैन साहित्य समिति रतलाम

१०००) श्रीमान सेठ हस्तीमलजी समरथमलजी नाहर की मातेश्वरी श्री मैनावाई नाहर वदनावर

१०००) स्व सेठ श्री जुहारमलजी मूणत की स्मृति मेः—श्रीमती धनीवाई व श्रीमान सेठ शेतानमलजी, सुजानमलजी, शांतिलालजी, झमकलालजी, मूणत वदनावर की ओर से

२०१) स्व सेठ श्री रखवचन्दजी वोकडिया की धर्मपत्नी स्व श्री अंजनावाई की स्मृति मे सेठ श्री रतनलालजी वोकडिया द्वारा, छायण

२०१) श्रीमान सेठ प्यारचंदजी सा. राँका, सैलाना

५३०) सूर्य साहित्य भाग प्रथम से प्राप्त

ग्रंथ का नाम—दृष्टान्तमाला (पूर्वार्द्ध ज्ञान स्कध)

ग्रन्थकार — कविवर पं श्री सूर्यमुनिजी महाराज

विवेचना — साधना की दिशा

प्रेरक — प श्री रूपेन्द्रमुनिजी म

विवेचक — उमेशमुनि 'अणु'

सहायक — चैतन्यमुनिजी म

आवृत्ति — प्रथम-प्रवेश . ११००

प्रसग — पुज्य गुरुदेव के दीक्षा–पर्याय के ६८ वें वर्ष मे प्रवेश (ज्येष्ठ शु ५, २०३५ वि सं)

प्रकाशक.—श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, वदनावर

प्राप्तिस्थान— (१) समरथमलजी जीतमलजी नाहर मु. पो . वदनावर, जिला धार (म प्र)

(२) श्री धर्मदास जैन मित्र मण्डल नौलाईपुरा, रतलाम (म प्र)

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस भारतवर्ष की पुण्यभूमि मे आध्यात्मिक ज्ञान का दिव्य सदेश दूर-दूर तक गुज रहा है। कही शान्तरस से छलछलाती गगा वह रही है तो कही आत्म-कल्याण की सुरम्य वाटिका मे विविध प्रकार के धर्माचरण रूपी पुष्प खिल रहे हैं। जिन पर मुमुक्षु आत्मारूपी भौंरे गुणरूपी रस का पान कर रहे हैं। वे उस रसपान से वल प्राप्त कर मोक्षरूपी लोक-शिखर पर पहुचने को लालायित हो रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि संसार मे भूले-भटके जीवो को मिथ्यात्व के कटकाकीर्ण मार्ग से दूर हटाकर, उस आत्म-कल्याण की सुरम्य वाटिका तक कैसे पहुचाया जाय ? इसका सुगम उपाय है—सत्साहित्य।

इस हेतु संतो ने अनेक प्रकार के साहित्य का निर्माण किया है। वैसा ही एक प्रयत्न है—गुरूदेव पूज्य श्री सूर्यमुनिजी म द्वारा रचित 'दृष्टान्तमाला'। जैसे माता-पिता अवोध वालको के हृदय मे सुसस्कारो को अकित करने के लिये वड़े प्रेम से शिक्षाप्रद कहानियाँ सुनाते हैं, ठीक वैसे ही भोले जीवो को आत्म-कल्याण की वाटिका तक पहुचाने के लिये गुरूदेव ने यह कथाप्रधान रचना की है। आत्मार्थी, तत्वमनीषी प रत्न श्री उमेशमुनिजी म. 'अणु' ने इसके प्रत्येक पद्य की कथा का विवेचन सहित विस्तार करके भव्यात्माओ पर वडा उपकार किया है। अत महाराज श्रीजी के हम अत्यन्त ऋणी हैं।

सूर्य-साहित्य भाग २ के रूप मे 'दृष्टान्त-माला' का पूर्वार्द्ध प्रकाशित हो रहा है। 'सूर्य-साहित्य' के प्रकाशन के प्रेरक नाहर वधु तथा व्होरा बन्धु रहे हैं। इनके सिवाय मुणत वन्धु और श्री धर्मप्रेमी कनकमलजी सघवी का श्रमदान भी विशिष्ट है। अर्थ सहयोगियो मे रतलाम की एक सस्था, मुणतबन्धु, नाहर वन्धु, वोकडिया वन्धु, राका वधु, आदि का सुन्दर सहयोग मिला है। अत हम

पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी

२०००) पूज्य नद जैन साहित्य समिति रतलाम

१०००) श्रीमान सेठ हस्तीमलजी समरथमलजी नाहर की मातेश्वरी श्री मैनावाई नाहर वदनावर

१०००) स्व सेठ श्री जुहारमलजी मूणत की स्मृति मेः—श्रीमती धनीवाई व श्रीमान सेठ शेतानमलजी, सुजानमलजी, शाँतिलालजी, झमकलालजी, मूणत वदनावर की ओर से

२०१) स्व सेठ श्री रखवचन्दजी वोकडिया की धर्मपत्नी स्व. श्री अंजनावाई की स्मृति मे सेठ श्री रतनलालजी वोकडिया द्वारा, छायण

२०१) श्रीमान सेठ प्यारचदजी सा राँका, सैलाना

५३०) सूर्य साहित्य भाग प्रथम से प्राप्त

ग्रंथ का नाम—दृष्टान्तमाला (पूर्वार्द्ध : ज्ञान स्कध)

ग्रन्थकार — कविवर पं श्री सूर्यमुनिजी महाराज

विवेचना — साधना की दिशा

प्रेरक — पं श्री रूपेन्द्रमुनिजी म

विवेचक — उमेशमुनि 'अणु'

सहायक — चैतन्यमुनिजी म

आवृत्ति — प्रथम-प्रवेश : ११००

प्रसग — पुज्य गुरुदेव के दीक्षा–पर्याय के ६८ वे वर्ष मे प्रवेश (ज्येष्ठ शु. ५, २०३५ वि. स)

प्रकाशक.—श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, वदनावर

प्राप्तिस्थान— (१) समरथमलजी जीतमलजी नाहर मु. पो . वदनावर, जिला धार (म प्र.)

(२) श्री धर्मदास जैन मित्र मण्डल नौलाईपुरा, रतलाम (म प्र)

अपनी ओर से

जैन कथाकार मूलत. कथाकार नही होता है । वह लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत आत्म-साधक होता है। कथा के लिये कथा कहना उसकी मर्यादा के वाहर है । वह सोद्देश्य ही कथा कहता है। उसके लिये कथा आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण का माध्यम मात्र है । वह इस बात की चिन्ता प्राय: नही करता कि उसके द्वारा कही या लिखी जाने वाली कथा-कहानी कला की सैद्धान्तिक कसौटी पर खरी उतरती है या नही। वस्तुत वह कलाकार होने का दावा ही नही करता है। उसे यह चिन्ता अवश्य रहती है कि उसकी कथा आत्म-हित की वाधिका तो नही है ? वह लोक-कल्याण की साधिका तो है ? क्योकि वह आत्म-हित के लिये प्रतिवद्ध है और लोकमंगल के लिए कटिवद्ध कला के लिए नही फिर नियमों मे रहते हुए, उसकी कृति कला के विविध आयामो और चरम-शिखर छुए तो उसे कोई वाधा नही।

जैन कथाकार अपने निर्णीत उद्देश्य की पूर्ति के लिये पुराण-नवीन कथाओ को समेटते-सजाते, मोड देते, घटनाओ को कथा का जामा पहनाते और नई कथाओ को गढते आये हैं । वे दर्शन, सिद्धान्त, व्यवहार-शुद्धि, अन्तर भाव, कर्म-विवेक आदि की अभिव्यक्ति के लिये—हृदय मे सद्धर्म के सस्कारो को जमाने के लिए कथा दृष्टान्तो को विविध स्रोतो से चुनते आये हैं। ऐसा ही एक चयन है—गुरुदेव के द्वारा रचित 'दृष्टान्तमाला' । 'सूर्य साहित्य' प्रथम भाग मे प्रकाशित रचना 'सूर्य दृष्टान्त शतक' भी ऐसी ही रचना है।

'दृष्टान्त-शतक' और दृष्टान्तमाला की वाह्य रचना शैली एक-सी है । 'दृष्टान्तमाला' मे भी एक एक पद्य मे एक-एक कथा या दृष्टान्त गुम्फित है और प्राय पद्य के अन्तिम चरण मे उससे प्राप्त शिक्षा का सकेत है । परन्तु 'दृष्टान्त-शतक' से इसका कथ्य और उद्देश्य भिन्न है। इसके अधिकाश कथा-दृष्टान्त

इन सबके बडे आभारी हैं। प्रेरणा किये विनाही जो भी बन्धु प्रेम से अर्थ-सहयोग देते हैं वे गुरूदेव के उपासक होते हुए भी उनका आभार मानना उचित ही नही आवश्यक है।

इसी प्रकार आपका उदार सहयोग रहा तो पूज्य गुरुदेव का अन्य अप्रकाशित साहित्य भी आपके हाथो मे आ सकेगा। दुरूपयोग न हो, इसलिये लागत से कम मूल्य इस पुस्तक का रखा गया है। इस साहित्य के विक्रय से प्राप्त धनराशि साहित्य प्रकाशन मे ही व्यय कर दी जाती है।

नई दुनियाँ प्रिंटिंग प्रेस के व्यवस्थापक महोदय एव प्रेस कर्मचारियो को भी धन्यवाद है कि जिनके सहयोग से इस ग्रन्थ का सुन्दर रूप से प्रकाशन हो सका।

'दृष्टान्तमाला' के माध्यम से पाठक अपने जीवन को आत्मज्ञान से समुन्नत करेंगे—इसी आशा के साथ।

आपका

मोतीलाल मूणत 'विशारद'

शांतिलाल भंडारी रतलाम

अक्षय तृतीया २०३५

इस कार्य के होने मे पूज्य गुरुदेव का कृपा-प्रसाद तो रहा ही । परन्तु इस श्रम मे मेरे पूज्य गुरु भ्राता प श्री रूपेन्द्रमुनिजी म और लघु सत श्री चैतन्य मुनिजी का भी कम योगदान नही रहा है । उनके भलीभांति सहयोग का ही यह सुन्दर फल है। प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थो से भी इसके प्रणयन मे काफी सहायता ली गई है। अत उनके रचनाकारो का भी आभारी हूँ ।

स्थानीय सघ की गुरुदेव के प्रति विशिष्ट श्रद्धा और सेवाभक्ति अविस्मरणीय है। ये रचनाएँ कब तक प्रकाशित होती, कुछ कहा नही जा सकता । गुरुदेव तो दीर्घकाल से इस ओर से उदासीन थे । हमारा ध्यान भी इस ओर नही था । परन्तु जब गुरुदेव के चारित्र पर्याय के पचषष्टि वर्ष की पूर्ति का अवसर समीप आया, तब यहाँ के सघ के सदस्यों का मन गुरुदेव का अभिनन्दन करने का हुआ । परन्तु इस विषय मे गुरुदेव ने अपनी दृढ असहमति व्यक्त की । तब कुछ बधुओ का ध्यान गुरुदेव के अप्रकाशित साहित्य की ओर गया और इस प्रकार 'सूर्य साहित्य का प्रकाशन प्रारभ हुआ । बाद मे रतलाम निवासी भद्र परिणामी श्रावक श्री जडावचन्दजी गाँधी की ओर से भी प्रेरणा प्राप्त होती रही । आशा है, कि गुरुदेव के चारित्र पर्याय के अभिनन्दन भाव प्रसूत यह ज्ञान-दीपावली जन-मन मे विशिष्ट ज्ञान ज्योति जगाकर, उनके कल्याण-पथ को आलोकित करेगी ।

वैशाख कृष्णा ८,
रविवार,
सवत् २०३५
वदनावर

उमेशमुनि 'अणु'

वर्तमान से सम्पृक्त, आसन्न अतीत के परिवेश पर आधारित है । अत. इसमे आधुनिक समस्याएँ और विसगतियाँ अधिक मुखर हुई हैं । हास्यरस के पुट के साथ-साथ यत्र-तत्र तीव्र व्यग्य की भी सृष्टि हुई है। इसमे मात्र उपदेश-प्रधान दृष्टि ही नही है । परन्तु इन कथा-दृष्टान्तो के माध्यम से जैन सिद्धान्तो की व्याख्या करना प्रमुख ध्येय है । जिसने समस्याओ का समाधान और विसगतियो का परिमार्जन सहज मे ही प्रस्तुत होता चलता है ।

इस दृष्टि के अनुरूप ही विवेचन का ढाँचा खडा किया गया है । जिसमे व्याख्या भी है और कथा-रस भी है । भद्रमुनि और वर्धनमुनि तथा ऋषभदासजी और उनके दोहित्रो के माध्यम से विवेचन का विस्तार हुआ है । भद्रमुनि का ध्येय वर्द्धनमुनि के साधनगत उत्साह-शैथिल्य को दूर करना है और ऋषभदासजी का ध्येय 'युग की मांग' आदि बहानो से व्याप्त अपने दोहित्रो के धर्म-वैमुख्य को दूर करना है । दोनो इन कथा-दृष्टान्तो के माध्यम से अपने ध्येय को सिद्ध करते हैं ।

गुरुदेव की यह रचना भी 'दृष्टान्त शतक' के नाम से प्रारम्भ हुई थी । परन्तु इसकी रचना निरन्तर नही हुई । गुरुदेव के द्वारा इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि दो प्रकार के पन्नो पर हुई है । पहले प्रकार के पन्नो के दल के एक पन्ने पर 'स १९९४, मद्रास' और दूसरे दल के एक पन्ने पर 'स २००५, इंदौर' अकित है । अर्थात् आधे से अधिक भाग सं १९९४ मे या उससे पूर्व तथा शेष भाग स २००५ या उससे पहले निर्मित हुआ । दोनो भागो मे दृष्टान्तो की जोड १०९ आने पर 'सूर्य दृष्टान्तशतक' से इसे भिन्न दर्शाने के लिये इसका नाम 'दृष्टान्तमाला' कर दिया गया ।

विषयानुक्रमणिका

पूज्य गुरुदेव का संक्षिप्त परिचय

१. पिता का नाम— श्री वच्छराजजी पीपाडा.

२. माता का नाम— श्री फूलकुँवरवाई

३. जन्म-स्थान — आलोट (मध्य-प्रदेश)

४ जन्म-समय — वैशाख शु पूर्णिमा, वि स. १९५८

५. जन्म-नाम — भेरूलालजी (दीक्षा नाम—श्री सूर्यमुनिजी)

६. दीक्षा-समय — ज्येष्ठ शु ५; वि सं १९६८

७. दीक्षा-स्थान — उज्जैन, पिताजी के संग दीक्षित

८. दीक्षा-गुरू — श्रीमद् धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के आचार्यदेव पूज्य श्री नन्दलाल जी म.

९ गुरु-भ्राता — श्री चुन्नीलालजी म, श्री किसनलालजी म. श्री वच्छराजजी म आदि

१०. विशेषताएँ — स्व-पर-सिद्धान्तो का विशिष्ट अध्ययन, थोकडो का ज्ञान पद-कविता-रचना की रुचि-प्रवृत्ति, प्रवचन-कुशलता, पुरातन ग्रन्थो के अन्वेषण और सरक्षण की प्रवृत्ति आदि

११. पद — कविवर आदि

१२ शिष्य — स्व श्री मोहनमुनिजी म, स्व. श्री माणकमुनिजी, स्व श्री सुरेन्द्रमुनिजी म, सेवाशील प श्री रूपेन्द्रमुनिजी म. श्री प उमेशमुनिजी म 'अणु'।

१३ कृतियाँ — छोटी-वडी ५३ रचनाए
सपादित — सस्कृत-श्लोक-सग्रह भा १, भा.२
अपूर्णकृति — जैन महाभारत
प्रकाशित कृत्तियाँ १५
प्रकाशित-अप्रकाशित कई भजन आदि

१४ विहार-क्षेत्र — मालवा, राजस्थान, गुजरात, काठियावाड, महाराष्ट्र, हैदरावाद (दक्षिण), मद्रास, कर्णाटक, दिल्ली आदि प्रदेश। सम्प्रति वि स २०३२ के आषाढ शुक्ला से वदनावर मे विराजमान हैं।

ज्ञान स्कंध : दृष्टिवर्ग

१.

दृष्टान्त-मुख

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।
अत्थ-धम्म-गइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ।।

सिद्ध भगवतो और सयतियो—अर्हत, आचार्य, उपाध्याय और साधुओ को भावपूर्वक नमस्कार करके, मै अर्थ और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य रूप शिक्षा कहूँगा, उसे मुझसे सुनो ।

—उत्तरज्झयणाइ २०–१

प्रशममुनि के कई शिष्य थे । उनमे कई बहुश्रुत और स्थविर मुनि थे । वे गच्छ की दक्षता से सार-सभाल करते थे । विभिन्न कुलो के मुनियो का भी संरक्षण, सवर्धन, ज्ञान-पोषण आदि करते थे । प्रशम मुनि ने सम्पन्न कुल के एक किशोर को परम वैराग्यवान जानकर, दीक्षा प्रदान की । उन किशोर मुनि का नाम वर्धनमुनि रखा गया । वर्धनमुनि को दीक्षा लिये कुछ मास बीत गये थे । परन्तु उनका मन श्रुत-अभ्यास और स्तोकज्ञान मे रमता नही था । प्रशममुनि ने उन्हे बोध देने के हेतु स्थविर भद्रमुनि को सौपा और कहा—'हे भद्र ! कुछ ऐसा प्रयत्न करो कि वर्धनमुनि को ज्ञानरुचि और संयम-रमणता प्राप्त हो ।' फिर उन्होने वर्धनमुनि से कहा—'वत्स ! तुम भद्रमुनि के पास ज्ञान सीखा करो ।' दोनो ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की ।

वर्धनमुनि ने कहा—'परन्तु गुरुदेव ! ज्ञानी मुनियो की कोई पूछ नही है, जो तिकडमी है, या जो वाह्य आडम्वर, मंत्र-तत्रादि वतलाते है; उनके पीछे लोग दौड़ते है। फिर शास्त्रो का अभ्यास करके क्या करे ?' भद्रमुनि ने उत्तर दिया—'हे आयुष्मन् !' जो अज्ञानी लोग है, वे ही चमत्कार के पीछे दौडते है और ऐसे साधुओ को भगवान ने पापी साधु कहा है। अतः आत्म-साधना के इच्छुक साधक को मान-सम्मान की कामना या चमत्कार दिखाने की इच्छा को सदा के लिये छोड देना चाहिए और श्रुत-आराधना अपने आत्मोत्थान के लिये ही करना चाहिए । तुम्हे उपसम्पदा के समय की प्रतिज्ञा स्मरण नही है, क्या ?'

वर्धनमुनि ने कहा—'स्मरण क्यो नही होगी, गुरुदेव ! वह प्रतिज्ञा ही तो साधना का केन्द्र विन्दु है—'**इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि**' अर्थात् 'ये पाँच महाव्रत और छट्ठा रात्रि भोजन-त्याग रूप व्रत, आत्म-हित के लिये, ग्रहण करके विचरण करूँगा ।' इसी की ओर आपका संकेत है न !' भद्रमुनि ने कहा—'हाँ, वत्स ! तुम ठीक समझे हो । हमे आत्महित के लिये ही ज्ञान आदि की आराधना करनी चाहिए। जिसमे किसी अन्य का हित सधता हो तो कोई निषेध नही है ।'

वर्धनमुनि ने खेद प्रकट करते हुए कहा—'गुरुदेव ! आपकी कृपा से मै यह वात समझता हूं । फिर भी मेरा प्रमादी मन वृथा वहाने क्यो खोजता है ? इस वात का मुझे कभी-कभी वड़ा खेद होता है ? मेरा मन शास्त्र ज्ञान मे क्यो नही रमण करता है ? क्या मैं शास्त्र-शिक्षा के योग्य नही हूँ ?'—यह वात कहते हुए वर्धनमुनि की आँखो मे आँसू आ गये ! वे कह रहे थे—'मैने दीक्षा कितनी उमग से ली थी ! दीक्षा के पहले मुझे श्रुत-अभ्यास की कितनी तीव्र

भद्रमुनि अपने आसन पर विराजमान थे। वर्धनमुनि ने उन्हे सविधि वदना की और उनके सन्मुख पर्युपासना-मुद्रा मे बैठकर पूछा—'भन्ते ! शास्त्रो को पढने की क्या आवश्यकता है? क्या सयम मे रहना ही पर्याप्त नही है !' भद्रमुनि ने वात्सल्य से कहा—'वत्स ! ज्ञान के विना सयम स्थिर नही हो सकता है और शास्त्र के अभ्यास के विना स्वाध्याय और ध्यान नही हो सकता है। स्वाध्याय और ध्यान ही निर्जरा के प्रधान हेतु है। भगवान ने साधुओ के लिये **'आगमचक्खू'**—'आगमरूपी आँख वाला' विशेषण दिया है। साधना मे आगमो का नेत्र से भी अधिक महत्त्व है। नेत्रों से परिमित पदार्थो के वाह्य स्वरूप का ही ज्ञान होता है। परन्तु आगमो के द्वारा हमे लोक के समस्त पदार्थो के वाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही स्वरूपो का ज्ञान होता है। भगवान ने अपने अन्तिम उपदेश मे कहा है—

णाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥

जीव ज्ञान से भावो—पदार्थो को जानता है, दर्शन से भावो—हेय, ज्ञेय और उपादेय तत्त्वो की श्रद्धा करता है, चारित्र से भावो—आश्रवो—कर्मागमन के हेतु रूप परिणामो को रोकता है और तप से भावो—परिणामो को पूर्णत. विशुद्ध करता है।

—उत्तरज्झयणाइ २८—३५

किसी सुकवि ने तो एक अक्षर के ज्ञान को भी कितना महत्त्व दिया है—

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि, सरहस्यानि दूरतः।
एकमप्यक्षर सम्यक्, शिक्षितं निष्फलं न हि ॥

'सभी शास्त्रो का रहस्य सहित जानना तो दूर रहा, परन्तु अच्छी तरह से सीखा हुआ एक अक्षर भी निष्फल नही होता है।'

१ अधिक न हँसने वाला, २ सदा इन्द्रियो का दमन करने वाला, ३. किसी के मर्म को न खोलने वाला, ४. सदाचारी, ५. निरतिचारी, ६ अति लोलुपता से रहित, ७ अक्रोधी और ८ सत्य-प्रेमी—ये आठ लक्षण शिक्षाशील के है।

तुममे इनमे से अधिकाश लक्षण पाये जाते है।

वर्धनमुनि ने जिज्ञासा की—'जव मुझमे ये लक्षण पाये जाते है, तव मुझे शास्त्रीय ज्ञान मे रुचि क्यो नही होती है ?' भद्रमुनि ने कहा—'तुम्हारी रुचि तो है। परन्तु ज्ञान मे रमणता नही है। इसका कारण विषय का अपरिचय और चिन्तन की मन्दता है। तुम्हे कुछ तत्त्व-परिचय हो जाय और तुम्हारी चिंतन मे कुछ तीव्रगति हो जाय, इसलिये मै सोचता हूँ, तुम्हे दृष्टान्तमाला के माध्यम से ज्ञान देना ठीक रहेगा।'

वर्धनमुनि—'दृष्टान्तमाला' किसका ग्रन्थ है और कैसा ग्रन्थ है ?' भद्रमुनि—'कविवर गुरुदेव 'श्री सूर्य मुनिजी' महाराज की रचना है। इसमे दृष्टान्तो का संग्रह है। इसके दो स्कंध है—(१) ज्ञान-स्कंध, और (२) क्रिया-स्कंध। ज्ञान-स्कंध के तीन वर्ग है—(१) दृष्टिवर्ग (भ्रम के फेरे), (२) अज्ञान वर्ग (अज्ञान की छाया), और (३) ज्ञान वर्ग (ज्ञान का उजेला)। और क्रिया स्कध में दो वर्ग है—(१) कटक वर्ग (कसकते काँटे), और (२) साधना वर्ग (साधना का अमृत)।'

वर्धनमुनि 'दृष्टान्तमाला' के श्रवण-मनन के लिये तत्पर हुए।

कामना थी ! पर कुछ ही दिनो मे यह क्या हो गया ! क्या मेरा उत्साह मर गया ? मेरी इस वृत्ति से गुरुदेव को भी क्लेश होता है'—वर्धनमुनि के आँसू भद्रमुनि पोंछ रहे थे। वे उनके सिर पर हाथ फिराते हुए वोले—'वर्धनमुनि ! आर्तभाव क्यो लाते हो ? शान्त हो जाओ। यह मत भूलो कि अभी तुम एक साधक हो—सिद्ध नही। साधक अवस्था मे ऐसी स्थितियाँ आती ही रहती है। तुम्हे अभी अरति परीषह के कारण ऊव-उकटाहट हो रही है। इसपर जय प्राप्त करो। निराश मत होओ। यथा—

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आय-रक्खिए ।
धम्मारामे निरारंभे, उवसंते मुणी चरे ।।

—उत्तर० २-१५

अरति—ऊव सयम मे अरुचि के भाव से मुख मोडकर, मुनि विरत—उस भाव मे लीन न होता हुआ, आत्मभाव की रक्षा करता हुआ, उस भाव के अनुसार प्रवृत्ति न करता हुआ और उस भाव का शमन करता विचरण करे।

तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का उदय भी है। इसलिए भी ज्ञान की प्राप्ति मे वाधा पड रही है। तुम शास्त्र पढ़ने के योग्य हो। क्योंकि तुममे शिक्षाशील के कई लक्षण पाये जाते है।'

वर्धनमुनि ने उत्सुकता से पूछा—'पूज्यवर ! शिक्षाशील के कौन-से लक्षण है ?' भद्रमुनि ने कहा—'आठ लक्षण है। वे इस प्रकार है—

अह अट्ठहि ठाणेहिं, सिक्खासीलित्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सयादंते, ण य मम्म-मुदाहरे ।।
णासीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलित्ति वुच्चइ ।।

—उत्तर ११-४, ५

जनता में वे समान रूप से विश्वासपात्र थे। जैन समाज मे उनका वहुत ही उच्च स्थान था। इतना ही नही, वे नगर के नर-नारियो के हृदय सिंहासन पर एक पुण्यपुरुष के रूप मे प्रतिष्ठित थे।

उनके दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ थी। तीनों पुत्रियाँ अपने-अपने घर सुखी थी। उनके दोनो पुत्रो ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और दोनों पुत्रवधुएँ भी सुशिक्षित थी। उनके दो पौत्र विदेश मे शिक्षा पाकर आये थे। परन्तु किसी को शिक्षा का गर्व-गुमान नही था। सभी विनीत थे और सभी ऋषभदासजी का आदर-सत्कार करते थे।

चारों नाती वहुत दिनो मे यहाँ आये थे। जव वे वचपन मे यहाँ आते थे, तव उन्हें नाना के सग रहने का अधिक समय नही मिलता था, क्योंकि वे खेलने मे मशगूल रहते थे और नाना व्यापार-धंधे मे। फिर भी नाना कभी-कभी समय निकालकर, उनसे प्यार की वाते करते थे और उन्हे मीठी-मीठी कहानियाँ सुनाते थे। यद्यपि उस समय उन्हे नाना के पास रहना अच्छा लगता था, तदापि वे उनके व्यक्तित्व से परिचित नही हो सके थे; किन्तु इस समय उन्हें नाना के सशक्त चुवकीय व्यक्तित्व के प्रभाव का अनुभव हुआ। उन्हे लगा कि घर का कण-कण उनकी कृपा का ऋणी है और उनकी पूजा मे रत है।

प्रात.काल मे परिवार के प्रायः सभी सदस्य उन्हे प्रणाम करने जाते थे। विनोद और प्रमोद को यह वात विचित्र लगती थी और उन्हे यह वात सुहाती भी नही थी। यह पूज्यता की वृत्ति उनके सस्कारों के प्रतिकूल थी। उन्हे इसमे गुलामी की बू आती थी। अत· वे नानाजी को प्रणाम करने नही जाते थे। पर वे इस विषय मे किसी से खुलकर वात भी नही कर सकते थे। मृदुला और प्रवीण

२.

दृष्टान्त आमुख

भद्रमुनि ने कहा—'मै तुम्हे पहले 'दृष्टान्तमाला' का आमुख सुनाता हूँ—'

विनोद और प्रमोद मौसेरे भाई थे। दोनो समवयस्क थे। वे उद्दण्ड कॉलेजियन और आधुनिक रंग मे रगे हुए युवक थे। दोनो विचारक थे और पश्चिम के विचार-वैभव से काफी प्रभावित थे। वे धर्म को उन्नति मे वाधक, पिछडे युग की निशानी और सामन्ती युग की अफीम समझते थे। मृदुला और प्रवीण उनकी छोटी मौसी की सन्तान थे। मृदुला भी आधुनिक शिक्षा से सम्पन्न थी। परन्तु उसने अपने प्रबुद्ध माता-पिता से समझपूर्वक धर्म-संस्कार पाये थे। वह चिन्तनशीला और सौम्य प्रकृति वाली थी। उसका भाई प्रवीण अभी किशोर ही था। किन्तु वह वडा विचक्षण और ज्ञान ग्रहण करने में विवेकवान था। उसकी तर्क शक्ति प्रखर थी। ये सव अपने नाना के वहाँ छुट्टियो मे आये हुए थे।

उनके नाना ऋषभदासजी साठ की देहरी लाँघ चुके थे। फिर भी उनका शरीर सुदृढ और गठित था। वे चुस्त स्थानकवासी जैन श्रावक थे। उन्होने वारहव्रत धारण कर लिये थे। अव वे कुछ वर्षों से निवृत्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनका अधिक समय धर्म-आराधना मे ही व्यतीत होता था। घर मे तो उनका मान देवपुरुष के तुल्य था ही। लेकिन लोकों मे भी उनका वहुत मान था।

मानो वे उस मगलमूर्ति को प्रदक्षिणा दे रही हो——कल्पना के गगन में उड़कर । पलक-पाँखे सिमट गयी । प्रवीण भाव-विभोर होकर बोले जा रहा था—'भैया ! भले ही नानाजी पुराने जमाने के हो और आज की भाषा मे भले ही अशिक्षित हो, परन्तु उनकी पकड वहुत गहरी है और ज्ञान . .'

प्रमोद ने व्यग का तीर छोडा—'अहो ! वडे परखैया हो आप !' प्रवीण कहाँ डटने वाला था । उसने सहज स्वर मे कहा—'वडा या छोटा कैसा भी परखैया तो होना ही चाहिए ! नानाजी कहते थे—लोग सभी चीजों की परख करते है, पर विचारों की नही । जैसे कई पुरातनवादी पुरानी रूढ़ियों से जकडे है, वैसे ही कई नवीनतावादी नई रूढियो मे फँसते जा रहे हैं । हमे पुराने या नये खेमे मे नही वँटना है । हमे तो अपने लिये जो हितकर है——वही ग्रहण करना है । अस्तु, प्रमोद भैया ! मै अपनी अनुभूति को वताऊँ तो वुरा तो न मानोगे ?' प्रवीण ने दोनो की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा । विनोद ने प्रवीण को घूरते हुए मात्र 'हूँऽऽ' कहा और प्रमोद असमजस मे पडा हुआ—सा ताकता ही रहा । क्षणभर चुप रहने के वाद प्रवीण पुनः वोला—'मै आपके सग भी रहता हूँ और आपकी चर्चा-वार्ता मे भी सम्मिलित होता हूँ तथा नानाजी की रात की ज्ञान-गोष्ठी मे भी जाता हूँ । जव मै आपके तर्क-वितर्क सुनता हूँ, तव मुझे लगता है कि आप एक ऐसे धुनकिये है, जो रुई को निरुद्देश्य धुनककर, इधर-उधर उडाना भर जानता है—परन्तु उसका उपयोग करना नही जानता और नानाजी की ज्ञान-गोष्ठी मे ऐसा लगता है कि वे ज्ञान के ऐसे धुनकिये है, जो धुनकना, समेटना, उपयोग करना और कातना-बुनना सभी कुछ जानता है ।' प्रवीण की इस वात से दोनों हतप्रभ हो गये और अपने को अपमानित अनुभव करने लगे । मृदुला भी अभी तक चकित-सी प्रवीण की वात सुन रही थी ।

भी नाना का आशीर्वाद पाने के लिये पहुँच जाते थे । इसलिए किसी प्रसग मे विनोद उनसे कह बैठा—'मृदुला ! मामा, मामियाँ और उनके बेटे-बेटियाँ सभी आधुनिक शिक्षा पाये हुए है और तुम भी उच्च शिक्षा पा रही हो । पर मुझे आश्चर्य होता है कि तुम सबने पुराने जमाने के एक अशिक्षित वृद्ध को कितना चढा रखा है....?' प्रमोद ने अनुमोदन करते हुए कहा—'ठीक कह रहा है, विनोद । हम शिक्षितो को तो रूढियों का भंजक होना चाहिए । अब नया जमाना है । हमे नये जमाने की नई रोशनी मे जीना चाहिए । नये का स्वागत हो—जीर्ण-शीर्ण की विदाई हो ।' प्रमोद आगे कुछ और कहना चाहता था; पर मृदुला की ओर देखकर एकदम चुप हो गया ।

मृदुला बोली कुछ नही । परन्तु उसने जो तीव्र दृष्टि डाली, उसमे उपेक्षा भरी हुई थी और साथ ही ऐसे भाव प्रकट हो रहे थे कि मानो पावन देव मन्दिर मे आराध्या देव-प्रतिमा को भग्न करने में प्रयत्नशील कोई चोर पकडा गया हो । विनोद भी बात कहते तो कह गया और प्रमोद ने भी उसका समर्थन कर दिया, परन्तु उन्हे अपनी बात की तुच्छता भासित हो रही थी । वे लज्जित-से हो गये । उन्हे मृदुला की दृष्टि शूल-सी चुभ गई ।

सहसा प्रवीण बोल पड़ा—'भैया ! क्या शिक्षा, नवीनता और विनय में विरोध है ?' दोनो ने प्रवीण की ओर देखा । प्रवीण भावावेश मे बोल रहा था—'भैया ! सच कहता हूँ—जब हम नानाजी के पास जाते है और उन्हे प्रणाम करते है, तब हम अनूठे आनन्द मे भर जाते है । ऐसा लगता है कि वे आनन्द के सागर है । वे जब आशीर्वाद देते है, तब आनन्द हिलोरे लेने लगता है ! कैसा, उनका आशीर्वाद मुद्रा मे उठा हुआ मंगलमय हस्तकमल ! और कैसी उनके मुखारविंद पर चाँदनी की उज्ज्वल रेखा-सी मधुर मुसकान.. !' क्षणभर के लिये प्रवीण की आँखे पलक-पाँखो मे छिप गयी ।

तरग मे बोला—'भैया ! आप नानाजी के पास आते ही नही हो ! क्यो ? अरे ! मैं भूला, आप तो नानाजी से डरते हो न !' विनोद ने चौककर पूछा—'हमे ? हमे नानाजी से डर लगता है ? क्यो भला ?' प्रवीण ने व्यग से कहा—'वे पुराने जमाने के खण्डहर है न! इसलिये ।' प्रमोद ने उसके गाल पर चिकोटी काटते हुए कहा—'मतलव हम वहां आयेगे तो उनसे दव जाएँगे !' प्रवीण ने हँसकर कहा—'यह तो आप जाने ! मैं तो आपकी भाषा मे कह रहा था। मेरे लिये तो वे पूजनीय है ।' प्रमोद कुछ ठगा-सा बोला-'अच्छा, भाई ? लगता है कि तुम्हे, नानाजी का चेप लग गया है ।' प्रवीण ने—प्रगल्भता से कहा—'वहाँ आओगे तो आपको भी चेप लगे विना रहेगा नही ।' विनोद हारता हुआ—सा बोला—'अच्छा, वावा ! हम भी नानाजी की ज्ञान-गोष्ठी मे आएँगे । यही चाहते हो न तुम ?'

रात को आठ वजे वाद ऋषभदासजी के कमरे मे घर के सभी सदस्य उपस्थित होने का प्रयत्न करते थे और वहाँ साढे नौ-दस वजे तक स्थित रहते थे । उस समय कुछ देर तक परिवार की समस्याओ और उनके समाधान की वाते होती और फिर ज्ञान-चर्चा चलती । छोटे वच्चे भी उनके सामने अपनी समस्या ही नही रखते थे, किंतु ज्ञान-चर्चा मे भी भाग लेते थे । ऋषभदासजी प्रेम से उनकी वाते सुनते और वे समझ सके-ऐसी भाषा मे उत्तर देते थे ।

विनोद और प्रमोद सायंकाल होते ही इधर—उधर घूमने चले जाते थे और जव उन लोगो के सोने का समय होता, तव वे घर लौटते थे । अत: उन्हे ज्ञानगोष्ठी मे सम्मिलित होने का प्रसंग ही नही आया था । वस्तुत वे वहाँ जाना भी नही चाहते थे । उन्हे ज्ञानगोष्ठी का पता आते ही लग चुका था और वे इसलिये देर करके लौटते थे कि उन्हें वहाँ जाना न पडे । वे यो समझते थे कि ये सव बीते युग की वातें है और क्या जाने ये पुराने जमाने के लोग, नये जमाने

प्रवीण के चुप होते ही उसे एकदम होश आया और उसने वात सम्हालने की गरज से कहा–'प्रवीण रे! वहुत वाचाल हो गया है तू!'

प्रवीण ने अपनी अपलक वडी-वडी आँखों से वहिन की ओर देखते हुए कहा–'जीजी! आप नाराज हो रही है। पर मै भैया का अपमान थोडे ही कर रहा हूँ! आपने नही सुना! भैया ने नानाजी के सम्वन्ध मे क्या कहा था? इनकी वह वात मुझे अच्छी नही लगी। इसलिए हो सकता है, मेरे स्वर मे तीखापन आ गया हो! पर किसी का अपमान करने का अपना मन कतई नही है और सच कहता हूँ, जीजी! मुझे ऐसा लगा कि अपने ये भैया शीतल और मीठे जल मे भरपूर जलाशय के किनारे बैठे हुए प्यासे मर रहे है। मुझे दया आ गई इन पर! इन्हे यह वात वतानी थी। इसलिए कुछ कह गया। क्या बुरा किया मैने? अच्छा आप मना करती हो तो नही वोलूगा!'–यो कहते हुए प्रवीण ने खिलौने के उस वदर-सी मुद्रा वना ली, जो अपने हाथो की ऊगलियो से अपने मुँह को छिपाये हुए है। मृदुला उसकी इस मुद्रा को देखकर वरवस ही हँस पढी और विनोद प्रमोद भी हँसे विना न रह सके। जिससे वातावरण एकदम हलका हो गया। प्रमोद ने हँसते हुए कहा–'यह तो नानाजी का कट्टर भक्त वन गया है!' विनोद ने प्यार से प्रवीण को चपत लगाते हुए कहा–'कट्टर भक्त वनेगा ही, क्योकि नानाजी ने अपने हिस्से का माल भी इसे चटा दिया है!'

प्रवीण ने मुस्कान विखेरते हुए कहा–'भैया! मै अकेला खाना तो नही चाहता हूँ। लेकिन आप ठहरे नि स्पृही लोग! आपको अपने हिस्से की परवाह ही नही है! आप नानाजी के पास पहुँचते ही नही तो हम क्या करे? माल को सडाने से तो रहे!' विनोद ने कहा–'वाह रे छोरे! वात करने मे तू एक ही है!' प्रवीण फिर

है–कितनी मर्यादा है। उनके हृदय का संकोच विलीन होता जा रहा था। छोटी मामी ने मीठा व्यंग किया–'हमारे दोनो भानजे तो यहाँ मिश्री की डली के समान चुपचाप घुल रहे है।' मामी के 'घुल रहे' शब्द के उच्चारण से दोनों हस पडे। फिर प्रमोद बोला–'मामी! वातावरण से ऐसा ही लगता है कि हम भी पानी मे मिश्री की डली के समान आप में घुलमिल जायेगे।'

इसी बीच मे छोटे मामा का छोटा लड़का टिनू ऋषभदासजी की गोद मे पहुँच गया। वह उनसे पूछने लगा–दादाजी! मिश्री से पानी मीठा हो जाता है न!' 'हाँ बेटा!' टिनू ने भोलेपन से कहा–'माँ कहती है–भैया हममे घुल रहे है। भया हममे घुल जाएगे क्या? तो हम भी मीठे हो जाएगे!' टिनू की वात से सभी जोर से हँस पडे। टिनू कुछ समझ नही सका। वह आश्चर्य से दादाजी का मुख ताकने लगा। ऋपभदासजी ने उसे दुलराते हुए कहा–'टिनू बेटा! एक-दूसरे से प्यार करना, एक दूसरे के साथ भेद नही रखना यह परस्पर घुलना है। इससे हम मधुर वन जाते है।' टिनू कुछ बात समझा और कुछ नही समझा। वह बोला–'हाँ, दादाजी! मीठा अच्छा नही है। मधुर वनना अच्छा है। मीठे मे कीडियाँ आ जाती है।' फिर सवके मुख पर मुस्कान थिरक उठी। छोटी मामी ने टीनू से कहा–'टिनू! अव भैया को दादाजी से वात करने दो!' टिनू दादाजी की गोद से उतरते हुए बोला–'अच्छा, माँ! भैया रिसा गये है? भैया! वोलते क्यो नही।' फिर मुसकान की लाहर उठी।

विनोद-प्रमोद दोनो मे से कोई कुछ नही बोला। दोनो सोच रहे थे कि क्या कहे? क्या पूछे? कैसे पूछे? प्रवीण ने वात प्रारभ की–'नानाजी! इस युग मे धर्म की आवश्यकता नही रही। क्योकि विज्ञान के उदय होते ही ईश्वर मर गया और ईश्वर के साथ धर्म भी मर गया! अव धर्म की लाश

की वाते ! वस इनके पास–'पहले यो था–यों था' टाइप की पुराने जमाने की ढेर सारी वाते होगी !' और मामाजी के छोटे वच्चे भी–'दादाजी ने यो कहा था'–इस वाक्य से वात प्रारभ करके, उनकी वातो का सटीक उत्तर देते थे, तव वे नानाजी के प्रति और भी विरक्ति से भर जाते थे । फिर भी उनके मन के किसी अज्ञात कोने मे नानाजी के प्रति कौतूहल जमा हो रहा था। यो तो उन्हे नानाजी रोज मिलते थे और वे उनसे वडी प्रसन्नता से वात करते थे। वे उनसे उनकी सुख-सुविधा के विपय मे ही पूछते थे। और किसी विपय मे वे कुछ नही कहते थे। उनके शव्द नपे-तुले होते थे। पर उनके स्वर मे ऐसी मिठास रहती थी कि जो मनुष्य को सहज मे ही उनकी ओर आकर्षित कर लेती थी। उन दोनो ने भी ऐसा अनुभव किया था। लेकिन वे अपने को अत्यधिक बौद्धिक समझने के नाते उस प्रभाव को झटकार फेंकते थे। परन्तु आज प्रवीण की वातो ने उस आकर्षण को सजग ही नही किया–उसे तीव्र भी वना दिया ।

आज वे यथा समय नानाजी के कमरे में उपस्थित हो गये । सिर्फ वडे मामाजी को छोडकर सम्प्रति घर मे रहे हुए सभी सदस्य वहाँ आ चुके थे। प्रवीण उन्हे देखकर मुसकरा दिया और नानाजी से वोला–'ओहो ! नानाजी! आज तो वडे-वड़े मगरमच्छ आपके जाल में फँसने के लिये आये है !' । नानाजी ने उनके संकोच को दूर करते हुए कहा–'आओ, भैया ! वैठो।' दोनो यथास्थान वैठ गये। मृदुला ने प्रवीण मे कहा–'प्रवीण! तू भी कैसी वाते करता है ? क्या नानाजी किसी को जाल मे फाँसते है ?'प्रवीण लजाता हुआ वोला–'भूल हो गई, जीजी! वाचाल हूँ न ! नानाजी के दरवार मे यह दोष दूर हो जाएगा।' वडे मामा का लडका अभय वोला–'प्रवीण भैया सच में हमारे दादाजी वडे अच्छे है । हमारी गलतियाँ सुवार देते है।' प्रमोद और विनोद ने अनुभव किया कि नानाजी के दरवार मे कितनी मुक्तता

ऋषभदासजी की विचार-विश्लेषण की पद्धति को देखकर दोनो आश्चर्य चकित रह गये। पर विनोद ने फिर अपनी ओर से एक प्रश्न कर दिया—'नानाजी! क्या धर्म अफीम जैसा नही है? क्या लोगो को धर्म की अफीम देकर, उनका शोषण नही किया गया?' ऋषभदासजी के मुख पर चिरपरिचित मुस्कान खेल रही थी। वे सहजता से बोले—'तुम्हारी बात कुछ अशो मे ठीक है। धर्म के नशे मे उन्मत्त बनाकर लोगो का शोषण ही नही किया गया—उन्हे लड़ाया भी गया है। उनका कत्ले-आम भी किया गया है। धर्म की ओट मे अनेक पाप भी किये गये है। परन्तु इसमे हम धर्म को दोष नही दे सकते है। इसमे दोष है, मनुष्य की प्रकृति का—उसकी दृष्टि का। पश्चिम के जिस विचारक ने धर्म को अफीम की सज्ञा देकर, उस पर जो दोषारोपण किये है, उसी विचारक का वाद क्या आज उसी रूप मे परिणत नही कर लिया गया है? वह भी कमोबेश उन्ही दोषो का शिकार नही हो रहा है?'

ऋषभदासजी के इस कथन से वे यह समझ गये कि मामाजी आदि उन्हे इतना आदर क्यो देते है। अब उनकी तर्क-वितर्क करने की वृत्ति ही समाप्त हो गई—मात्र जिज्ञासा ही शेष रह गई। वे सविनय बोले—'नानाजी? अब हमे भी आपकी कक्षा में भरती कर लो! इतने दिन हम आपसे दूर रहे, इसका हमे अफसोस है!' नानाजी ने प्रेम से कहा—'वत्स! कोई बात नही। जब जागे तभी सबेरा। बेटा! मै तुम्हें गुरुदेव की दृष्टान्त-माला के माध्यम से कुछ ज्ञान की बाते बताऊगा। उससे तुम्हारा मनोरजन भी होगा और ज्ञान की वृद्धि भी होगी।

●

ढोने का युग नही रहा–ऐसा कई लोग कहते है। यह वात सत्य है क्या?' ऋषभदासजी ने दोनो की ओर देखा। दोनो की प्रगल्भता न जाने कहाँ चली गई। उनके देह मे विद्युत–सी दौड़ गई। नानाजी की प्रश्नात्मक दृष्टि के उत्तर मे विनोद को बोलना पडा–'हाँ, नानाजी ! आधुनिक विचारो के दर्पण मे धर्म का युग बीत गया हो–ऐसा लगता है।' ऋषभ दास जी ने उनपर वात्सल्य भरी दृष्टि डाली और वे मधुर स्वर में वोले–'वेटा ! धर्मयुग की आवश्यकता नही–आत्मा की आवश्यकता है और वह भी जाग्रत आत्मा को ही धर्म की आवश्यकता प्रतीत होती है। अत धर्म कभी भी समूचे युग पर नही छा सका। तो फिर धर्म का कोई युग होना और उसका वीत जाना–यह वात ही गलत है। हाँ, जैन सिद्धान्त मे क्षेत्र की अपेक्षा से धर्म के युग का विचार किया गया है। पर वह वात तुम्हारे प्रश्न की परिधि मे नही आती है।'

विनोद और प्रमोद को यह विचारधारा ही नई लगी। उन्हें प्रवीण की वात की सचाई का प्रमाण मिल गया कि नानाजी का ज्ञान वहुत गहरा है। उन्ह अनुभव हुआ कि नानाजी के एक-दो वाक्यो ने ही उनकी तर्क परम्परा के उठने के अवसर को ही समाप्त कर दिया। फिर भी प्रमोद वोला–'तो फिर नानाजी ! ये हमारे वडे-बूढ़े लोग ऐसा क्यो कहते है कि यह तो जमाना ही पाप का है, धरम का जमाना रहा ही नही !' नानाजी ने सीधे वैठकर उत्तर दिया–'तुम्हारे और उनके कथन मे जो अन्तर है, उसे तुम स्वय ही समझ सकते हो। क्या वे एक विचारक की दृष्टि से वह वात कहते है? वस्तुत वे उस कथन मे अपना क्षोभ मात्र ही प्रकट करते है। क्या वे राम-रावण, कृष्ण-कस आदि का एक ही युग मे होना नही मानते है? क्या वे नरमेध आदि हिंसक यज्ञो को और चार्वाक दर्शन को इसी युग की देन मानते है? नही। अव तुम्ही समझ लो कि तुम्हारे और उनके कथन मे क्या अन्तर है?

हूँ और जिनवाणी सरस्वती को हर्षपूर्वक मनाता हूँ । भव्यजनों के लिये मै (सूर्यमुनि) यह 'दृष्टान्तमाला' नाम का सुन्दर ग्रंथ वनाता हूँ ।

इस कवित्त का आशय निम्नलिखित रूप से भी लिया जा सकता है–

'मै मगल रूप मे जिनवाणी-सरस्वती की आराधना करता हूँ। जिनवाणी जिनेश्वर तीर्थंकर भगवान के मुख से निःसृत होती है। अतः भगवान महावीर देव के मुख से जिनवाणी उत्पन्न हुई। गणधरदेवो ने उसे सूत्ररूप मे निवद्ध किया। आर्य सुधर्म स्वामी ने आर्य जम्बू अणगार को जिनवाणी प्रदान की। वह क्रमशः परम्परा से पूज्य श्री धर्मदासजी म को प्राप्त हुई और वही क्रम से पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री नन्दलालजी म की कृपा से मुझे प्राप्त हुई है। मै उनको और जिनवाणी को नमस्कार करके–स्मरण करके, 'दृष्टॉत-माला' नाम का यह ग्रन्थ वनाता हूँ ।'

विवेचन–प्रवीण वोला–'इसमे वहुत-सी वाते हमारी समझ में नही आई है ? नानाजी ! क्या इस विपय मे हम पूछ सकते है ? ऋषभदासजी ने वात्सल्यपूर्वक कहा–'पूछ क्यों नही सकते हो, वत्स ! तुम्हे समझाने के लिये ही तो मैने यह विपय छेडा है ।'

तीर्थंकर

प्रवीण ने पूछा–'नानाजी ! जैन कुल मे जन्म लेने के कारण 'तीर्थंकर' शव्द अनेक वार सुना है। परन्तु इस शब्द का अर्थ क्या है–यह हम नही जानते है ?' विनोद और प्रमोद भी आज वड़े जिज्ञासु दिखाई दे रहे थे । नानाजी ने उत्तर दिया–'तीर्थंकर शव्द दो शव्दो मे मिलकर वना है–'तीर्थ' और 'कर' अर्थात् तीर्थंकर शव्द का अर्थ है–'तीर्थ को करनेवाले–तीर्थ के निर्माता' ।

३.

दृष्टांतमाला

मंगलाचरण

(कवित्त)

जिनराज तीर्थनाथ, सोहे अतिशय साथ,
अमल-पद-पद्म-में निज शीस नाऊँ मैं,
शासनेश ज्ञातपुत्र, गणेश कारक सूत्र,
आद्याचार्य श्री सुधर्म, हिये पधराऊँ मैं,

धर्मदास गण ताज, पूज्य नंद गुरुराज,
वागीश्वरी जिनवाणी, सहर्ष मनाऊँ मैं,
धरो सुज्ञ ! निज कंठ, भव्य-जन-हित ग्रंथ,
सुन्दर दृष्टान्तमाला, 'सूर्य' ये बनाऊं मैं ।।१।।

जिनेश्वर तीर्थंकर भगवान अतिशय से युक्त सुशोभित होते है। उन दोषो से रहित प्रभु के चरण कमलो मे अपने सिर को झुकाता हूँ। वर्तमान धर्मशासन के अधिपति ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर देव, सूत्रो के कर्त्ता गणधर देव (इन्द्रिभूतिजी आदि) और इस शासन के प्रथम आचार्य आर्य श्री सुधर्म स्वामी को अपने हृदय मे स्मरण करता हूँ। वर्तमान सम्प्रदायो के मुकुट के समान श्री धर्मदासजी म और मेरे गुरुदेव पूज्य श्री नन्दलालजी म. का भी स्मरण करता

भावोत्कर्ष को प्राप्त होते है, वे तीर्थकरत्व के योग्य शुभ कर्मो का बंध करते है । यथा–

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य तेसिं, अभिक्ख-नाणोवओगेय ।।

दंसण-विणय-आवस्सए य सीलव्वए निरइयारे ।
खणलव-तव-च्चियाए वेयावच्चे समाहीए ।।

अपुव्व-नाण-ग्गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।

(१) अरिहत, (२) सिद्ध, (३) प्रवचन, (४) गुरु, (५)स्थविर, (६)वहुश्रुत=वहुत से शास्त्रो के पारगामी, (७)तपस्वी इनके प्रति वत्सलता आदि, (८)सतत ज्ञानोपयोग, (९)दर्शन=सम्यक्त्व, (१०)विनय, (११)आवश्यक क्रिया, (१२)शीलव्रत-इनमें अतिचार रहित अवस्था, (१३) प्रशस्त ध्यान, (१४) तप, (१५) त्याग, (१६) वैयावृत्य=सयमियो की सेवा, (१७) समाधि, (१८) अपूर्व ज्ञान-ग्रहण, (१९) श्रुतभक्ति, और (२०)प्रवचन =जिनशासन की प्रभावना–इन बीस कारणो से जीव तीर्थकरत्व प्राप्त करता है । ज्ञानसूत्र अ ८

प्रमोद–'इस समय यहाॅ कोई तीर्थकर है क्या ?' ऋषभदासजी–'नही !' प्रमोद–'इस समय यहाॅ कोई तीर्थंकर पैदा नही हो सकते हैं क्या ?' ऋषभदासजी–'तीर्थकर भगवान सम्प्रति इस क्षेत्र मे उत्पन्न नही हो सकते है । क्योकि उनके प्रादुर्भाव या उतने आत्मिक विकास के योग्य काल इस क्षेत्र मे नही है ।' विनोद–'क्या आत्म-विकास में भी काल अपेक्षित है ?' ऋषभदासजी–'हाँ, प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे पाॅच समवायो–कारणो की अपेक्षा रहती है–

तीर्थ किसे कहते है ?' 'आचार्य देव पू श्री माधवमुनिजी म. फरमाते है–

जिस कर तिरे तीर्थ है सोई

'जिसके द्वारा मसार-सागर से तैरकर पार हो जाते है–वह भाव ही तीर्थ है । यथा–

तरावे भव से–वो तीरथ हे
तप-संजम मोटो तीरथ हे
धर्मीजन साँचो तीरथ हे-
सेवा जात्रा-थान बतायो रे !
यूँ केवाया थानक वारा

शव्द के रूढ अर्थ की अपेक्षा से नदी, पर्वत आदि को भी तीर्थ कहा जाता है । परन्तु ये स्थावर तीर्थ है । इनमें भवसागर से तैराने की शक्ति नही दिखलाई देती है । इसलिए अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म ही वडा तीर्थ है और धर्म के आराधक भी उपचार से तीर्थ है । इसलिये साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ है । इन चार तीर्थो के निर्माता को तीर्थंकर कहते है ।

अभय–'क्या भगवान तीर्थंकर के रूप मे अवतार लेते है ?' ऋषभदासजी 'हमे ऐसे किसी ईश्वर मे विश्वास नही है, जो अवतार लेता हो । जैन-धर्म अवतार-वादी नही है । ईश्वर-वादी-अवतार-वाद मे विश्वास रखते है । उनके मतानुसार ईश्वर सृष्टि का सरक्षण करने-लीला करने के लिए मनुष्य के रूप मे जन्म लेता है । परन्तु जैनदर्शन के अनुसार आत्मा ही अपना विकास करते हुए परमात्मा वन जाती है । ऐसे ही विकसित आत्माएँ तीर्थंकर देव है ।'

विनोद-'क्या कोई भी आत्मा तीर्थंकर वन सकते है ?' ऋषभदासजी–'जो आत्मा-विकास की प्रक्रिया से गुजरते हुए विशिष्ट

भावोत्कर्ष को प्राप्त होते है, वे तीर्थंकरत्व के योग्य शुभ कर्मो का बंध करते है। यथा–

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य तेसिं, अभिक्ख-नाणोवओगेय ॥

दंसण-विणय-आवस्सए य सीलव्वए निरइयारे ।
खणलव-तव-च्चियाए वेयावच्चे समाहीए ॥

अपुव्व-नाण-ग्गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥

(१) अरिहंत, (२) सिद्ध, (३) प्रवचन, (४) गुरु, (५)स्थविर, (६)वहुश्रुत=वहुत से शास्त्रो के पारगामी, (७)तपस्वी इनके प्रति वत्सलता आदि, (८)सतत ज्ञानोपयोग, (९)दर्शन=सम्यक्त्व, (१०)विनय, (११)आवश्यक क्रिया, (१२)शीलव्रत-इनमे अतिचार रहित अवस्था, (१३) प्रशस्त ध्यान, (१४) तप, (१५) त्याग, (१६) वैयावृत्य=सयमियों की सेवा, (१७) समाधि, (१८) अपूर्व ज्ञान-ग्रहण, (१९) श्रुतभक्ति, और (२०)प्रवचन =जिनशासन की प्रभावना–इन बीस कारणो से जीव तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है। ज्ञानसूत्र अ ८

प्रमोद–'इस समय यहाँ कोई तीर्थंकर है क्या ?' ऋषभदासजी–'नही।' प्रमोद–'इस समय यहाँ कोई तीर्थंकर पैदा नही हो सकते है क्या ?' ऋषभदासजी–'तीर्थंकर भगवान सम्प्रति इस क्षेत्र मे उत्पन्न नही हो सकते है। क्योकि उनके प्रादुर्भाव या उतने आत्मिक विकास के योग्य काल इस क्षेत्र मे नही है।' विनोद–'क्या आत्म-विकास में भी काल अपेक्षित है ?' ऋषभदासजी–'हाँ, प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे पाँच समवायो–कारणो की अपेक्षा रहती है–

कालो सहाव–नियई, पुव्वकयं पुरिस-कारयं चेव ।
समवाए सम्मत्तं, एगंते होइ मिच्छत्तं ।।

–काल, स्वभाव, नियति–होनहार, पूर्वकृत और पुरुषार्थ–इन पाँचो कारणो के समवाय अर्थात् कार्योत्पत्ति मे पाँचो की सहायकता को मानना सम्यक् है और किसी एक को ही कारण मानना मिथ्या है।

'जिस प्रकार अमुक अन्न अमुक काल मे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान का जन्म भी अमुक काल मे ही होता है।'

विनोद–'काल मे योग्यता-अयोग्यता कैसी ?' ऋषभ–'सुख और दु ख के उतार-चढाव के अनुसार काल की योग्यता-अयोग्यता बनती है। अकेले सुख या अकेले दु.ख के काल मे तीर्थंकर भगवान का जन्म नही होता है, किन्तु सुख-दु ख के मिश्रित काल मे जन्म होता है। यथा––

'भौतिक सुख की अति में जमता, जन का अन्तर-भाव प्रवाह ।
दुख की अति में बौना हो जन, रहती आकुलता की छाँह ।।
सिमटे गुण सारे जड़ अति में, रहे कहाँ तब भाव अथाह ?
प्रखर प्रभजन, शून्य अनिल में, हो कैसे तुम-सा तमदाह ?
सुख-दुख की धारा में जनके, बाहर-भीतर जागे द्वन्द ।
निकट-दूर हो होते रहते, जन बनकर परछंद-स्वछंद ।।
प्रबल रगड़ में ही तो प्रगटे, भव्य भयान्तक ज्योति ललाम ।
लोकोत्तम लोकेश्वर स्वामी, अनुपम तारक हे जितकाम !'

वृद्धावस्था मे भी ऋषभदासजी के स्वर के माधुर्य और सगीत गान की कुशलता मे विनोद और प्रमोद आश्चर्य-चकित थे।

मृदुला–'अभी तक कितने तीर्थंकर हो चुके है ?' ऋषभदासजी–'अनन्त ।' 'भविष्य मे भी तीर्थंकर होगे क्या ?' 'हाँ ! अनन्त ।' 'अभी भी तीर्थंकर है क्या ?' 'हाँ, बीस । कम से कम बीस तीर्थंकर विद्यमान रहते है, जिन्हें विहरमान (विचरनेवाले) कहा जाता है । कम से कम एक सौ साठ और एक सौ सत्तर तीर्थंकर विभिन्न क्षेत्रो मे एक ही समय मे विचरण कर सकते है ।'

प्रमोद आश्चर्य से बोला–'नानाजी ! आपने थोडी देर पहले तो कहा था कि यहाँ कोई तीर्थंकर नही है ?' 'हाँ, भाई ! यहाँ अर्थात् भरतक्षेत्र मे कोई तीर्थंकर नही है । पर अन्य क्षेत्रो मे है ।'

मृदुला बोली–'नानाजी ! हमने तो सुना था कि तीर्थंकर चौबीस हुए है ?' 'चौबीस तीर्थंकर तो काल की अमुक अवधि के विषय मे कहे जाते है । ऐसी अनन्त चौवीसियाँ हो गई है ।' प्रवीण बोला–'जीजी ! दादीजी रोज सुबह बोलते तो है–

'नमुं अनंत चौवीसी, ऋषभादिक महावीर' । 'इसका अर्थ आज समझ मे आया ।' मृदुला बोली–'हाँ, ठीक कहते हो तुम ।'

जिनराज

प्रवीण–'तीर्थंकर भगवान को 'जिनराज' क्यो कहा है ?' ऋषभ-'जिन' शब्द का अर्थ है–'राग-द्वेष को जीतनेवाला' । तीर्थंकर भगवान के सिवाय अन्य साधक भी राग-द्वेष का जय कर सकते है । तीर्थंकर भगवान विशिष्ट पुण्य के अधिपति होते है । अतः वे देवेन्द्र आदि के द्वारा पूजित होते है । इस कारण उन्हें 'जिनो के राजा=जिनराज' या 'जिनो मे ईश्वर=जिनेश्वर' या 'जिनो मे इन्द्र=जिनेन्द्र' कहते है । अर्थात् राग-द्वेष रूप आन्तरिक शत्रुओ को जीतने वालों मे प्रमुख । तीर्थंकर भगवान साधना करके–गृहत्याग कर मन, वचन और काया की अशुभ क्रिया के त्यागपूर्वक तपश्चर्या करके, जहाँ तक मोह का क्षय नही कर देते है, वहाँ तक वे सही रूप से (भाव)

तीर्थंकर नही हो सकते है। इसलिये यहाँ तीर्थंकर भगवान का 'जिनराज' विशेषण लगाया गया है।'

कुछ क्षण चुप रहने के वाद ऋषभदासजी पुनः वोले—"जिनराज' शब्द तीर्थंकर भगवान की आप्तता को भी सूचित करता है।' विनोद—'आप्त किसे कहते है ?' ऋषभदासजी—'वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता को आप्त कहते है। राग-द्वेष के क्षय के विना यथार्थ ज्ञाता नही हो सकते है अर्थात् सर्वज्ञ नही वन सकते है और सर्वज्ञता के विना यथार्थ वक्ता नही वन सकते है। इसलिये 'जिनराज' अर्थात् प्रामाणिक वक्ता। 'जिनराज' शब्द का तीसरा अर्थ यह ध्वनित होता है कि जो आत्मा समस्त दोषो से मुक्त हो। देव के अठारह दोप है। जो उन अठारह दोषो से मुक्त हो—वे ही हमारे आराध्य देव हो सकते है। जिनराज अठारह दोषों से मुक्त होते है। यथा—

हास्यादि मदन वध द्वय, अन्तराय अज्ञान।
अव्रत नींद मिथ्यात्व को, जीते जिन भगवान॥

१ हास्य, २ रति—असयम मे रुचि, ३. अरति—सयम मे अरुचि, ४ भय, ५ शोक, ६ घृणा, ७ काम-विकार, ८ राग, ९. द्वेष, १० दानान्तराय, ११. लाभान्तराय, १२ भोगान्तराय, १३. उपभोगान्तराय, १४ वीर्यान्तराय, १५ अज्ञान, १६. अव्रत—हिंसादि, १७ निद्रा और १८ मिथ्यात्व—इन अठारह दोषों को जिन भगवान जीत लेते है।

'दूसरे' प्रकार से अठारह दोष निम्नलिखित रूप से वताये है—

अन्नाण-कोह-मय-माण-लोह-माया रई य अरई य।
निद्दा-सोय-अलिय वयण चोरिया मच्छर-भया य॥
पाणिवह-पेमकीला-पसंग-हासा य जस्स ए दोसा।
अट्ठारस वि पणट्ठा नमामि देवाहिदेवं तं॥

१. अज्ञान, २. क्रोध, ३. मद, ४. मान, ५ लोभ, ६. माया;, ७. रति, ८ अरति, ९ निद्रा, १० शोक, ११. झूठ, १२ चोरी, १३. मात्सर्य. १४. भय, १५. हिसा, १६ प्रेम, १७ क्रीडा-प्रसग और १८ हास्य—ये अठारह दोष जिनके विलकुल नष्ट हो गये है, उन देवाधिदेव को मै नमस्कार करता हूँ।'

विनोद—'क्रोध आदि के द्वारा ही चेतना की अभिव्यक्ति होती है। इनके अभाव में चेतना का अस्तित्व कैसे रह सकता है?' ऋषभ-दासजी ने हँसते हुए कहा—'क्रोध आदि से चेतना की विकृत स्थिति की अभिव्यक्ति होती है। विकार के नष्ट होने पर वस्तु विनष्ट नही, शुद्ध होती है। इसी प्रकार चेतना के विकार विनष्ट होने पर चेतना भी विशुद्ध होती है। जिनेश्वर भगवान भी शुद्ध चैतन्य है—

निर्मल चेतन जिनवर प्यारे,
विभु अविकारी भाव तुम्हारे।
अगणित गुण-गंभीर, प्रतापी।
जागो मुझमें वीर—जय०॥१॥

'मै तुम्हे पूछता हूँ कि लहरो से जल का अस्तित्व है या जल से लहरो का?' 'जल के कारण लहरे है, लहरों के कारण जल नही।' 'तो लहरों के अभाव मे जल का अस्तित्व नही रहता है क्या?' 'रहता है।' 'वस, ऐसे ही चैतन्य का भी क्रोध आदि के अभाव मे अस्तित्व रह सकता है।'

अतिशय

प्रमोद—'अतिशय किसे कहते है?' ऋषभदासजी ने उत्तर दिया—'शास्त्रो मे अतिशय के लिये 'बुद्धाइसेस' शब्द आया है। जिसका अर्थ है—'ज्ञानी भगवान की श्रेष्ठता'। सामान्यजनो की अपेक्षा

तीर्थंकर भगवान के विशिष्ट प्रभाव को अतिशय या अतिशेष कहा जाता है। ऐसे प्रमुख अतिशय चार है–(१) अपायापगम अतिशय=समस्त दोषो से रहितता, (२) ज्ञानातिशय=सर्वज्ञता–सर्वदर्शिता, (३) वचनातिशय=सर्वभाषाओ मे परिणत होने वाली भाषा, और (४) पूजातिशय=चौसठ इन्द्रो, देवो, मनुष्यो आदि के द्वारा जिनकी पूजा की जाती है।

शास्त्रो मे तीर्थंकर भगवान के चौतीस अतिशय इस प्रकार बताये गये है–(१) केश, दाढी-मूँछ, रोम और नख की अवृद्धिशीलता, (२) शरीर की निरोगता-निर्लेपता, (३) गौदुग्ध के समान धवल रक्त-मास, (४) कमल की सुगंध के समान सुवासित श्वासोच्छ्वास, (५) अदृश्य रूप से आहार और नीहार=मल-मूत्र का विसर्जन, (६) आकाशगत धर्मचक्र, (७) आकाशगत तीन छत्र, (८) आकाशगत श्रेष्ठ श्वेत चामर, (९) पादपीठ सहित अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक सिंहासन, (१०) हजारो छोटी-छोटी पताकाओ से युक्त आकाशगत इन्द्रध्वज, (११) जहाँ-जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजमान होते है, वहाँ-वहाँ तत्काल सघन पत्र-पुष्प से आच्छादित और छत्र, ध्वज, घट तथा पताका से युक्त अशोकवृक्ष हो जाता है, (१२) पीठ के पीछे मुकुट के स्थान मे दशो दिशाओ मे प्रकाश करने वाला तेजोमण्डल-भामडल होता है, (१३) जहाँ तीर्थंकर भगवान विराज-मान होते है, वहाँ भूमिभाग सम और रमणीय हो जाता है, (१४) कंटक अधोमुख हो जाते है, (१५) विपरीत ऋतुएँ भी सुखद स्पर्श-वाली हो जाती है, (१६) संवर्तक वायु से एक योजन तक भूमि शुद्ध हो जाती है, (१७) सुगधित अचित्त जल की वृष्टि से ऊपर उठी हुई रज जम जाती है, (१८) ऊर्ध्वमुख अचित्त पचवर्ण पुष्पो की घुटने प्रमाण वृष्टि होती है, (१९) प्रतिकूल शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नष्ट हो जाते है, (२०) अनुकूल शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध

का आविर्भाव होता है (२१) उपदेश के समय भगवान का एक योजन–चार कोश तक पहुँचनेवाला हृदयहारी स्वर होता है, (२२) भगवान अर्धमागधी भाषा (लोक भाषा) मे उपदेश देते है, (२३) भगवान की भाषा सभी आर्य, अनार्य, द्विपद–चतुष्पद पशु, पक्षी, सरीसृप आदि की अपनी-अपनी हितकारी कल्याणकारी और सुखकारी भाषा मे परिणत हो जाती है, (२४) पहले के बंधे हुए वैरवाले देव, असुर, नागकुमार, सुपर्ण-कुमार, यक्ष आदि भगवान के चरण-कमल मे प्रशान्त चित्त और विकसित हृदयवाले होकर उपदेश सुनते है, (२५)अन्य मतवाले भी वहाँ आने पर भगवान को वन्दना करते है, (२६) भगवान के चरणो मे आते ही अन्य मतवादी निरुत्तर हो जाते है, (२७) भगवान जहाँ-जहाँ विचरण करते है, वहाँ-वहाँ पच्चीस-पच्चीस योजन (सौ-सौ कोसो) तक ईति–उपद्रव करने वाले मूषकादि प्राणी, (२८) मारि प्राणान्तक हैजा आदि रोग, (२९) स्वचक्र भय–अपने राजा आदि की ओर से होनेवाले उपद्रव, (३०) परचक्र भय–अन्य राजा के सैन्य से होने वाले उपद्रव, (३१) अतिवृष्टि, (३२) अनावृष्टि तथा (३३) दुर्भिक्ष नही होता है और (३४) भगवान के आने से पूर्व उत्पन्न हुए औत्पातिक=रुधिरादि की वृष्टि के निमित्त से होने वाले रोग जल्दी ही नष्ट हो जाते है। इनमे से चार २,३,४, और ५ अतिशय जन्म से होते है तथा उन्नीस देवकृत और ग्यारह घाति कर्मो के क्षय से होते है। अन्य मत से २१वे से ३४वे अतिशय तक तथा भामण्डल कर्म के क्षय से उत्पन्न और शेष अतिशय देवकृत होते है।'

प्रमोद–'इनमे से कुछ अतिशय बुद्धिगम्य होते है, परन्तु कुछ नही।' ऋषभदासजी–'बुद्धि जब वर्तमान में दृष्ट पदार्थों के अस्तित्व की आग्रही बन जाती है, तब अतीत मे उत्पन्न कार्य-कारण की

परम्परा युक्त, परन्तु सम्प्रति अदृष्ट कार्य को ग्रहण नही करती है। परन्तु जब बुद्धि पूर्वाग्रहो से मुक्त हो जाती है, तब वह सरलता से सत्य को ग्रहण कर सकती है। जो बुद्धि सत्यान्वेषिणी होती है, वह कभी ऐसा प्रतिपादन नही कर सकती है, कि जो वर्तमान मे नही है या जो अभी हमे बुद्धिग्राह्य नही है, वह कभी नही था और कभी नही हो सकेगा। वह तो कार्य के कारणों का अन्वेषण करने लग जाएगी और उन कारणो से कार्य की सिद्धि होती होगी तो उन्हे अवश्य स्वीकार करेगी। बस, ऐसी ही बात है–इन अतिशयो के बारे मे भी। कोई मनुष्य ऐसे वातावरण वाले देश मे उत्पन्न हुआ हो, जहाँ न गेहूँ पक सकता है और न देखने को मिल सकता है। उसे यदि कोई गेहूँ के बारे मे बताये तो उसकी बुद्धि न तो गेहूँ के स्वरूप को ही ग्रहण कर सकती है और न गेहूँ के अस्तित्व को ही स्वीकार कर सकती है। बस ऐसी ही दशा हमारी है।' प्रमोदसन्तुष्ट होता हुआ बोला–'नानाजी! आपकी बात बहुत कुछ समझ में आ रही है।' ऋषभदास समुसकान बोले–'हाँ! समझ मे क्यों न आयेगी? अवश्य आयेगी। अपने बुद्धि पर लगे हुए 'प्रवेश-निषेधाज्ञा' का साइनबोर्ड हटा दो, बस।'

विनोद कृतज्ञता से बोला–'वह तो हट चुका है। आपकी कृपा से जिज्ञासा बढ रही है।'

शासनेश

प्रवीण–'आपने पहले बताया था कि भगवान महावीर प्रभु ज्ञातृवशीय क्षत्रियकुल मे उत्पन्न हुए थे। इसलिये उन्हे ज्ञातपुत्र कहा जाता है। परन्तु भगवान महावीर स्वामी तो राज्यपद का त्यागकर अकिंचन अनगार बन गये थे, फिर भी उन्हे शासनेश क्यो कहा गया है?'

ऋषभदासजी ने चिर परिचित मुसकान के साथ मधुर वचनो से कहा–'प्रवीण ! तुमने अच्छी जिज्ञासा की । भगवान महावीर देव अनगार होते हुए भी आध्यात्मिक जगत के 'शासनेश' सम्राट् थे और घरवारी जीव सचमुच मे इस जगत का शासनेश नही हो सकता है। जो वाह्य जगत के सम्राट बनने की धुनवाला होता है, वह आध्यात्मिक जगत मे रक होता है, तो भला वह वहाँ का सम्राट कैसे हो सकता है। क्योंकि उसके भीतर अभाव का वहुत वडा शून्य होता है, जिसे वह वाह्य पदार्थो से भरना चाहता है। जवकि आध्यात्मिक जगत मे प्रवेश करने वाले का यह दृढ विश्वास होता है कि बाह्य पदार्थो की चाह भीतर के शून्य की वृद्धि करती है। अतः वह वाह्य पदार्थों को हेय समझता है। तभी वह आध्यात्मिकता के प्रवेश-द्वार पर खड़ा हो सकता है। भगवान महावीरदेव तो अपरिग्रह भाव-निर्ग्रन्थता के उच्च शिखर पर विराजमान थे और उनकी छत्र-छाया मे अनेको जीव आत्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये साधना मे रत थे। इसीलिये उन्हे 'शासनेश' कहा गया है।

दूसरी वात, जैनदर्शन के अनुसार कुछ क्षेत्रो मे, काल सीधी रेखा-सी गति करता है और किन्ही क्षेत्रो मे चक्राकार। अपने इस क्षेत्र मे काल चक्राकार गति करता है। इसलिये उसे कालचक्र 'अर्थात् कालरूपी पहिया, कहते है। कालचक्र के दो विभाग होते है और प्रत्येक विभाग में छह-छह आरे होते है। यथा–(१) सुषम-सुषम, (२) सुषम, (३) सुषम-दु.षम, (४) दु·षम-सुषम, (५) दु.षम, और (६) दु षम-दु षम। इस अर्ध कालचक्र को अवसर्पिणी काल अर्थात् सुखादि के उत्थान से अवनति की ओर गतिशील काल कहा गया है और शेष अर्ध कालचक्र को उत्सर्पिणी काल अर्थात् अवनति से उन्नति की ओर गतिशील काल। इसमें छह आरे उल्टे क्रम से

होते है । यथा–(७) दु:षम-दु:षम, (८) दु:षम, (९) दु:षम-सुषम सुषम, (१०) सुषम-दु:षम, (११) सुषम, और (१२) सुषम-सुषम।'

विनोद बीच मे ही बोल उठा–'ऐसी कल्पना क्यो की गई है ? ऋषभदासजी–'विनोद ! यह कल्पना नही है। वास्तविकता यह है कि किसी क्षेत्र मे जब पुद्गल अत्यधिक स्निग्धता से युक्त होते है, उस समय उनकी गति मद होती है और उस समय शरीर-सुख, आयु, ऊँचाई आदि भाव अधिक होते है। फिर अति स्निग्ध पुद्गल पुन: शनै: शनै: रूक्षता की ओर गति करते है, तदनुसार सुख, आयु आदि मे हीनता आती जाती है और जब पुद्गलों मे अत्यधिक रूक्षता आ जाती है, 'तब उनकी गति भी अत्यधिक तीव्र हो जाती है। अत. उस समय शरीर छोटे, आयु, सुख आदि की कमी हो जाती है। रूक्षता से पुन स्निग्धता की ओर पुद्गल गमन करते है, तब उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है। इस प्रकार काल-चक्र की प्रक्रिया चलती रहती है। अस्तु, इनमें अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे मे और उत्सर्पिणी काल के चौथे आरे में एक-एक तीर्थंकर तथा अवसर्पिणी काल के चौथे आरे मे और उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे मे तेईस-तेईस तीर्थंकर होते है। जब तक जिन तीर्थंकर के उपदेश के अनुसार चलने वाले अनुयायी होते है, तब तक उन तीर्थंकर का 'शासन' होता है और इसी दृष्टि से उन्हे 'शासनेश' कहा जाता है।'

विनोद–'एक कालार्ध मे चौवीस ही तीर्थंकर क्यो होते है ?' कम ज्यादा क्यो नही होते है ?' ऋषभदासजी–'लोक मे कुछ भाव नियत होते है। जैसे छह ऋतुएँ, दो अयन, पाँच इन्द्रियाँ आदि नियत है, वैसे ही अमुक कालावधि मे चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती आदि की संख्या भी नियत है। अन्य आचार्य ने ऐसा भी समाधान दिया है कि तीर्थंकरों के उत्पन्न होने योग्य ग्रह-नक्षत्रो

की स्थिति, इस कालावधि मे चौबीस वार ही आती है, इसलिये तीर्थंकर चौवीस ही होते है। या ऐसा ही लोक-स्वभाव है—यह भी कहा जा सकता है।'

क्या कोई ईश्वर नही है ?

प्रमोद—'आपने जो बाते वतलाई है, उससे ऐसा अनुमान होता है कि यह ससार किसी की सृष्टि नही है ?' क्या यह वात सत्य है ?' ऋषभदासजी—'बेटा ! तुम्हारा अनुमान सत्य है। जैनदर्शन न तो सृष्टि-निर्माता ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है और न ससार को किसी की सृष्टि ही मानता है।' विनोद और प्रमोद दोनो आश्चर्य से एक साथ बोल पडे—'क्या कहा—ईश्वर नही है ? ससार किसी की सृष्टि नही है ?' ऋषभदासजी—हा, बेटा ! इसमे आश्चर्य की कोई वात नही है।'

विनोद—'हमने तो यही सुना है कि प्रत्येक पदार्थ ईश्वर के वनाये हुए है। कोई भी कार्य कर्त्ता के विना नही हो सकता। कार्य होगा तो उसका कर्त्ता अवश्य होगा। यह संसार एक कार्य है। इसलिये उसका कोई न कोई कर्त्ता है और वही ईश्वर है।' ऋषभदासजी—'तुमने कभी बादलो को इकट्ठे होते हुए देखा होगा। उनमे हाथी-घोडे आदि आकार वन जाते है। उन्हे कौन वनाता है ?' 'कोई भी नही। स्वत ही वन जाते है।' 'इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य का कर्त्ता होता ही है—ऐसा नही है। इसी प्रकार ससार का भी कोई कर्त्ता नही है। यदि हम ऐसा माने कि विना कर्त्ता के कोई कार्य नही होता है, तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है ?' प्रमोद आश्चर्य से वोला—'नानाजी ! आप कैसा प्रश्न कर रहे है ? हमने तो ऐसा जाना है कि जो सवका कारण है, उसका कोई कर्त्ता कैसे होगा ? ईश्वर तो अनादि है।' ऋषभदासजी—'जो किसी का कारण है, वह

किसी का कार्य भी होगा ही। जैसे वस्त्र का कारण सूत है तो सूत रुई का कार्य है या वस्त्र का कर्त्ता जुलाहा है तो जुलाहा उसके माता-पिता की सन्तान है। फिर कोई अनादि कारण कैसे हुआ। मानलो, ईश्वर अनादि है तो जग अनादि क्यो नही है ?'

विनोद—'हमे जगत् के कार्य व्यवस्थित दिखाई देते है। यदि कोई नियामक नही हो तो इन कार्यो की व्यवस्था कैसे रह सकती है? ऐसा ईश्वरवादी कहते है।' 'मै तुम्हे पूछता हूँ कि तुम्हे ससार मे कोई अव्यवस्था नही दिखाई देती है ? क्या सज्जन दुखी और दुर्जन सुखी नही होते है ? क्या किसी के हाथ पैरो मे छह-छह अगुलियाँ नही होती ? ऐसी कई विषमताएँ है ससार मे ! अत. ससार का कर्त्ता ईश्वर है—यह मानना अनुचित है।'

विनोद—'दुष्टो का निग्रह और सज्जनो का उपकार करने वाला ईश्वर है ? कोई पाप करके नरक मे जाना नही चाहता है। ईश्वर नही हो तो वे जीव नरक मे कैसे जाएँगे ?' 'पैदा करने वाला ईश्वर ही है न ! फिर वह दुष्टो को पैदा ही क्यो करता है ? क्या पाप करने मे जीव स्वतत्र है ? ईश्वर तो उन्हे पाप नही करवाता है ? यदि ईश्वर से प्रेरित होकर वह पाप करता है, तो उसके दण्ड का भागी वह जीव क्यो वने ? यदि जीव पाप करने मे स्वतन्त्र है तो ईश्वर सर्वज्ञ है—सर्व शक्तिमान होते हुए भी उसे पाप करने से पहले ही क्यो नही रोक देता है ! जो ईश्वर किसी को नरक मे भेजता है और किसी को स्वर्ग मे, तो वह ईश्वर है क्या ? किसी को नरक मे भेजने से उसकी दयालुता मे वट्टा नही लगता ? तुम्हारे कथन का दूसरा अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नही मानने पर नैतिकता की नीव हिल जाएगी। पर मुझे लगता है कि ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता मानने से नैतिकता की नीव खोखली हो जाती है। 'ईश्वर ने नर वनाया और ईश्वर ने ही

नारी ! फिर ब्रह्मचर्य पालना ईश्वर की अवहेलना करना है। ऐसे ही हिंसा, झूठ आदि मे भी छुट ले ली जाएगी।'

क्या जैन नास्तिक है ?

विनोद–'नानाजी ! आप ऐसा क्यों बोलते है ! आप धर्मात्मा है। ऐसे वाक्य तो नास्तिक के मुँह मे ही शोभा दे सकते है ? मेरा एक मित्र कहता था कि जैन नास्तिक होते है। क्योकि मैने ईश्वर का निषेध करने के लिये कुछ ऐसे ही तर्क दिये थे। आज मुझे आश्चर्य हो रहा है कि मेरे मित्र के तर्क मै आपके समक्ष रख रहा हूँ। और आप एक धर्मात्मा उनका वैसे ही प्रतितर्कों से खण्डन कर रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि आपकी भाषा मे सयम है। तो क्या जैन नास्तिक होते है ?'

ऋषभदासजी–'यह तो ब्राह्मण-संस्कृति का पक्षपात है। निरीश्वर वादी सांख्य आस्तिक दर्शन है और निरीश्वरवादी जैन दर्शन नास्तिक ! वेदों की अवहेलना करने वाला वेदान्त आस्तिक दर्शन है और वेद की प्रमाणता को अस्वीकार करने वाला जैन दर्शन नास्तिक ! कैसा विश्लेषण है यह ।' 'तो क्या ईश्वर की सत्ता को नही मानने वाले अन्य दर्शन भी भारतवर्ष मे हुए है ?' 'हाँ। निरीश्वर सांख्य, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नही मानते है। वस्तुत. परलोक, कर्म, कर्मफल आदि मे विश्वास रखनेवाला आस्तिक होता है और इस दृष्टि से जैन धर्म आस्तिक है और ईश्वर-कर्तृत्व और वेद-प्रामाण्य का निषेध करने के कारण नास्तिक !'

प्रमोद–'हमे यह जानकर आश्चर्य होता है कि आधुनिक विचारक ही ईश्वर की सत्ता मे अविश्वासी नही है। किन्तु प्राचीन दिग्गज धर्म भी ईश्वर की सत्ता का दृढ़तापूर्वक निषेध करते थे।

किसी विचारक की यह बात सही नही है कि ईश्वर की मृत्यु के साथ ही धर्म भी मर जाएगा ! यहाँ तो ईश्वर को नही मानने वाले भी कट्टर धार्मिक है ।'

'परमात्मा का स्मरण क्यो करते है ।'

प्रवीण—'ईश्वर को तो नही मानते, परन्तु परमात्मा को तो मानते है !' विनोद—'हाँ' नानाजी ! हमने जैनो को परमेश्वर, जिनेश्वर आदि शब्दो का प्रयोग करते सुना है । तो क्या परमात्मा ही परमेश्वर है ?' 'हाँ ! हम परमात्मा को ही परमेश्वर कहते है । जैन धर्म अवतार (ऊपर से-दिव्यधाम से शक्तियो के अवतरण की मान्यता) वादी नही है । वह तो उत्क्रान्ति-वादी (आत्मा की विशुद्धि से उत्कृष्टता की-विशिष्ट शक्तियों की अभिव्यक्ति की मान्यता वाला) है । अत हमारी दृष्टि मे विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा है और वे ही ईश्वर है । परन्तु वे सृष्टि के कर्ता-हर्ता नही है ।'

प्रवीण—'नानाजी ! यदि परमात्मा हमारे लिये कुछ नही करते है तो हम उनके नाम का स्मरण क्यो करते है ?' ऋषभदासजी—'नाम का स्मरण किसकी क्रिया है ।' 'हमारी' 'क्रिया का फल किसको मिलता है ?' 'कर्त्ता को ।' 'जैसे कोई नीबू का नाम लेता है तो मुँह मे पानी भर आता है न !' 'हाँ' 'तो इसी प्रकार प्रभु का स्मरण करने से हमारी शक्तियाँ जाग्रत हो जाती है । नीबू का नाम लेना या सुनना अपनी ही क्रिया है और उसका फल अपने को ही मिलता है । बस यही बात भगवत्स्मरण के विषय मे समझना चाहिये । यथा—

आस्तां तवस्तुति-कथा मनसोऽप्यगम्या,
नामापि ते त्वयि परं कुरुतेऽनुरागम् ।
जम्बीर-मस्तु खलु दूरतरेऽपि देव !
नामापि तस्य कुरुते रसनां रसालाम् ।।

—वर्धमान भक्ता० ११

'श्री मानतुगाचार्य ने इस वात का समाधान देते आदिनाथ स्तोत्र के नवमे श्लोक मे कहा है–'आपकी सकथा-नाम कीर्तन मे जगत् की वुराइयाँ इस प्रकार दूर हो जाती है', जिस प्रकार कि सूर्य की किरणों के द्वारा तालाव मे स्थित कमल खिल जाते है।'

'आचार्य प्रवर कुमुदचन्द्रजी ने' पार्श्वनाथ स्तोत्र' के छट्टे श्लोक मे इस प्रकार समाधान दिया है–'आपका नाम जगत से इस प्रकार रक्षा करना है, जैसे ग्रीष्म ऋतु मे थके हुए पथिक को पद्मसरोवर की ओर मे आनेवाला वायु, उसके ताप को दूर करके प्रसन्न करता है।'

मृदुला वोली–'नानाजी ! हमे कई वार ऐसा अनुभव होता है कि हम भगवान् का स्मरण करने से उपद्रवो से वच गये है। तो क्या यह ठीक नही है ?' ऋषभदासजी–'यह वात गलत नही है। ऐसा अनुभव हो सकता है। जैसे कोई चोर किसी के पशुओ को चुराकर ले जा रहा हो और उसी समय सूर्योदय हो गया हो तो वे चोर उन पशुओ को छोडकर भाग जाते है। यद्यपि सूर्य चोरो को भगाने का किञ्चित् भी प्रयत्न नही करता है, फिर भी उसका प्रकाशमान स्वरूप ही ऐसा है कि चोरो को भागना ही पड़ता है। इसी प्रकार हृदय मे भगवद्-दर्शन से उपद्रव भाग जाते है। यथा–

मुच्यन्त एव मनुजा सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रै-रुपद्रव-शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरित-तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशव प्रपलाय मानै : ।।

–कल्याणमंदिर० ९

मृदुला–'यदि भगवान कर्ता-हर्ता नही है तो हम '**तित्थयरा मे पसीयतु**' '**सिद्धा ! सिद्धि मम दिसंतु**' 'तारो प्रभु ! तारो' आदि

क्यो कहते है ?' 'जैन दर्शन अनेकान्त वादी है। जैन सिद्धान्त मे प्रत्येक वाक्य के पीछे अपेक्षा विशेष रहती है। **'तित्थयरा मे पमी-यंतु'** आदि वाक्य भी किसी अपेक्षा से कहे गये है। रवर की नली मे हवा भर दी जाने पर, वह पानी मे तैरती है। यद्यपि हवा उसे जवर्दस्ती नही तैराती है। परन्तु उसमे हवा के भर जाने से तैरने का गुण आ जाता है। इसी प्रकार भक्तगण हृदय मे भगवान् का ध्यान करने से ससार-सागर मे तैरकर पार हो जाते है। इसीलिये भगवान को तारक कहा जाता है–

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त. ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेषनून–
मन्तर्गतस्य मरुत· स किलानुभावः ॥

—कल्याण० १०

'आचार्यो ने यह भी कहा है कि' आपमे अभेद वुद्धि मे ध्यान करने पर आत्मा आपके समान ही प्रभाव वाला हो जाता है' और 'हे जिनेश ! आपके ध्यान से भव्यात्मा क्षण भर मे देह को छोडकर परमात्मदशा को प्राप्त कर लेता है।' इसी अपेक्षा से परमात्मा के स्मरण, स्तवन, ध्यानादि करने का कहा जाता है और इसी अपेक्षा से निमित्त कारण मे कर्तृत्व का आरोपण करके उन्हे कर्ता कहा जाता है।

गणेश

अभय वोला–'दादाजी ! आपने इस कवित्त मे गाया–**'गणेश कारक सूत्र'**, तो यहाँ 'गणेश' शव्द से क्या प्रयोजन है ?' ऋषभदासजी–"गणेश शव्द गण और ईश इन दो शव्दो से मिल कर वना है अर्थात् गण के अधि-

पति को गणेश कहते है । गणपति, गणधर, गणनाथ आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है। जैनधर्म मे 'गणधर' का वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधुओ के गण के धारक को गणधर कहते है । यहाँ 'गणेश' शब्द तीर्थंकर भगवान के प्रमुख शिष्यो के लिए प्रयुक्त हुआ है।। तीर्थंकर भगवान के समान ही गणधर अपने पूर्वभव मे विशिष्ट आराधना के द्वारा प्रकृष्ट पुण्य कर्म (गणधर नाम कर्म) का बध करते है और गणधर के भव मे तीर्थंकर भगवान के प्रथम उपदेश को सुनते ही उस विशिष्ट शुभ कर्म का उदय हो जाता है। तव वे दीक्षित वनकर भगवान के मुखकमल से तीन वाक्यो–**उप्पन्ने इवा**–उत्पन्न होता है, '**विगमे इवा**'–नाश होता है और '**धुवे इवा**'–ध्रुव रहता है––को सुन कर, तत्त्वो के समस्त रहस्य को प्राप्त कर लेते है। फिर वे आगमो की 'सूत्र रूप मे रचना करते है। इसी अपेक्षा से उन्हे सूत्रकार कहा गया है। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनमे इन्द्रभूति जी गौतम प्रमुख थे।'

आद्याचार्य श्री सुधर्म

प्रमोद–'इस पद्य मे 'सुधर्म' का स्मरण किया गया है। वे 'सुधर्म' कौन थे ?' 'आर्य सुधर्म स्वामी भगवान महावीर देव के पचम गणधर थे।' प्रवीण–'जिन्हे सुधर्मास्वामी कहते है, वे ही न !' 'हाँ ! सुधर्मन् शब्द का प्रथमा के एक वचन मे 'सुधर्मा' रूप वनता है। परन्तु वास्तव मे 'सुधर्मन्' शब्द के रूप मे 'सुधर्मा' शब्द प्रचलित नही है। लोगो ने अपने मुख से सुख मे उच्चारण हो सके, इसलिये 'सुधर्म' शब्द को 'सुधर्मा' शब्द वना लिया है। क्योकि प्राकृत भाषा मे 'अज्ज सुहम्मे' शब्द ही उपलब्ध होता है और इसकी सस्कृतच्छाया 'आर्य-सुधर्म' होती है। इसलिये 'सुधर्मस्वामी' शब्द ही ठीक है।' 'इन्हे आद्याचार्य क्यो कहा है ? आद्याचार्य तो गौतम स्वामी होने चाहिये ?' 'हाँ, प्रथम आचार्य गौतम स्वामी ही होते। परन्तु भगवान महावीर-

देव के निर्वाण के दिन ही भगवान इन्द्र भूतिजी गौतम को केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया था। सर्वज्ञ को आचार्यपद प्रदान नही किया जाता है। इसलिये पचम गणधर आर्य सुधर्मस्वामी ही प्रथम आचार्य बनाये गये। तथा भगवान् महावीरदेव के निर्वाण के पूर्व ही अन्य नव गणधरो का निर्वाण हो गया था।'

प्रमोद–'गणधरो के स्मरण मे इनका स्मरण गर्भित हो ही गया था। फिर इनका अलग से स्मरण क्यो किया गया है?' 'यह कारण तो प्रमुख है ही, कि वे प्रथम आचार्य थे। दूसरा कारण, सम्प्रति जितनी भी साधु परम्पराएँ है, वे सव उन्ही से नि सृत है। तीसरा कारण, वर्तमान मे उपलब्ध अगसूत्र तथा कतिपय अन्य सूत्र आर्य सुधर्म स्वामी और उनके परम वैराग्यमूर्ति शिष्य आर्य जम्बू स्वामी के सवाद रूप मे ही है। इसलिये हम पर उनका असीम उपकार है।'

धर्मदास गण-ताज

प्रमोद–'ये धर्मदासजी कौन थे?' 'श्री धर्मदासजी म महान् प्रभावशाली आचार्य हुए है। इनका समय विक्रम सवत् १७०१ से १७७२-३ के बीच रहा है। इनका शिष्य-परिवार बहुत विशाल था। स्थानकवासी जैनो की बहुत-सी सम्प्रदाये इन के शिष्यो से ही निकली है।' मृदुला–'क्या ये वे ही धर्मदासजी महाराज है, जिन्होने धारा नगरी मे अनशन से चलित अपने शिष्य के स्थान पर अनशन करके, प्रतिज्ञा की वेदी पर अपने प्राणो को न्यौछावर किया था?' 'हाँ! उन्ही धर्मदासजी महाराज का यहाँ स्मरण किया गया है। उन्हे गणताज इसलिये कहा गया है कि वे वाईस समुदायो के प्रधान आचार्य थे।' विनोद–'मेरी दादीजी कहा करती है कि मै धर्मदासजी म की सम्प्रदाय की हूँ। मेरा घर धर्मदासजी म का अनुयायी है, तो क्या उन्ही धर्मदासजी म का स्मरण किया गया है?' 'हाँ, वत्स!'

पूज्य नंद गुरुराज

प्रवीण—'मेरे एक काकी माँ है। वे कभी-कभी एक भजन गाती है। जिसकी स्थायी कडी है—'वन्दूँ पूज्य नदलाल। मुझ घर वरते मगल माल।' उसमे एक कडी आती है—

संवत् गुन्नीस्से गुन्नीस जनम प्रमाण।
चालीस में पाली है जिनवर-आण॥

यह कडी मुझे याद रह गई। क्या उन्ही नदलालजी म का इस कवित्त मे उल्लेख है ?' 'हाँ, उन्ही का उल्लेख है। इनका जन्म खाचरोद-निवासी नगाजी (नगीनलालजी) बूवक्या ओसवाल की धर्मपत्नी अमृतावाई की कुक्षि से हुआ था। युवावस्था मे आते ही नन्दलालजी की सगाई हो गई। परन्तु इन्होने घर-कुटुम्व का महत्त्व त्याग दिया और पिता के द्वारा दीक्षा की आज्ञा नही मिलने के कारण एक वर्ष तक यों ही साधुवेश पहन कर विचरण किया। फिर माता-पिता की ओर से आज्ञा प्राप्त होने के वाद विक्रम सवत् १९४०, वैशाख शु ३ के दिन, धार मे विधिपूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण की। स १९५७, मार्गशीर्ष शु. ११ को युवाचार्य पद और स १९६३ चैत्र शु १० को इन्हे आचार्यपद प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार गुरुदेव के ये गुरुदेव थे।'

वागीश्वरी जिनवाणी

ऋषभदासजी—'जिनवाणी अर्थात् जिनेश्वरदेव के वचन अथवा जिनेश्वर भगवान के द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान। जिन-वचनो के सग्रह को निर्गन्थ-प्रवचन भी कहते है। जिनवाणी के द्वारा ही हमे जीव आदि तत्त्वो का धर्म के स्वरूप आदि का सही ज्ञान होता है। आचार्यदेव श्री माधवमुनिजी म ने जिनवाणी की स्तुति करते हुए कहा है—

दयारस से भरो जिनवानी सुहावेजी ।

मोय. प्रभुवानी सुहावे जी ॥

दोप तीस दोय करी

रहित शुद्ध सत्य खरी

निजातम गुण प्रकटावेजी ॥१॥

'जिनवाणी आठ लक्षण और पैंतीस गुणो से युक्त है । सम्यक्त्व रूपी बीज की उत्पादिका, राग-द्वेष-हारिणी, आनन्द-वृद्धिकारिणी, पाप-जाल-छेदिनी, भव-ताप-नाशिनी, स्याद्वाद-मुद्रा-धारिणी, सात नय और चार निक्षेप से युक्त यह आप्तवाणी विकथा-कषाय तजकर, सुनने पर मन-वाँछित फल की प्राप्ति होती है—ऐसा आचार्यदेव का फरमाना है । गुरुदेव ने भी जिनवाणी की स्तुति इस प्रकार की है—

जिनवाणी-रस प्याला पीजे भरी भरी रे !

पीकर के हो मतवाला भ्रमतम हरी रे !

मोक्ष-सदन यह कमला सुखकर ।

मिटे सर्व ही जन्म-मरण-जर ।

पावे पद अजरामर; जिनवाणी धरी रे ॥

× × ×

सुख-दायक कल्पवृक्ष सम, चिन्ता चूरणहार ।

भव्यन के उर-भ्रम-तम-भेदन, छेदन कर्म-कुठार ॥

निज-पर आतम सूचन को भई जिनवाणी रवि-जोत ।

भ्रमण करत भय-सरित माँहि जस मिली तिरन को पोत

जिनवर की वाणी, सुनिये चित्त आनी, प्राणी भाव से ॥

प्रवीण—'जिनवाणी को वागीश्वरी क्यो कहा है ?' 'जैन कवि जिनवाणी को ही सरस्वती मानते है ।

महामोह-विध्वंसिनी मोक्षदानी ।
नमो देवि ! वागीश्वरी जैन-वानी ॥

गुरुदेव ने जिनवाणी को जिनेश्वर के मुखकमल से निकली हुई सरस्वती कहा है। उसी भाव का अनुसरण करते हुए गुरुदेव के शिष्य ने भी कहा है—

तेरी शरण तेरी शरण, प्रवचन अम्ब ! तेरी शरण !
तू है ज्ञान की स्वामिनी, अन्तस् की अविद्या-हरण-ते०
उद्भव स्थान तेरा कमल-आनन वीर जिनका विमल....
गणधर-कण्ठ केकी मधुर, तेरा श्रेष्ठ आसन मृदुल
मानस-हंस वाहन धवल, करती चढ़कर तमस्तरण-ते०
केवल-ज्योति निर्मित अमल, सम चन्द्रिका चेतन सरल
उज्ज्वल वदन शोभित तत्त्व, है छवि-वलय चिन्तन-मनन-ते०
पुस्तक सूत्र, माला समझ, है अर्थ सुरभित नव जलज
झंकृत बीन पावन क्रिया, पुरुषार्थ-कर मे भय-हरण-
तेरी शरण तेरी शरण, देना अम्ब ! तेरी शरण ।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन रूप जिनवाणी की प्रशसा स्वय सूत्रकार महर्षि गणधर देवो ने भी इस प्रकार की है—'**इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अनुत्तरं केवलियं पडिपुन्नं नेयाउयं संसुद्ध** अर्थात् यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवली भगवान के द्वारा कथित है, परिपूर्ण है, न्यायमार्ग है और सशुद्ध है ।

'जिनवाणी की आराधना ही श्रुतधर्म है ।'

तत्त्व-त्रयी

विनोद—'श्रुतधर्म ! मतलब ?' ऋषभदासजी—'धर्म के दो अश है—ज्ञान और क्रिया । जिनवाणी के अभ्यास से सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति

होती है। अत उसका अभ्यास करना श्रुतधर्म है और तदनुमार क्रिया करना चारित्र धर्म है। इस मगलाचरण मे देव, गुरु और धर्म—इम तत्त्वत्रयी का स्मरण किया गया है।' 'सो कैसे ?' 'देव अर्थात् आराध्य अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ और धर्म केवली-प्रज्ञप्त-तत्त्व—इनको तत्त्वत्रयी कहा जाता है। इन तीनों पर श्रद्धा ही जैनत्व का मूल पाया है। अत. मगलाचरण मे 'जिनराज' से लगाकर 'ज्ञातपुत्र' पद तक देव-वन्दना, 'गणेश' पद से लगाकर 'गुरुराज' पद तक गुरु-वन्दना और 'वागीश्वरी जिनवाणी' पद मे श्रुतधर्म-वन्दना तथा 'निज शीस नाऊँ' आदि पदो के द्वारा श्रुत-चारित्र-धर्म के मूल विनय की आराधना की गई है।' 'तत्त्वत्रयी का इतना महत्त्व क्यो है ?' 'अरिहन्त पद साध्य है, गुरु पद साधक है और धर्म साधन है। इस प्रकार साध्य, साधक और साधन के विवेक रूप ही तत्त्वत्रयी है। इसीलिए इमका महत्त्व है।'

जैन किसे कहते है ?

प्रमोद—'तत्त्वत्रयी पर श्रद्धा क्यो रखना चाहिये ?' 'तत्त्वत्रयी पर श्रद्धा ही जैनत्व का मूल है।' 'नानाजी ! हमे तो जैन कहलाने मे ही लज्जा आती है !' 'क्यो ?' 'लोग जैनो से घृणा करते है। क्योंकि लोग जैनो को शोपक समझते है।' 'क्या सभी जैन लोग शोपक है ?' 'नही !' 'क्या अन्य धर्मावलम्वी शोषक नही है ?' 'है।' 'तो क्या जैन धर्म या अन्य धर्म शोपण का कारण है ?' 'नही, लोगो की स्वार्थ भरी वृत्तियाँ ही शोषण का कारण है !' 'तो फिर किसी धर्म के माथ उसका सम्वन्ध जोड देना कहाँ तक उचित है ?' 'अपनी धार्मिकता की ओट मे लोग ठगाई करते है। इसलिए लोग धर्म से भी घृणा करने लग जाते है !' 'यह वात अशत सत्य है। वस्तुत. न तो कोई अपने धर्म की दुहाई दे-देकर ठगाई करता है और न इस प्रकार लोग धोखे मे ही आ सकते है। ठगाई तो होती है अधिकतर दिखावटी नम्र,

मधुर, प्रेम भरे व हितकर व्यवहार से। जिनका अभिनय किसी भी धर्मवाला कर सकता है। पर लोग धर्मविशेष को दोष देते हैं—यह उनकी मानसिक दुर्बलता है और जो विना सोचे-समझे इस बात को स्वीकार कर लेते हैं—यह भी मानसिक दुर्बलता है। जैन कहलाना लज्जा की नही गौरव की बात है।'

प्रवीण–'जैन शब्द का अर्थ क्या है?' 'जैन अर्थात् जिन भगवान से सम्बन्धित। जो जिन भगवान् को अपने आराध्य के रूप मे स्वीकार करता है या शुद्ध तत्त्वत्रयी मे विश्वास रखता है या जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करता है या जिनत्व को लक्ष्य रूप मे मानकर, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है—उसे जैन कहते हैं—यथा—

'अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं॥

—सामाइयसुत्त।

'धारे शिर जिन-आणा-भार,
सोही जन जैनी कहलावै।

—श्रीमन्माधवाचार्य

'जिन रूप लक्ष्य'–निर्णय सम्हाल
परमात्म-मार्ग में चल विशाल;
बहिरात्म-भाव सारे विसार
जय जैन भाव, दिल! धार-धार।'

—उमेशमुनि 'अणु'

'अन्यत्र जैनत्व की परिभाषा निम्नलिखित रूप से भी बताई है—जो कर्म-स्वरूप को जानता है। शुभाशुभ कर्म के उदय होने पर हर्ष-शोक नही लाता है। जो जिनवचन को जीवन मे उतारता है।

राग-द्वेष को शत्रु समझता है। क्षमारूपी खड्ग से कर्म का विनाश करता है। जो विषय-कषाय को भव के हेतु रूप मे मानता है। दया-दान मे प्रेम धारण करता है। पर के सुख मे अपना सुख देखता है। कुवासना पर विजय प्राप्त करता है ..देव, गुरु और धर्म को द्रव्य, गुण और पर्याय से समझ कर स्मरण करता है, वही सच्चा जैन है। यथा––

सॉचो जैनी तेज गणाए, कर्म-स्वरूप जे जाणे रे।
आवे उदय शुभाशुभ ज्यारे, हर्ष-शोक तव नाणे रे ॥१॥

जीवनमां जिनवचन उतारे राग-द्वेष नेवैरी गणे।
समभावे भवसागर तरतो, क्षमा खड्ग थी कर्म हणे ॥२॥

विषय-कषाय गणे भव-कारण, दया-दान माँ प्रेम धरे
परना सुख माँ निज सुख समझे, कुवासना पर विजय करे ॥३॥

बोले स्याद्वाद शैली थी, नय-निक्षेपनुं ज्ञान लहे।
प्रभु-आज्ञा ने प्रतिपाले, निज दोषो पर गुण ने कहे ॥४॥

सेवा माँ सद्धर्म ने समजी, अर्पे प्राणो पर काजे।
जल-कमल सम रहे नित जग में, दृष्टि राखी जिनराजे ॥५॥

देव गुरु ने धर्म पिछाणे, द्रव्य-गुण-पर्याय स्मरे
'शिव' कर समकित दीप प्रकाशे, अविद्यारूपी तिमिर हरे ॥६॥

'जिनपद' 'निजपद' एक ही जानूँ
आत्म-विजय की दिल में ठानूँ
जैन बनूँ यो धीर, प्रतापी ! जागो मुझ में वीर !

ऐसा जैनत्व क्या लज्जा की बात है ?'

नमस्कार

ऋषभदासजी–'परम वन्दनीय आत्माओ को नमस्कार करना मगलरूप है। इसलिए मगलाचरण मे नमस्कार किया गया है।' प्रवीण–'शीस नाऊँ' 'हिये पधराऊँ' और 'सहर्ष मनाऊँ' ये तीनो ही नमस्कार है ?' 'हाँ ! ये नमस्कार के तीन रूप है या अग है। शीस नाऊँ–हर्ष से मस्तक झुकाता हूँ', हिये पधराऊँ–हर्ष से हृदय मे स्थापित करता हूँ और सहर्ष मनाऊँ–हर्ष के साथ अपने अहकार का विसर्जन करके, उन्हे मनाता हूँ–प्रसन्न करता हूँ। इनकी क्रमश प्रणिपात, स्मृति या ध्यान और विनय सज्ञा है। ऐसा नमस्कार जैन का नित्य कर्त्तव्य है।'

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

'इस कवित्त के अन्तिम चरण मे ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थ का उद्देश्य, ग्रन्थ के पाठको को सूचना और ग्रन्थकार का नाम आया है। इस ग्रन्थ का नाम है –दृष्टान्तमाला। इस ग्रन्थ का उद्देश्य है–'भव्यजनों-मुमुक्षुओ को वोध देना और पाठको को सूचना है–यह साधना मे उपयोगी ग्रन्थ है। इसलिये पढकर एक तरफ पटक देने योग्य नही है। परन्तु पुन पुन पढकर स्मरण रखने योग्य है और उत्तम बुद्धिमान वनकर पढना–ये वाते 'धरो सुज ! निज कठ' इस पद से सूचित की गई है। 'श्री सूर्यमुनिजी महाराज' ग्रन्थकार का नाम है।'

विनोद–'यह नाम तो मैने कही सुना है ? कौन है ये ?' 'ये अपने गुरुदेव है। इनका जन्म स १९५८ मे वैशाख सुदी पूर्णिमा के दिन आलोट ग्राम-निवासी वच्छराजजी पीपाडा की धर्मपत्नी श्री फूलकुँवर वाई की कुक्षि से हुआ और इन्होने सवत् १९६८ मे ज्येष्ठ सुदी ५ के दिन उज्जैन मे पूज्य प्रवर श्री नन्दलालजी म के श्री चरणो मे अपने पिताजी के सग दीक्षा ग्रहण की !'

विनोद आश्चर्य से बोला–'बस, दस वर्ष की आयु मे ही साधु बन गये।' 'हाँ, बालवय मे ही मुनिमार्ग पर आरूढ बन गये।' प्रमोद–'इतने छोटे बच्चे को साधु बना देना–आपको अनुचित नही लगता है, नानाजी!' ऋषभदासजी हँस पडे। वे बोले–'बेटा! तुम तो युवक हो गये हो! तुम्हे कभी साधु बनने की इच्छा होती है?' 'साधु बनने की इच्छा! और हमे हो! नानाजी! हमे तो धर्म की बाते सुनने की भी इच्छा नही होती!' 'क्यो नही होती?' 'हमे रस नही आता!' 'तो बेटा! यह समझ लो, कि बिना कुछ रस आये बच्चा भी कोई बात सुनने को तैयार नही होता है!' विनोद–'आप क्या बालदीक्षा के समर्थक है?' 'बेटा! मेरा कोई अलग दृष्टिकोण नही है। जो सिद्धान्त की दृष्टि से मान्य बात है, उसे ही मै मानता हूँ। सिद्धान्त की दृष्टि से यदि आठ वर्ष का बालक वैराग्य पूर्ण हृदयवाला हो तो उसे दीक्षा दी जा सकती है। वस्तुत दीक्षा तो योग्य पुरुष की ही होनी चाहिये। चाहे वह बालक हो या वय प्राप्त हो! बालवय मे दीक्षितो के लिये तो ज्ञानादि की आराधना के लिये बहुत अवसर रहते है। परन्तु जिनका चित्त विषयो के सेवन मे और ससार के विविध थपेडो से चलनी जैसा बन चुका है, ऐसे वय प्राप्त पुरुषो के लिये ज्ञानादि की आराधना के लिये कितना अवसर रहता है? और जिन्होंने काम-भोग के रस का अनुभव ले लिया है, उनसे काम भोग छूटना सहज है क्या?—

विरई अबंभचेरस्स, काम-भोग-रसण्णुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥

—उत्तर० १९।१९

—काम भोग के रस के ज्ञाता के द्वारा अब्रह्मचर्य का त्याग और उग्र ब्रह्मचर्यमहाव्रत का धारण करना अत्यधिक दुष्कर है।

इसीलिये आचार्यप्रवर श्री माधवमुनिजी ने बाल दीक्षितों को कोटि-कोटि धन्यवाद दिया है। क्योंकि वे विषय-सुखो के लिए भव नही खोते है—

राखे प्रतिदिन चढ़ते भाव,
पढ़ने गुनने का चित्त-चाव;
ऐसा लहि मानव-भव-दाव,
विषयन सुख के लिये न हारे।
देऊँ कोटि धन्य मै ताहि
जो बालापन संयम धारे ।।

ज्ञान स्कंध :

दृष्टि वर्ग

(भ्रम के फेरे)

मिच्छत्तं परियाणामि,
सम्मत्तं उवसंपवज्जामि ।

—मै मिथ्यात्व—अश्रद्धा, अप्रतीति और मिथ्यारुचि को जानता हूँ—उनका परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व—शुद्ध श्रद्धा, प्रतीति और रुचि को ग्रहण करता हूँ ।

—आवस्सयसुत्त

निज रूप बिन पहचान के,
मृगम्मद भरे फिरता फिरे;
गुण-आत्म के होवे प्रकट,
आता वही निज ठाम है।

—गुरुदेव

वर्धनमुनि ने कहा—'भन्ते ! मुझे मंगलाचरण का विवेचन सुनकर, बड़ा आनन्द आया। अब मेरी जिज्ञासा आगे जानने की है। आप कृपा कीजिये--आगे बताने की—' वर्धनमुनिजी ने सविनय प्रार्थना की।

भद्रमुनि ने प्रसन्नता से कहा—'आयुष्मन्। जिज्ञासा ही ज्ञान की कुंजी है। मुझे तुम्हारी जिज्ञासा की वृद्धि देखकर प्रसन्नता हुई है। इस दृष्टिवर्ग मे चार अध्याय है। जिनमे क्रमश. दृष्टिमूढता के चार भेदो का वर्णन किया गया है। प्रथम-अध्याय मे आत्ममूढता, द्वितीय अध्याय मे लोकमूढता, तृतीय अध्याय मे गुणमूढता और चौथे अध्याय मे धृष्टता का वर्णन हुआ है। अब इन अध्यायो मे ऋषभदासजी ने जो अपने दोहित्रो को बताया है सो तुम्हे बतलाता हूँ'—

४.

आत्म-मूढता

ऋषभदासजी के कमरे का वातावरण शान्त था। सभी प्रसन्न मुद्रा मे यथास्थान बैठे हुए थे। आज प्रमोद ने प्रश्न किया—'नानाजी ! आपकी कुछ दिनो की बातो से हमे ऐसा लगा कि हम अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा समझ लेते है ! वस्तु के सही स्वरूप को नही जान पाते हैं ! ऐसा क्यो होता है ?' ऋषभदासजी ने संक्षिप्त उत्तर दिया—'दृष्टि की विकृति के कारण।' इस संक्षिप्त उत्तर से किसी का भी मन सन्तुष्ट नही हुआ। प्रवीण ने तर्क किया—'हमारी दृष्टि विकृत कहाँ है ? हम हाथी आदि को उसी रूप मे देखते है। हाथी को ऊँट या ऊँट को हाथी रूप मे नही देखते है। फिर हमारी दृष्टि विकृत कैसे ?' 'यहाँ दृष्टि का अर्थ प्रतीति है, वत्स ! आँख की नजर नही। हम विकृत प्रतीति के कारण ही हाथी आदि को देखते हुए, उनके सही स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं।' इतने मे टिनू बीच मे बोल उठा—'दादाजी ! अब वारता कभी नही कहोगे !' 'कहेगे क्यो नही ? सुनो, तुम्हे भी इस कहानी मे अपने प्रश्न का समाधान पाना है।

१. अपनी गति-बात लखे सब मे

(सवैया)

जब मातने पुत्र को दण्ड दिया,
    छिपने कहीं जाय घुसा डर के;
कुछ देर मे ढूँढत बाप, पलंग-
    तले लखता उसको झुकके।
लख पुत्र कहे–'मुझ मात तुम्हें,
    कहा पीट दिया लकड़ी करके ?'
'मुनि सूर्य' कहे–'अपनी मति–
    बात लखे सब में, भ्रम में परके ।।२।।

अनिल, विनीत और विजया का लाडला बेटा था। वह उनकी पहली सन्तान था। अत उस पर प्यार की वर्षा होनी स्वाभाविक ही थी। अनिल अभी मक्खन-सा कोमल अबोध शिशु ही था। वह कुछ दिन से जिद्दी और नटखट होता जा रहा था। उसे विजया समझाती थी बडे प्यार से। परन्तु उसे जिस कार्य को करने का मना किया जाता था, वही कार्य करने के लिये उसका जी ललचा उठता था।

कोई पर्व का दिन था। दम्पत्ति की इच्छा खीर बनाने की थी। इसलिये विजया ने दूधवाले मे दूध अधिक लिया। वह दूध का बर्तन लेकर भीतर गई। वह बर्तन रखकर, दूधवाले को अतिरिक्त दूध के पैसे देने के लिये जा रही थी। उसने अनिल को पॉव उछालते हुए देखकर कहा–'देखो, कही दूध के बर्तन को लात मत लगा देना।' वह बाहर चली गई।

इधर अनिल को कौतुक सूझा। उसकी मनतरग तेज हो गई और उसने दूध के बर्तन को लात लगा ही दी। जिससे बहुत भाग दूध फर्श पर

फैल गया। जब विजया लौटी, तब उसे यह दृश्य देखकर क्रोध आ गया। उसने कहा—'कैसा ढीठ छोकरा है?' उसने आज पहली ही बार अनिल को धीमे से तमाचा मार दिया और उसे धमकाने के लिये उसने लकड़ी हाथ में ली। अनिल गाल सहलाता हुआ, वहाँ से भाग गया।

कुछ देर बाद विनोद घूमकर लौटा। उसने वहाँ अनिल को नहीं पाकर पूछा—'राजा बेटा कहाँ है?' विजया ने कुछ उपेक्षा से कहा—'राजा बेटा! बड़ा सिर पर चढ़ रहा है वह! होगा यहीं-कहीं!' विनोद को विजया का यह रूखापन अच्छा नहीं लगा। पर वह मौन रहा और बच्चे को इधर-उधर ढूंढने लगा। अनिल ने पहली ही बार मार खाई थी। माँ के रौद्र रूप से वह बहुत डर गया था। कहीं और पिटाई न हो जाय—इस भय से वह बाहर के कमरे में पलग के नीचे छिप गया था। विनोद ढूंढता हुआ उस कमरे में आया। वह कमरे में चारों ओर दृष्टि डालकर बाहर जा ही रहा था कि उसे कुछ संदेह हुआ। उसके चौकन्ने कानों को पलंग के नीचे धीमी-सी सरसराहट प्रतीत हुई। उसने पलंग के नीचे झाँककर देखा।

पलंग के नीचे अनिल सिकुड़कर बैठा हुआ था। उसने समझा कि पिताजी की भी पिटाई हो गई है। उसने मुँह पर अगुली रख ली और विनोद को चुप रहने का संकेत करने लगा। फिर फुसफुसाकर बोला—'मम्मी तो नहीं आई है?' नन्हे-नन्हे हाथों से इशारा करता हुआ पुनः बोला—'मम्मी बोत खराब है। आपको भी मारा है? आओ, आप भी छिप जाओ, बाबूजी!'

विनोद उसकी मुद्रा और चेष्टा देखकर, खिलखिलाकर हँस पड़ा वह बोल पड़ा 'वाह रे! अनिल!'

ऋषभदासजी के अन्तिम वाक्य को सुनते ही विनोद आदि भी हँस पड़े।

ऋषभदासजी कहानी का उपसहार करते हुए बोले—गुरुदेव इस कहानी के रहस्य को बतलाते हुए कहते है कि इसी प्रकार 'अपनी गति बात लखे सब मे, भ्रम मे परके' अर्थात् भ्रम मे पडा हुआ मनुष्य सब मे अपनी जैसी ही स्थिति का दर्शन करता है। क्या तुम बता सकते हो कि अनिल भ्रम मे क्यो पडा ?' प्रवीण—'भय के कारण!' विनोद ने प्रवीण का प्रतिवाद करते हुए कहा—'भय नही, अज्ञान के कारण। यदि उसमे अज्ञान नही होता तो भय उत्पन्न ही नही होता।' प्रमोद बोला—'मुझे तो लगता है कि बचपन के कारण ही उसकी ऐसी स्थिति हुई।'

ऋषभदासजी ने न्याय देते हुए कहा—'तुम तीनो की बाते सही हैं। अधिकाश जीव चारित्र्य की दृष्टि से—धर्म-दृष्टि से बाल ही है—अज्ञानी ही है और भयादि आवेशो से अभिभूत ही रहते है। जैसे बच्चा बचपन, अज्ञान और भय के कारण पिता के स्वामी, सरक्षक आदि स्वरूप को नही जान सका, वैसे ही जीव भी भावावेश की तीव्रता के कारण वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नही कर पाता है।

'आध्यात्मिक भ्रम का कारण है—चारित्रिक अशुद्धि, अज्ञान और आवेश। भ्रम के चगुल मे फँसा हुआ जीव अपने भाव-रग मे रगकर ही वस्तुओ का विचार करता है और वह स्व-पर के विषय मे मूढ हो जाता है। इस प्रकार आत्ममूढ बने हुए जीव बाह्य परिस्थितियो मे ही प्रभावित होते रहते है।'

अब तक विनोद आदि नानाजी मे काफी प्रभावित हो चुके थे और उनका सकोच भी दूर हो चुका था। आज अनायास ही उन्होने जाते हुए, पहली बार नानाजी के चरण छुए। यह देखकर प्रवीण शरारत से मुस्करा उठा और बोला—'बस दब गये न, खण्डहर से।' विनोद ने लज्जा से सकुचाते हुए कहा—'चुप! चुप!' प्रमोद ने झेप को दूर

करते हुए कहा—'न, ऐसा नही । खण्डहर मे अखूट खजाना मिल गया ।'

यह मिथ्यात्व है क्या ?

वर्धनमुनि ने भद्रमुनि से पूछा—'क्या हम इस दृष्टान्त को निम्न-लिखित रूप से नही घटा सकते है—'अनिल ससारी जीव है, जो अभी धर्म की ओर उत्सुक मात्र है। उसके पैर उछालना चमत्कार और कौतुकप्रियता है। पिता देवतत्त्व है। माता गुरुतत्त्व है और दूध धर्मतत्त्व है। जब धर्म-मार्गोन्मुख जीव कौतुकादि के कारण धर्मतत्त्व की हानि करता है, तब माता-स्वरूप गुरुदेव उसे समझाते हुए डाँटते है। जिससे उसमे आवेश के भाव भर जाते है और वह धर्म और गुरु से दूर रहता है। तब उसकी बुद्धि मे अधिक विकृति आ जाती है और देव मे भी अदेवत्व का—सरागभावो का आरोपण करने लग जाता है—'मेरा यह सोचना ठीक है क्या ?'

भद्रमुनि वर्धनमुनि के इस चिन्तन से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने वर्धनमुनि की प्रशसा करते हुए कहा—'आयुष्मन् ! तुम्हारा चिन्तन बहुत सुन्दर है।' 'भन्ते ! इसे मिथ्यात्व कह सकते है ?' 'हाँ, आयुष्मन् । मिथ्यात्वी जीव की ही ऐसी स्थिति होती है। सूयगडाग सूत्र मे भगवान ने कहा है—

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥

सूयगड १।१।२।१०

इस प्रकार कोई श्रमण—वस्तुत साधक नही है, किन्तु मिथ्या-दृष्टि है—श्रेष्ठ बुद्धि से-विवेक बुद्धि से दूर है, वे शंका न करने योग्य स्थानो (आत्म हित के कारणो) मे शका करते है अर्थात् अहितकर

होने की भावना करते है और जो शका करने योग्य स्थान (आत्मा के अहित करने वाले कारण) है, उनमे शका नही करते है अर्थात् उन्हे अपने लिये हितकर मानते है ।

दूसरी वात, अज्ञानी का चिन्तन उसे अज्ञान अन्धेरे से मुक्त नही कर पाता है । उसका अज्ञानपूर्ण चिन्तन नये अज्ञान को ही जन्म देता है । वह अपना ही त्राण नही कर पाता है–अपने आपको भी अनुशासित नही कर पाता है तो दूसरे के लिये तो कुछ करने की वात ही दूर रही । यथा–

अन्नाणियाणं वीमंसो, अण्णाणेण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कओ अन्नाणुसासिउं ।।

सूयगड १।१।२।१७

२. दृष्टि मूढ़ता और आत्ममूढ़ता के भेद

आज भी प्रमोद ने ही चर्चा प्रारम्भ की । उसने कहा–'नानाजी ! कल आपने दृष्टि-मूढता के विषय मे वतलाया था । क्या इस विपय मे कुछ विस्तार से वताने की कृपा करेगे ।' ऋपभदासजी ने कहा–'वत्स ! आगे यही विपय आ रहा है । मोह से उत्पन्न हुई विकलता को मूढता कहते है । दृप्टि या विचार से सम्वन्धित विकलता को दृप्टि-मूढता कहते है । दृप्टि-मूढता के विविध रूप है । यहाँ इसके प्रमुख चार रूप लिये गये है – (१) आत्म-मूढता, (२) लोकमूढता, (३) गुण-मूढता और (४) ढीठता । मनुष्य अपने, पराये, अपने-पराये के गुन-औगुन और सद्दृष्टि के विपय मे विचार करते हुए विवेक से विकल वन जाया करता है, उसे ही यहाँ चार दृप्टि-मूढताओ के रूप मे वताया गया है ।'

प्रवीण–'आत्म-मूढता किसे कहते है ?' 'आत्म मूढता अर्थात् अपने विपय मे विकृत प्रतीति ।' विनोद–'नानाजी ! क्या कोई अपने

विषय मे भी मूढ हो सकता है। आज दुनिया मे इतने ज्ञान-विज्ञान का विकास हो रहा है और प्रतिदिन लाखो पृष्ठो का साहित्य छप रहा है और पढा भी जा रहा है। फिर भी लोग अपने बारे मे अज्ञानी है ! आश्चर्य है, नानाजी !' 'बात ऐसी ही है बेटा। और ऐसे व्यक्तियो की सख्या अधिक है, जिन्हे अपने विषय मे सही ज्ञान नही है। अपने विषय मे (१)विपरीत प्रतीति, (२) अप्रतीति, (३) विस्मृति और (४)दोपाच्छादन-इन चार प्रकार की आत्म-मूढताओ का वर्णन इस प्रकरण मे आया है।

'अपने मे परायेपन की और पराये मे अपनेपन की प्रतीति—विपरीत-प्रतीति है.. .'

प्रमोद बोल उठा—'नानाजी ! अपने पराये का ज्ञान तो सभी को होता है। तेरा-मेरा तो जन्म से ही चल रहा है और यह भी क्या सभव है कि कोई अपने आपको ही अन्य मानने लग जाय।' 'तूतू-मैं मैं या तेरा-मेरा तो बचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु प्रधानत. विपरीत-प्रतीति ही रहती है। इसलिये जीव आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा तथा अपनेपन को परायापन और परायेपन को अपनापन समझने लग जाता है। इसी कारण टकराहटे, सघर्ष आदि होते है। गुरुदेव अगले दृष्टान्त मे इसी बात को स्पष्ट करते है। यथा—

भूले भोला भान है

(कवित्त)

जल-कुंभ मे बताशा, पड़ा एक लड़के का,
झाँक देखे, प्रतिबिंब पड़ा निज आन है;
समझा कि छिपा कोई, 'खा गया बताशा मेरा'—
लगा यों चिल्लाने, बाप आया उस थान है।

घड़े में दिखाई पड़ी, निज दाढ़ी परछाई,
बोला-'हँसी बच्चों से करता क्यों नादान है ?'
कहे 'सूर्यमुनि' ऐसे बिना ज्ञान, मोही जग
हिताहित लक्ष्य-शून्य, भोला भूले भान है ।।३।।

एक वालक रो रहा था । उसके माता-पिता अपने-अपने कार्य मे लग रहे थे । उसकी वहिन ने उसे चुप करने के लिये उसके हाथ में एक-दो वताशे दे दिये और वह भी काम मे लग गई ।

वच्चे की भुआ पानी भरकर आई । उसने हाथ का घडा आँगन मे रखा और सिर के एक घडे को हाथ मे लेकर, वह भीतर गई । इधर वच्चा एकाध वताशा खा गया था और एक वताशे को उछाल रहा था । उसका वताशा उछलकर घडे मे गिर गया । वह वताशे को ढूँढने लगा । जव वह घडे के पास गया, तव उसे घडे मे वताशा दिखाई दिया । उसने वताशा पाने के लिये घडे मे हाथ डाला । वताशा नही मिला । फिर उसने हाथ डाला । पर वताशा हाथ नही आया । पानी मे ही घुल गया, वह ।

वालक ने घड़े मे झाँका । उसे अपनी परछाँई दिखाई दी । उसने समझा कि घडे के भीतर कोई है और वही मेरा वताशा खा गया है । वह रोता हुआ चिल्लाया--'वापाजी ! यह मेरा वताशा खा गया ।' जव वह जोर से चिल्लाने लगा, तव उसका पिता झल्लाता हुआ आया और गुस्से से वोला--'कौन नालायक है ? कौन खा गया तेरा वताशा ?' वच्चे ने घड़े की ओर सकेत करते हुए कहा--'इसमे छिपा हुआ आदमी ।'

वह व्यक्ति व्यस्तता मे था और झुंझलाता हुआ आया था । उसे कुछ भान न रहा । उसने घडे मे झाँका तो अपना ही प्रतिविंव दिखाई दिया, जिसमे दाढी हिल रही थी । उसे क्रोध आ गया और वह परछाँई

को डॉटते हुए बोला—'तुम्हे लाज नही आती। वच्चे को सताते हो। दढियल हो रहे हो? फिर भी वताशा खाने का शौक है?' उसी समय उसकी वहिन पानी का घडा लेने वाहर आई। उसने यह दृश्य देखा तो वह चकित होकर बोली—'भैया! घडे मे कौन घुस गया है।? किसे डाँट रहे हो?' तव उस व्यक्ति को भान हुआ और वह अपनी मूर्खता पर एकदम हँस पडा।

ऋषभदासजी ने पूछा—'यह कहानी सुनकर तुम्हे भी हँसी आ रही होगी। तुम्हे विश्वास होता है कि कोई व्यक्ति अपनी परछॉई को ही कोई अन्य आदमी मान ले।' विनोद—'हाँ, ऐसा हो सकता है। वच्चे परछाँई को अक्सर कोई और समझ लिया करते है और वडे भी कभी-कभी बेभान होकर ऐसा समझ वेठते है।' 'ऐसा दृश्य हमे कभी-कभी ही दिखाई देता है। लेकिन अनन्त जीव अनादि से-स्व को पर और पर को स्व समझे हुए है और अपनो को पराया और पराये को अपना मान रहे है। जैसे 'अह' पद वाच्य आत्मा को 'मै' नही, परन्तु शरीर को 'मै' मानता है तथा जो जड-चैतन्य पदार्थ अपने नही है, उन्हे अपना और जो सुधर्म, सुदेव आदि पदार्थ अपने हितकर है, उन्हे पराये मानता है। यह दृष्टि विपर्यय है। उस व्यक्ति को भ्रम क्यो हुआ?' प्रमोद—'व्यस्तता से।' विनोद—'पर-सूचन से।' मृदुला—'भले ही व्यक्ति व्यस्त हो और दूसरो की ओर से मिथ्या सूचन भी हो, परन्तु जव तक व्यक्ति प्रेम, द्वेष, क्रोध, भय आदि के आवेश मे न हो, तव तक वह इतना भ्रमित नही हो सकता है।' 'प्रधान कारण तो आवेश ही है। परन्तु व्यस्तता अर्थात् प्रमाद और परसूचन अर्थात् मिथ्यात्ववासित साहित्य आदि भी गौण कारण है और चौथा कारण है अविचार। इस प्रकार जीव विपरीत प्रतीति मे फँस जाता है—अरे! अनादि काल से फँसा हुआ ही है। ससार मे प्रतिछायादि से उत्पन्न भ्रम तो क्षणिक ही होता है

परन्तु इस भ्रम का तो भागना ही कठिन है। गुरुदेव के शिष्य ने कहा है–

शंका मे जन डोल रहा है,
अपना स्थिर स्थल छोड़ रहा है।
निज में परता मोड़ रहा है,
पर से ममता जोड़ रहा है॥

विपर्यय मिथ्यात्व के भेद

वर्धनमुनि ने पूछा–'भन्ते! विपर्यय मिथ्यात्व के ये दो ही भेद है क्या– १ अपने को पर, और २ पर को 'मैं' समझना ?' भद्रमुनि– 'यह तो उपलक्षण है। मैं अर्थात् जीव, परम सुखी जीव मुक्त है, मुक्ति का उपाय धर्म, धर्म-आचरण का उपाय मार्ग और मार्ग पर सम्पूर्ण रूप से चलने वाला जीव साधु है। इनके प्रतिपक्षी है, अजीव, ससार, अधर्म, उन्मार्ग और असाधु। इनमे एक-दूसरे मे प्रतिपक्ष का बोध होना मिथ्यात्व है। यथा–

दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं जहा–

१. अधम्मे धम्म-सण्णा, २. धम्मे अधम्म सण्णा,
३. अमग्गे मग्ग-सण्णा, ४. मग्गे अमग्ग-सण्णा,
५. अजीवे जीव-सण्णा, ६. जीवेसु अजीव-सण्णा,
७. असाहूसु साहु-सण्णा, ८. साहूसु असाहु-सण्णा,
९. अमुत्तेसु मुत्त-सण्णा, १०. मुत्तेसु अमुत्त-सण्णा।

–ठा १०

'अधर्म को धर्म समझना आदि ये दस प्रकार की विपरीत प्रतीतियाँ है।' 'गुरुदेव ? मैने पच्चीस बोल और प्रतिक्रमण मे इन दस भेदो को याद किया है।'

भद्रमुनि—'गुरुदेव ने इस दृष्टान्त की शिक्षा को बताते हुए कहा है कि मोहकर्म के उदय से भोला बना हुआ जीव-जगत् आत्म-लक्ष्य से शून्य होकर, हित-अहित को और आत्मभान को भूल जाता है। इस दृष्टान्त को इस प्रकार भी घटाया जा सकता है—पिता के समान मोही जीव, बालक के समान विकृत ज्ञान, रुदन के समान सुख पाने की अभिलाषा, बहिन के समान मलिन क्रिया, बताशे के समान संसार के सुख, भुआ के समान कर्म-परिणति, घड़े के समान विघ्न-बाधाएं, बताशे के पाने के प्रयत्न के समान सुख पाने के प्रयत्न, बताशे के घुलने के समान सुख का विनष्ट होना, बच्चे की अन्य के द्वारा बताशे के खा जाने की समझ के समान अपने सुख को अन्य के द्वारा नष्ट होना समझना, अपनी परछाई को डांटने के समान अपने दोष को पराये के समझकर अन्य जनों को कोसना। बहिन (भुआ) के पुकारने पर भ्रम-निवारण के समान कर्म-परिणति के अनुकूल होने पर सम्यक् बोध पाना आदि। यह पूरा रूपक इस प्रकार जीव की विभिन्न स्थितियों को बताता है।'

३. आत्म-अप्रतीति

आज मृदुला ने चर्चा प्रारंभ करते हुए कहा—'नानाजी! कल तो आपने विपरीत प्रतीति के विषय में समझाया था। आत्म मूढता का दूसरा रूप है—अप्रतीति। अब इस विषय में आप बताइये।' 'तुम्हें यह तो ज्ञात ही होगा कि अप्रतीति का अर्थ अविश्वास होता है। आत्म-अप्रतीति अर्थात् आत्मा के विषय में अविश्वास। आत्म-अप्रतीति चार रूप में प्रकट होती है— १. अस्तित्व-निषेध, २. विभाव-अस्वीकृति, ३. स्वभाव अस्वीकृति और ४ कर्तृत्वादि-निषेध।

आत्मा नहीं है

'आत्म-अप्रतीति आत्ममूढता का पहला रूप है—आत्मा या जीव के अस्तित्व का निषेध करना . . .'

विनोद वोला—'नानाजी ! यह वात तो हमारे मन की ही आ रही है। कल से हमारे मन मे यह वात घुल रही है कि आज विज्ञान इतना समृद्ध हो गया है, फिर भी उससे आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध नही किया जा सकता है। हमने भी पहले कई वार सोचा है कि आत्मा जैसा कोई पदार्थ है ही नही ? क्योकि आत्मा होता तो हमे दिखाई देता ?'

'आयुष्मन् ! आत्मा इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता है। क्योकि आत्मा अमूर्त्त है अर्थात् आत्मा मे कोई रूपरग, गन्ध, रस या स्पर्श नही है और इन्द्रियाँ रूपादि विषयो को ही ग्रहण करती है। इसलिये इन्द्रियो से आत्मा कभी भी प्रत्यक्ष नही हो सकती है। पर मै पूछता हूँ कि तुम्हे आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव नही होता है ?'

'यह तो प्रसिद्ध वात है, नानाजी !'—प्रमोद ने कहा—'हमे तो क्या ? पर यत्रो के द्वारा भी किसी वैज्ञानिक को आत्मा दिखाई नही दी। और नानाजी ! आज का वुद्धिवादी युग है। जो वात सिद्ध नही हो, उसे हम कैसे माने ?' उस समय प्रमोद की दृष्टि वडे मामा की ओर गई। वे मद-मद मुसकरा रहे थे। अभी मामा-मामियाँ सभी श्रोता वने हुए थे। उनकी ओर से कोई भी प्रश्न नही रखा जाता था।

ऋषभदासजी मुसकराते हुए बोले—'यत्रो के द्वारा भी देखने वाली तो इन्द्रियाँ ही है न ! जो वस्तु उनके विषय से वाहर होगी, वे उन्हे यत्रो के द्वारा भी कैसे प्रत्यक्ष होगी। तुम कहते हो—आज का वुद्धिवादी युग है ! परन्तु जिसे तुम श्रद्धावादी या अधविश्वासी युग कहते हो, उस युग मे भी आत्मा के अस्तित्व के विपय मे सशय

किया गया था । आर्य इन्द्रभूतिजी गौतम के विभिन्न तर्कों का—इस विपय के अनेकविध सशयो का भगवान महावीरदेव के द्वारा समाधान किये जाने पर ही, उन्होने भगवान महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया था और इससे पहले प्रदेशी गजा ने आर्य केशिकुमार श्रमण से इस विपय मे खुलकर चर्चा की थी । वस्तुत इस आत्म-संशय की वात को लेकर, इस युग के लिये गौरव करने जैसी कोई वात नही है और सशय क्या गौरव की वस्तु है ! सशय वुद्धि की सशक्तता का नही, दुर्बलता का चिन्ह है और एक वात और जान लो कि असली वैज्ञानिक वुद्धि विज्ञान की दुहाई देकर, ज्ञान के द्वार अवरुद्ध नही करती है तथा अपनी परिधि से वाहर की वस्तु का निषेध भी नही करती है और न एक ही कसौटी पर सव पदार्थों को कसने का आग्रह ही रखती है । विविध साधनो से प्रतिफलित विविध विज्ञान की शाखाएँ —इस वात के लिये प्रमाण है । खैर, मै तो मानता हूँ कि हमे आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव है ! मान लो, तुम भोजन कर रहे हो । उस समय तुम्हे कोई पुकारता है । तुम उत्तर देते हो—मै यहाँ हूँ । भोजन कर रहा हूँ । इस पर वह पुकारने वाला कहता है कि—तुम हो या नही—इस वात मे ही सदेह है तो तुम भोजन कर रहे हो—यह वात मै कैसे मान लूँ ? ऐसा कहने वाले को तुम क्या समझोगे ?'

'सिरफिरा ।'—सव हँस पडे । 'क्यो ? ऐसा क्यो मानोगे ?' 'क्योकि मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि मै हूँ और भोजन कर रहा हूँ । मै नही होता तो मुझे भोजन का स्वाद ही कैसे आता ?' 'तो, वस, मेरा यही कहना है कि आत्मा नही होती तो इस शरीर का निर्माण ही कैसे होता ? अरे ! हमे नीद मे भी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है । नीद एक क्रिया है, भोजन के समान ही । जव हम गहरी नीद से जागते है, तव हम कहते है कि आज तो आनन्द से सोये—वढिया नीद आई । जो जीव नही होता तो यह नीद का आनन्द कैसे आता ।

गौतम--तत्कालीन महान् प्रसिद्ध पडित इन्द्रभूतिजी गौतम का सदेह इस प्रकार था–जीव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम–इन तीनो प्रमाणो मे सिद्ध नही होता है। जीव यदि होता है तो हमे घट-पट के समान दिखाई देता। जीव का अनुमान भी नही किया जा सकता है, क्योकि जिसे कभी प्रत्यक्ष मे देखा ही नही, उसका अनुमान ही कैसे हो सकता है और जो वस्तु प्रत्यक्ष नही होती है, उसका आगम क्या वर्णन करेगे और आगम एक-दूसरे के विरोधी भी तो है। बोलो, तुम्हारे सदेह से मिलता-जुलता ही सदेह है, यह, कि उससे भी तीव्र अभिव्यक्ति है ?' विनोद–'हमारे सदेह से तो यह अधिक स्पष्ट अभिव्यक्त सदेह है।' ऋषभदासजी–'अब भगवान ने इसका जो समाधान दिया वह सुनो–'गौतम ! तुम्हारा यह कथन अनुचित है। तुम्हे आत्मा प्रत्यक्ष है। यदि तुम्हे आत्मा प्रत्यक्ष नही होता तो तुम्हारा यह सदेह अभिव्यक्त हो नही हो सकता था। 'जीव है या नही'–यह सशय ज्ञान रूप है और ज्ञान ही तो आत्मा है। तुम्हारा सशय तुम्हे प्रत्यक्ष है। अत आत्मा भी तुम्हे, प्रत्यक्ष है और तीनो काल की क्रिया मे तुम्हे 'मै हूँ' यह भान अखण्डित रूप से रहता है। यह भान प्रत्यक्ष हो तो है। तथा ज्ञान, स्मृति, बुद्धि आदि आत्मा के गुण है, शरीर के नही। इन गुणो के प्रत्यक्ष होने से आत्मा प्रत्यक्ष ही है। जैसे घट के वर्ण आदि प्रत्यक्ष है तो यह भी प्रत्यक्ष है। अनुमान से भी अस्तित्व सिद्ध होता है। हम किसी कार्य को देखकर उसके कर्त्ता का अनुमान कर सकते है। जैसे घडे को देखकर, उसके कर्त्ता कुम्हार का। वैसे ही शरीर रूपी कार्य को देखकर, उसके कर्त्ता जीव का अनुमान किया जा सकता है और सर्वज्ञ-प्रज्ञप्त आगमो से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।'

मृदुला–'जैसे कत्था, चूना आदि मिलने से, उनसे विलक्षण लाल रग आ जाता है या विविध अन्नकणो को सडाने से मद्य शक्ति

पैदा हो जाती है, वैसे ही विविध पदार्थों की रासायनिक प्रक्रिया से चेतना उत्पन्न हो जाती है।' 'यह बात ठीक नही है। कत्थे आदि मे अव्यक्त रूप मे लाली रही हुई है और अन्नकणो मे भी मद्यशक्ति अव्यक्त दशा मे है। अत वही लाली और मद्यशक्ति विशेप प्रक्रिया मे प्रकट हो जाती है। किन्तु जड पदार्थो मे चेतना नही है। अपने अगो मे लाली और मद्यागो से मद्यशक्ति विलक्षण नही है। किन्तु चेतना जड पदार्थों मे विलक्षण है। कभी भी जड से चैतन्य या चैतन्य से जड उत्पन्न नही हो सकता है। दोनो का स्वभाव भिन्न है। दोनो एक नही हो सकते है। यथा–

जड-चेतन नो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काल द्वय भाव

——आत्मासिद्धि शास्त्र ५७

'इसी प्रकार आत्मा के निपेध करने वालो के भी अनेक मत है– १ चैतन्य जैसा कोई पदार्थ है नही, २ चैतन्य है, पर वह शरीर रूप ही है, ३ परलोक मे गमन करनेवाला चित्त-सतति रूप प्रवाह है, परन्तु आत्मा नही है आदि। आश्चर्य है–स्वय जीव ही अपने अस्तित्व पर शका कर रहा है–

आत्मा नी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंका नो करनार ते, अचरज एह अमाप।।

——आत्मसिद्धि शास्त्र ५८

'इस प्रकार यह आत्म-अप्रतीति का स्वरूप है।' प्रवीण–'पहले आपने इस विपय में जो दोहा कहा था, वह मुझे याद है। उससे चैतन्य की पहचान ठीक हो जाती है——

जे दृष्टा छे दृष्टि नो, जे जाणे छे रूप।
अवाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीव-स्वरूप।।

——आत्मसिद्धि ५१

विभाव-अस्वीकृति

ऋषभदासजी–'आत्ममूढता का विभाव-अस्वीकृति दूसरा रूप है। विभाव-अस्वीकृति अर्थात् अपने विकृत भाव-पाप आदि का अस्वीकार करना–अपने विकृत स्वरूप की ओर से आँखे मीच लेना...'
मृदुला–'यह हमारा विकृत रूप है और यह हमारा वास्तविक रूप है–यह हम कैसे जाने? मनुष्य अपने मुख को नही देख सकता है,–दूसरे के मुखो को ही देखता है। वह अपनी नही, दूसरो की सुन्दरता या कुरूपता को देखता है। ऐसी ही विडम्बना है आत्म-स्वरूप को देखने के विषय मे भी।'

'हाँ, भद्रे! बात तो ऐसी ही है। पर हमे आगम के माध्यम और अपने अनुभव से इस विषय मे राह निकालनी होती है। परन्तु हमे अपने प्रति अत्यधिक मोह होने के कारण हम अपने वैभाविक रूपो मे मुकर जाते है। यथा––

आपकी सुछबी रही !

(कवित्त)

तवे के-सी रंगवाली, एक बड़े घराने की,
माने मन-'मेरे जैसा रूप और नहीं है।'

तस्वीर वाले की दुकान पे गई एक दिन,
खूब गौर कर तस्वीर वो देख रही है।

एक काँच माँहि निज प्रतिबिम्ब पड़ा तब,
'रखी क्यो रे! ऐसी भद्दी'–चिल्लाकर कही है;

कहे 'सूर्य'–'अजी माई! आपकी सुछबी रही'
ज्ञान ऐसे लह्यो, निज रूप-भान भई है ॥४॥

एक वडे घराने की स्त्री थी। वहुत ही कुरूप थी, वह। उसका रग तवे-सा काला था। परन्तु वह अपने आपको रूप-सुन्दरी मानती थी। वह स्वर्णाभूषणो से सदा लक-दक रहती थी। किसी ने एक वार कह दिया—'कभी दर्पण मे अपना मुँह भी देखा था?' उसे इस वात से वहुत चिढ आई। उसने कहा—'ये दर्पण भी मेरा उपहास करने के लिए है! ये भी मुझे चिढाते है! इनकी कुछ जरूरत नही है—मेरे घर मे!' और उस दिन से घर मे एक भी दर्पण नही रहा और न किसी को वसाने दिया। यदि कोई दर्पण रखता भी तो, वहुत ही गुप्त रूप से!

एक दिन उसे विचार आया—'घर मे सजावट तो होनी चाहिये। जो घर सुन्दर सजा हुआ न हो, वह घर भी क्या है?' उसने इस हेतु सुन्दर-सुन्दर तस्वीरे खरीदने का विचार किया। उसे दूसरे किसी पर विश्वास था नही। इसलिये अपनी पसद की तस्वीरे खरीदने के लिये वह स्वय ही तस्वीरो की दुकान पर पहुँच गई। वहाँ वह अपनी पसद की तस्वीरे चुन-चुनकर एक तरफ रखने लगी।

उसकी दृष्टि अचानक ही दीवार पर लगी हुई तस्वीरो पर चली गई। उन तस्वीरो के बीच मे एक वहुत भद्दी तस्वीर दिखाई दी, उसे। वह तस्वीर उसके विलकुल सामने ही थी। वह झल्लाती हुई बोली—'आप अपने यहाँ ऐसी भद्दी तस्वीरे भी रखते है? आपने क्या समझकर यहाँ इसे लगा रखी है? तरस आता है मुझे आपकी बुद्धि पर!'

तस्वीर वाले ने जिधर देवीजी ने सकेत किया था, उधर देखा। वह मुसकरा उठा। वस्तुत वह दर्पण था और उसमे देवीजी का प्रतिविव ही गिर रहा था। वह समुसकान बोला—'अजी माई! यह उत्तम छवि आपकी ही है!' वह आश्चर्य से बोली—'मेरी छवि?'

'हाँ, जी !' वह उधर आँखे फाडकर देखने लगी। वह समझ गई कि वहाँ तस्वीर नही, दर्पण लगा था, जिसमे उसका गिरता हुआ प्रतिविव ही उसे तस्वीर होने का भ्रम पैदा कर रहा था। वह वहुत झेप गई और 'ऊँह ! वहुत वुरा काँच है यह !'—यह कहती हुई, वह वहाँ से तस्वीरे लिये विना ही चल दी।

'मृदुला ! मनुष्य अपना मुख स्वय नही देख सकता है, किन्तु दर्पण मे अपना मुँह देख सकता है, वह ! आगम हमारे लिये दर्पण के तुल्य है। गुरुदेव ने इसी वात का सकेत करते हुए कहा है—'ऐसे ज्ञान लह्यो, निज-रूप-भान भई है' अर्थात् सदागमो के अभ्यास से ज्ञान पाये तो जीव को अपने अच्छे-बुरे रूप का भान होता है। किन्तु जीव मोहोदय के कारण सच्चाई को स्वीकार नही कर पाता है।'

विभाव का अर्थ

प्रवीण—'नानाजी ! विभाव का विस्तृत अर्थ वताइये ?' 'विभाव अर्थात् पर के निमित्त से होने वाले जीव के भाव-परिणाम अथवा कर्म के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्थाएँ !' 'कर्म किसे कहते है ?' 'जीव की क्रिया के द्वारा जीव मे प्रवेश करने वाले और राग-द्वेष से सचित होने वाले अति सूक्ष्म पौद्गलिक द्रव्य को कर्म कहते है !' 'कर्म जीव मे कौनसी क्रिया से प्रविष्ट होते है ?' 'मन, वचन और काया की क्रिया से जीव मे कर्म प्रविष्ट होते है। मन आदि की क्रिया को योग कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। मद्य—नशा, विषय—शब्द आदि विषयो की प्रवृत्ति मे असाववानी, कपाय—क्रोध आदि मे बेभान हो जाना, निद्रा और विकथा—फिजूल वातो मे लीन होना प्रमाद है। छह काया की हिंसा, इन्द्रियो के विपयों और अजीव पदार्थो से अपने भावो को न हटाना—इनका त्याग-प्रत्याख्यान न करना अविरति है और जीवादि तत्त्वो या मुदेवादि

तत्त्वो के प्रति गलत श्रद्धा मिथ्यात्व है। जीव की क्रिया के पीछे इन चार प्रकार के परिणाम रहने पर अधिक लम्बे काल टिकने वाले कर्म उसमे प्रविष्ट होते है। यदि कपाय भाव तीव्र होता है तो जीव मे अशुभ कर्म प्रविष्ट होते है और कपाय भाव मद होता है तो शुभ कर्म प्रविष्ट होते है। इन्हे क्रमश आस्रव तत्त्व, पापतत्त्व और पुण्य तत्त्व कहते है और आत्मा मे कर्मो का सलग्न हो जाना वध तत्त्व कहलाता है। ये चारो तत्त्व जीव की विभाव दशा की व्याख्या करते है।' विनोद–'पुण्य भी विभाव है?' 'हॉ, क्योकि पुण्य भी कर्म है और कर्म के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्थाएं उसकी निज अवस्थाएँ नही है। इसलिये पुण्य के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्थाएँ भी विभाव ही है और 'मुछवी' शव्द से—व्यग-वचन से गुरुदेव ने इस ओर सकेत किया है।'

प्रवीण–'कर्म कहॉ से आकर आत्मा मे घुस जाते है?' 'कर्मरज अति सूक्ष्म है। वह किन्ही यन्त्रो के द्वारा भी नही जानी जा सकती है। वह कर्मरज सारे लोक मे भरी हुई है। जिस आकाश प्रदेश पर आत्मा स्थित होती है, उसी आकाश प्रदेश पर रहे हुए कर्म आत्मा मे प्रविष्ट हो जाते है। विभाव को अस्वीकृत करने पर चार तत्त्वो की अस्वीकृति होती है और कर्म की भी।'

कर्म का अस्तित्त्व

'आज कई नव विद्वान उस रूपाभिमानिनी स्त्री के समान ही कर्मजनित सुख-दु ख का अनुभव करते हुए भी—पद-पद पर कर्म और कर्मफल का साक्षात्कार करते हुए भी कर्मवाद को अस्वीकृत करते है ' विनोद बीच मे ही बोल उठा–'नानाजी! उनकी बात सत्य-सी लगती है। उनका कहना है कि कर्मवाद सामन्ती युग की देन है। शोपक वर्ग शोपण करके, सुखो का उपभोग करता था और वह शोपितो

का मुख वद करने के लिये—उनके विद्रोह को दवाने के लिये—अपने आपको सुरक्षित रखने के लिये और अपने सुखो को चिरस्थायी वनाने के लिये शोपितो से कहता था—दु खी हो तुम, तो तुम्हारे भाग्य से और मै सुखी हूँ तो मेरे भाग्य से ! इस प्रकार कर्मवाद शोषण की ढाल वनकर आया !' ऋषभदासजी कुछ देर तक हँसते रहे। फिर बोले—'बेटा ! यह अधूरा, अधकचरा और विकृत चिन्तन है । मैं तुम्हे कुछ प्रश्न पूछता हूँ, उनके उत्तर दो तो तुम्हे इस कथन की नि सारता स्वयं ही विदित हो जाएगी ! जैनधर्म मे कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के निर्माता कौन थे ?' तीर्थंकर भगवान।' 'तीर्थंकर भगवान का जन्म किस वर्ण मे होता है ?' 'क्षत्रिय वर्ण मे।' 'क्षत्रिय वर्ण शासक ही था न ! तो उस चिन्तक की वात झूठ तो नही है, नानाजी !' 'अभी तुम्हे सच-झूठ का पता लग जाएगा । तीर्थंकर भगवान ने कर्मवाद का उपदेश कव दिया ? राज्य करते हुए या राज्य के परित्याग के वाद ?' 'राज्य के परित्याग के वाद। हमने ऐसा पढा था कि जव तक उन्हे केवलज्ञान नही होता है, तव तक वे मौन रहकर तपस्या करते है।' 'विनोद ! जरा सोचो और समझो । भारतवर्ष मे जिन महापुरुषो ने कर्मवाद का उपदेश दिया था, वे परम त्यागी-परम वीतराग पुरुष थे। उन्हे न तो शोषक वर्ग के प्रति राग था और न शोपित वर्ग के प्रति द्वेप तथा उन्हे अपने सुख की चिन्ता तो थी ही नही ! ऐसे महापुरुषो पर जो-दोषारोपण करते है, उन पर मुझे दया आती है। उन महापुरुषो ने शोपक या शोषित किसी के भी पापो की वकालात नही की । उन्होने शोषको के असत्कार्यों को असत् और शोषितो के सत्कार्यों को सत् ही कहा है । उनका यह निर्भय और निष्पक्ष उद्घोष था—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति ।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवंति ।

—उववाइयसुत्त

शुभ कर्म शुभ फलवाले होते है और अशुभ कर्म अशुभ फलवाले होते है। 'इस सूत्र मे किसी की भी वकालात नही है।' आज की मनीषा आगम रूपी दर्पण मे जीव की नरक आदि अशुभ पर्यायो और देव आदि शुभ पर्यायो रूप पडे हुए उसके प्रतिविव को अस्वीकृत करती है—यह देखकर मुझे उस भद्र स्त्री की याद आ जाती है। परन्तु किसी के स्वीकार न करने से वस्तु-स्वरूप अन्यथा नही हो सकता है अर्थात् कोई कर्म-अस्तित्व स्वीकार न करे, तो कर्म का अभाव नही हो सकता है। जगत् के वैचित्र्य का समाधान कर्मवाद के विना सम्भव नही है। यथा—

सम्पत्-विपत, सुखी-दुखी, मूढ-चतुर-सुजान
नाटक कर्मनो जाणज्यो, जग-नाना-विधान
इम समकित मन थिर करो-७

'सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दु ख, मूर्खता-चतुरता, वुद्धिमत्ता आदि जगत् के इन भिन्नता से युक्त विविधरूपो का एकमात्र कारण कर्म की भिन्नता ही है। अर्थात् सच्चा वुद्धिवादी कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किये विना नही रह सकता है।

स्वभाव-अस्वीकृति

'आत्म-अप्रतीति मूढता का तीसरा रूप है—स्वभाव-अस्वीकृति। सिद्ध-स्वरूप जीव का स्वभाव है। आज का तथाकथित नवचिन्तक कहता है—न-न यह कहना ठीक नही होगा, अनादिकाल की मिथ्या वासना से वासित जीव-यह कहना ही ठीक है। अरे! 'मै' नव चिन्तन को दोष क्यों दूं? मेरे भगवान् के वताये हुए ज्ञान के अनुसार ही मुझे कहना चाहिये कि मिथ्यात्व भाव मे पडा हुआ जीव अपने सिद्ध-स्वरूप को स्वीकार नही करता है। जिससे तीन तत्त्वो की अस्वीकृति

होती है—मोक्षतत्त्व और मोक्षप्राप्ति के उपाय रूप सवर और निर्जरा तत्त्व ।'

प्रमोद–'मोक्ष किसे कहते है ?' 'जीव की सभी कर्मों से मुक्त–परम विशुद्ध दशा ।' 'सवर किसे कहते है ? ''आत्मा मे प्रविष्ट होने वाले कर्मो को रोकने वाले परिणामो-भावो को सवर कहते है । यह आस्रव से विपरीत है । सवर भी प्रमुख रूप से पाँच है—(१) सम्यक्त्व= सच्ची श्रद्धा, (२) विरति–पापो का परित्याग, (३) अप्रमाद, (४) अकपाय और (५) योग-निग्रह ।' 'निर्जरा ?' 'निर्जरा आत्मा मे वद्ध कर्मो को क्षय करने की क्रमिक प्रक्रिया को निर्जरा या तप कहते है ।' 'तप क्या उपवास करना ?' 'उपवास भी तप का एक भेद है । परन्तु उपवास करना इतना ही तप नही है । जिन-जिन वाह्य या आभ्यन्तर क्रियाओ से इच्छाओ का निरोध होता है, वे सव क्रियाएँ तप है । वे फिर उपवास, आसन, रस-त्याग, विनय, स्वाध्याय या ध्यान कुछ भी हो ।'

तत्त्व कितने है ?

प्रमोद–'नानाजी ! आपने अभी-अभी कई तत्त्वो का नाम लिया । परन्तु हम तत्त्व का जो अर्थ समझते है, उससे भिन्न अर्थ मे आपने इस शब्द का प्रयोग किया है । आपका तत्त्व से क्या अभिप्राय है ?' 'जैन' दर्शन मे 'मोक्षमार्ग मे जानने योग्य सारभूत तथ्य वातो को' तत्त्व कहा गया है ।' 'तत्त्व कितने है ?' 'तत्त्व नव है–जीव, अजीव, वंध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष । यथा—

जीवा जीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ।।

जीव आदि ये नव तथ्य-तत्त्व है ।' —उत्तर० २८।१४

'अजीव के सिवाय अन्य तत्त्वों के विषय मे कुछ वाते वताई है। पर अजीव के विपय मे कुछ भी नही वताया ?'

'प्रस्तुत विषय का अजीव तत्त्व के साथ कोई खास सवध नही था। इसलिये इस विषय मे कुछ वात नही आ सकी। पर अव प्रसग आ गया है, तो इस विपय मे भी वता दूँ। पहले क्रमश. नवतत्त्वो के लक्षण वता दूँ। जीव का लक्षण है–चेतना। जो सिद्ध और ससारी सभी जीवो मे पाया जाता है। ससारी जीव का लक्षण है–सुख-दु ख का कर्ता-भोक्ता, स्वशरीर-प्रमाण आदि। अजीव का जड, वन्ध का कर्म-जीव का दूध-पानी के समान एकमेक होना, पुण्य का सुखभोग पाप का दु.खभोग, आस्रव का आत्मा मे कर्म का प्रविष्ट होना, सवर का आत्मा मे आते हुए कर्मो को रोकना, निर्जरा का पूर्ववद्ध कर्मो को अशतः क्षय करना और मोक्ष का सर्व कर्म का आत्मा से दूर होना लक्षण है। अव अजीव के सम्वन्ध मे वतलाता हूँ—

धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय–यह पड् द्रव्यात्मक लोक है–यह सर्वदर्शी जिनेश्वरदेवो ने वताया है। —उत्तर० २८।७

जीव के सिवाय पाँच द्रव्यो के लक्षण निम्नलिखित है—

'चलन-सहायक' जानो धर्म,
'स्थिति में कारण' एक अधर्म।
'अवगाह' 'वर्तना' नभ-काल,
पुद्गल 'पूरण-गलन' विचार॥

धर्मास्तिकाय गतिशील जीव और पुद्गल को उनकी गति मे और अधर्मास्तिकाय स्थितिशील पदार्थो को उनकी स्थिति मे सहायता

देता है। आकाश पदार्थों को स्थान देता है। काल का वर्तना-बीतना लक्षण है। वह पदार्थो के पर्याय-परिवर्तन मे सहायक होता है और पुद्गल का मिलना-विखरना धर्म है--वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श लक्षण हैं। चार द्रव्य अरूपी है और पुद्गल रूपी द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य ही इन्द्रिय-गोचर होता है।'

'यह लोक-विश्लेषण अद्भुत है। हजारो वर्ष पूर्व ही इतनी वैज्ञानिक पद्धति से विचार होता था!' 'आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति तो प्रयोगो के निष्कर्ष की पद्धति है। जब कि यह साक्षात् दर्शन का निष्कर्ष है। अपना मूल विषय है--नव तत्त्वो का। तुम्हे अभी अजीव-तत्त्व के विषय मे बताया है। अन्य तत्त्वों के विषय मे सक्षेप मे पहले बता चुका हूँ। क्रमश छह तत्त्व जीव के ससारित्व का और शेष तीन तत्त्व असंसारित्व का विश्लेषण करते है। यथा--

कोऽहं, मुझ से कौन विभिन्न? फिर दोनों क्यों एक अभिन्न?
सुख-दु.ख किससे? वे क्यों आय? कब, कैसे, क्या मुक्ति सुभाय।।
इन प्रश्नों के उत्तर रूप, नव तत्त्व कहे है जिन भूप।

१ मैं कौन हूँ? २. मुझ से भिन्न मेरा प्रतिपक्षी कौन है? ३. हमारा स्वरूप भिन्न होते हुए भी हम दोनो अभिन्नवत् क्यो है? ४. सुख किस कारण होता है? ५. दु ख किसके द्वारा होता है? ६. सुख-दु.ख क्यो होता है? ७ इन सुख-दु खो के कारणो से छुटकारा कब होता है? ८. कैसे होता है; और ९ छुटकारा होने के बाद जीव की कैसी स्थिति रहती है? इन नव प्रश्नो के उत्तर के रूप मे, भगवान जिनेश्वर देव ने नव तत्त्वों का कथन किया है।

'इन तत्त्वो की यथार्थ प्रतीति नही करना ही मूढता है--मिथ्यात्व है।'

४. कर्तृत्व-निषेध

प्रमोद—'आपने अभी तक जो बाते बताई है, उससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि हमारे सुख-दु.ख के कारण हम ही हैं। क्या वंश, कुल, जाति, सामाजिक-वैषम्य आदि उनमे कारण रूप नही है ?' ऋषभदास जी—'ये सब बाह्य कारण है। इनकी अनुकूल या प्रतिकूल रूप मे प्राप्ति भी जीव की तदनुरूप योग्यता के कारण होती है। तुम्हारा प्रश्न हमारे विषय के अनुकूल ही है। आज तुम्हे आत्म-अप्रतीति के चौथे रूप कर्तृत्व-निषेध के विषय मे बतलाना है। जीव का कोई उत्तरदायित्व नही है—अपनी दु ख आदि अवस्थाओ के विषय मे। अर्थात् जीव कर्म का कर्ता नही है—यह आत्म-कर्तृत्व-निषेध अप्रतीति है। गुरुदेव ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा है—

पर की निरखे, अपनी भूल नहीं

(सवैया)

अपने इक मित्र से बात ही बात में,
बोले वकीलजी बात सुनाई;
किसका मुँह अब मै प्रात लखा,
इक पैसे की आज हुई न कमाई।
इस पे कहा मित्र ने—'आइना क्या—
तुम देखा ? प्रभात पड़ी परछांई !'
'मुनिसूर्य' कहे परकी निरखे,
अपनी नहि भूल उसे समझाई ।।५।।

एक वकील साहब थे—बडे तिकडम बाज और चलते पुरज़े। कैसे भी खोटे-खरे केस ले लेते थे। दावेदार हारे या जीते—इसमे उन्हे कोई मतलब नही था और न न्याय-अन्याय की ओर भी उनका ध्यान था। उन्हे तो बस मतलब था—पैसे मे। उन्होने काफी पूंजी जोड

ली। लोग धीरे-धीरे उनकी स्थिति को जानते गये। अत उनके पास केस भी कम आने लगे।

एक दिन आफिस मे वकील साहव सुस्त बैठे हुए थे। इतने मे उनका वचपन का मित्र वहाँ आ गया। वह वहुत दिनो मे मिला था। वकील साहव को सुस्त देखकर, उसने पूछ लिया—'क्यो जी! आज इतने सुस्त क्यो हो?' वकील साहव खिन्नता से वोले—'क्या कहूँ, दोस्त! ये दिन मनहूस-से लग रहे है। आजकल केस कम आते है! आय कम हो रही है!' मित्र ने मजाक के लहजे मे कहा—'अच्छा है, यार! खुशी मनाओ कि लोगो मे झगडे कम हो रहे है! सतयुग आ रहा है, तो थोडी हानि सहने मे क्या हर्ज है!' वकील महाशय ने उसे घूरते हुए कहा—'क्या कहते हो, तुम! अभी कहाँ से आ रहा है—सतयुग! क्या लोगो मे झगडे भी कभी कम हो सकते है! कोर्ट तो नित्यप्रति ज्यो की त्यो चल रही है। न जाने क्यो मेरे यहाँ ही केस कम आ रहे है और आज प्रात काल तो न जाने किसका मुँह देखा था, जो आज कानी कौडी की भी कमाई नही हुई है!'

मित्र, वकील साहव की आदत से परिचित था। उसने कहा—'आज सुवह मे उठते ही कही आपने दर्पण तो नही देखा था?' वस्तुत वकील साहव के शयन कक्ष मे उनकी शय्या के पास ही एक आलमारी रखी हुई थी और उसमे आदम-कद आइना लगा हुआ था, जिस पर झीना-सा पर्दा पडा रहता था। मित्र को अपने अध्ययन-काल की वात याद आ गई थी, जव वकील साहव छात्रावस्था मे प्रात शय्या छोडते ही दर्पण मे पहले अपना ही मुख देखा करते थे। यद्यपि अव वकील साहव मे वह आदत नही रही थी, तदपि आज उन्होने उठते ही दर्पण मे पहले अपना ही मुख देखा था। वकील साहव चिढ गये और तेज स्वर से बोले—'कैसी वात करते हो तुम! आखिर तुम्हारा छिछोरापन अभी तक नही गया है!'

ऋषभदासजी ने प्रमोद से पूछा—'प्रमोद! मित्र ने वकील साहब को दर्पण देखने की बात क्यों कही?' प्रमोद—'मित्र ने व्यंग किया था, नानाजी! उसका आशय यह था कि तुम्हारी हानि में दूसरे का मुख-दर्शन कैसे कारण हो सकता है? अपनी ओर देखो। अपनी हानि में आप स्वयं ही तो कारण नहीं हो?' 'ठीक समझे हो, तुम। यह बात केवल उन वकील साहब की ही नहीं है। अधिकांश जीवों की यही स्थिति है। अरे! बड़े-बड़े विद्वान् और दार्शनिक भी इस गुत्थी में उलझ गये। उसी ओर संकेत करते हुए गुरुदेव ने कहा है——

'मुनि-सूर्य' कहे——परकी निरखे,
अपनी नहि भूल रही समझाई।

'जीव को कर्त्ता नहीं माननेवाले तीन प्रकार के मनुष्य हैं——सामान्यजन, लौकिक पंडित और दार्शनिक। सामान्यजन ओघ-दृष्टि से निमित्त को ही दोष देते हैं—जीव के कर्म को नहीं। लौकिक पण्डित सामाजिक विषमता, वंशानुगत दोष, जातीय बन्धन, पदार्थों की अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि को ही महत्त्व देते हैं और दार्शनिक जन कर्म, प्रकृति, ईश्वर, नियति आदि को ही कर्ता मानते हैं—जीव को नहीं। यथा——

कर्त्ता न जीव कर्मनो, कर्मज कर्त्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥७१॥

आत्मा सदा असंगने, करे प्रकृति बंध।
अथवा ईश्वर-प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥७२॥

——आत्मसिद्धि (श्री राजचन्द्र)

'कुछ मतावलम्बी जीव को कर्म का भोक्ता ही नहीं मानते हैं। यथा——

जीव कर्म-कर्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय।
शुँ समजे जड़ कर्म के, फल परिणामी होय ।।७९।

—आत्मसिद्धि

'इस प्रकार यह कर्तृत्वादि निषेध-अप्रतीति का स्वरूप कहा गया है। इस अप्रतीति-मूढता को षट्पद या षट्-स्थान–निषेध के रूप मे भी बताया गया है। जैसे—

नास्ति नित्यो न कर्ता च, भोक्तात्मा न च निर्वृतः।
तदुपायश्च नेत्याहु-र्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ।।

मिथ्यात्व के षट् पद है। वे इस प्रकार है–(१) आत्मा नही है, (२) आत्मा नित्य नही है, (३) आत्मा कर्ता नही है, (४) आत्मा भोक्ता नही है, (५) मोक्ष नही है, और (६) मोक्ष का उपाय नही है।'

५. आत्म-विस्मृति

आत्म-मूढता का तीसरा भेद है–आत्म-विस्मृति–ऋषभदासजी ने विषय को आगे बढाते हुए कहा–'आयुष्मन्तो! कई मनीषी जन कर्मवाद पर ऐसा आरोप लगाते है कि पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति, अभाव-सद्भाव, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि को कर्माधीन बताकर, भगवान महावीर देव ने अकर्मण्यता को ही प्रश्रय दिया है?' विनोद चट बोल उठा–'हाँ, नानाजी! हमने भी ऐसा ही पढा है और यह बात सही भी लगती है!' 'यह बात तुम्हे सही लगती है? परन्तु यह सही नही है। मै तुम्हे पूछता हूँ–कर्म का कर्त्ता कौन है?' 'जीव।' 'तुम्हे यह पता नही है कि कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। अर्थात् कर्म करने से पूर्व जीव की किञ्चित स्वतन्त्रता रहती है। जैसे कि कहा है–

पर वश भी है स्व-वश भी, कर्म-पाश में जीव ।
पड़ता वश में व्यसन के, जैसे व्यसनी जीव ।।
जैसे व्यसनी जीव, व्यसन से हो जब व्याकुल ।
शनैः शनैः कर त्याग, व्यसन से मुक्त निराकुल ।।
वैसे हो जब भान—'कर्म से हा हूँ बेबस' ।
समता से अघ-नाश करे, तब नहि है पर-वश ।।
वित्त तिजोरी में भरा, श्रम बिन नहि सुख-भोग ।
सत्ता में हो कर्म 'अणु', फले न बिन उद्योग ।।

'पुरुपार्थ के विना कर्म भी नही फलता है । अर्थात् वीर्य जीव का गुण है । जीव पुरुपार्थ की ओर मे उदामीन होता है—यह जीव की भूल है, कर्मवाद की नही । जो कर्मवादी नही है, वह भी आलस्य मे पड़ा रहता है । अपने वीर्य-शक्ति या पुरुपार्थ को भूल जाना—यह आत्म-विस्मृति है । गुरुदेव फरमाते है—

पंचास्य शुद्ध चेतन, कर्मो के पंक लिपटा ।
निज भान भूल करके, पर-द्रव्य को सम्हाला;
सुख-शान्ति नाथ ! दीजे, मुझ दीन के दयाला ।

अहो ! ये मै भूल गया

(कवित्त)

एक ठाकुर रात में, आनंद से सो रहे थे,
चोर घुसे जान, ठकुरानी आ जगावे है;
तो वे सुन एकदम, चिल्लाकर बोले ऐसे,
'कोई मर्द-बच्चा हो तो मुझे आ बचावे है ।'
नारी कहे—'आप भी तो हो तो मर्द ही के बच्चे !'
ठाकुर कहे यों—'खूब याद तू दिलावे है—

ओहो ! ये मै भूल गया, लाओ ढूँढ तलवार,
सूर्य कहे-मूढ निजी-भान भूल जावे है ।।६।।

एक ठाकुर साहव थे । उनके पूर्वजो का विक्रम, औदार्य, न्याय आदि मे गौरवपूर्ण इतिहास था । वे भी थे तो वडे ही शक्तिशाली । परन्तु वे शासन का भार सेवको के कधो पर डालकर निश्चिन्त थे । उनका अधिकाश समय अपनी अति सुन्दर ठकुरानी के सग रनिवास मे ही वीतता था । उनमे स्त्रैणता घर करती जा रही थी और धीरे-धीरे वे वुजदिल वनते जा रहे थे । यह वात ठकुरानी को अच्छी नही लगती थी ।

एक दिन कारण वशात् निजी खजाने की अपार धनराशि वाहर निकाली गई थी । निधिगृह स्वच्छ करके, पूजा-विधि करने के वाद उसमे सम्पत्ति रखनी थी । यह कार्य स्वय ठाकुर-ठकुरानी को करना था । एक विश्वासी दास ही इस कार्य मे सहयोगी था । रात मे ही यह कार्य पूरा कर लेना था । परन्तु थकावट के कारण ठाकुर साहव को नीद आ गई । ठकुरानी की भी ऑखे मिच गई । दास निधिगृह मे सफाई कर रहा था । परन्तु वह भी वहाँ गाढ निद्रा मे सो गया था । खटका हुआ और ठकुरानी की नीद खुल गई । ठकुरानी परिस्थिति को भॉप गई ।

उसे शका हुई कि कोई चोर आ घुसा है । उसने ठाकुर को जगाया और फुसफुसाते हुए उन्हे सावधान किया । ठाकुर साहव ऑखे मलते हुए नीद भगा रहे थे । वे वात जानकर घवरा गये और जोर से चिल्ला पडे—'है कोई मर्द का वच्चा ? जो आये और हमे वचाये !' ठकुरानी को सकट की घडी मे भी हँसी आ गई । उसके मस्तिष्क मे विजली के वेग-से विचार कौंध गये—'ये है वहादुर वाप के वेटे !' उसने आवेश से कहा—'आप कौन है ?' ठाकुर ने आश्चर्य से हकलाते हुए कहा—

'मैं-मैंऽऽकौन हूँ अ .' ठकुरानी एक-एक शब्द पर जोर देती हुई बोली-आप ? आप भी तो मर्द ही के बच्चे हो ! फिर यह कायरता कैसी ?' ठाकुर एकदम जोश मे आ गये और बोले-'अरे हाँ ! यह तो मै भूल ही गया। ठीक याद दिलाई तुमने ! लाओ मेरी तलवार ! अभी चोरो को छट्ठी का दूध याद आ जाएगा।' ठाकुर साहब शय्या से कूद पडे और लाठी लेकर, जिधर कोई दिखाई दे रहा था उधर दौडे ।

आवाज आई-'शान्त होइए, हुजूर !' ठाकुर साहब ने आवाज पहचान ली। यह आवाज उस विश्वासी दास की ही थी। ठाकुर साहब स्वस्थ हुए। दास कह रहा था-'हुजूर ! यह ऐसा गुप्त स्थान है कि यहाँ तक चोर नही पहुँच सकते है ' ठाकुर साहब ने पूछा-'तो तुमने यह चोर जैसा स्वाँग क्यो बना रखा है ?' 'आपके सोये हुए शौर्य को जगाने के लिये। क्योकि जो शक्तिशाली हो, वही इस गुप्त खजाने का स्वामी बन सकता है। आप अपने शौर्य को भूले हुए थे-विस्मृति के गर्त मे पडे हुए थे। मेरे पूर्वजो ने इस खजाने की रक्षा की है। अतीत मे उन्होने भी गद्दीधरो के सोये हुए शौर्य को जगाया था। मैने भी अपने पूर्वजो के आदेशानुसार अपना कर्त्तव्य बजाया।'

ऋषभदासजी-'इस प्रकार मोह मे पडा हुआ जीव अपना भान भूल जाता है। अपने आत्म-वैभव और उसके सरक्षको को, वह भूल ही जाता है-मोह-विकार के कारण। जो अपने बल को भूल जाता है-वह अपने सहायको को भूले इसमे आश्चर्य ही क्या है ? जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते हुए गुरुदेव ने आत्म-कहानी इस प्रकार कही है-

भ्रमण करत संसार, अनन्त ही काल भयो मुझको,
रही कुमति घट छाय, ताहि से जान्यो ना तुझको ।
कुगुरु-कुदेव दिल आनी,
जड को मै चेतन मानी ।

पारस मणि को छोर ! लियो हा ! कंकर करमें धारी,
जय-जय जगदाधार ! जगत गुरु ! सुनिये अरज हमारी।'

मृदुला—नानाजी ! इस कथा को रूपक मानकर, इस प्रकार घटाया जा सकता है क्या ? जैसे—ठाकुर है—अनन्त शक्तिमान जीव। ठकुरानी है सुमति। स्त्रैणता है विषयासक्ति। वुजदिली है—साधना से भय। दास है विचार। चोर है क्रोधादि। मोह है नीद। वैभव है—ज्ञानादि गुण। वैभव को वाहर निकालना है—रत्नत्रय आराधना। निधि है, अन्तस्तल-अन्तरात्मा। ठकुरानी का प्रवोधन है शास्त्राभ्यास। निज शक्ति स्मृति—सम्यग्दर्शन। जोश आना—वीर्य-स्फुरण। शय्या-त्याग—चारित्र-ग्रहण। लाठी लेना—तपश्चरण। विचार की निद्रा-अविचार दशा मे आत्मा और सुमति भी सो जाते है।

यह वात सुनकर ऋषभदासजी वडे प्रसन्न हुए। वे उसकी प्रशसा करते हुए बोले—'तुम वडी बुद्धिमती हो। तुमने रूपक को यथातथ्य और साँगोपाङ्ग घटाया है।'

विनोद—'इस कवित्त मे 'मूढ' शब्द का अर्थ मूर्ख ही है या और कुछ ?' 'यहाँ 'मूढ' शब्द का अर्थ भ्रमित है। क्रोधादि कषायो की चार अवस्थाएँ है—मद, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम। तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व के उदय मे फँसा हुआ जीव मूढ है। ऐसे जीव आत्मभान से शून्य होते है। उन्हे तत्त्व के प्रति अरुचि, तुच्छता का भाव, वक्रवृत्ति और अतत्त्व के प्रति लगाव तथा मिथ्या प्रतीति रहती है।'

अकर्मवाद

वर्धनमुनि ने जिज्ञासा की—'भन्ते ! भगवान महावीर देव ने कर्मवाद को महत्त्व दिया कि अकर्मवाद को ?' भद्रमुनि ने उत्तर दिया—'आयुष्मन् ! तुम्हारा प्रश्न वहुत ही मार्मिक है। ऋषभदासजी

'मैं-मैं...कौन हूँ अ. ..' ठकुरानी एक-एक शब्द पर जोर देती हुई बोली– आप ? आप भी तो मर्द ही के बच्चे हो ! फिर यह कायरता कैसी ?' ठाकुर एकदम जोश में आ गये और बोले–'अरे हाँ ! यह तो मैं भूल ही गया। ठीक याद दिलाई तुमने ! लाओ मेरी तलवार ! अभी चोरों को छट्ठी का दूध याद आ जाएगा।' ठाकुर साहब शय्या से कूद पड़े और लाठी लेकर, जिधर कोई दिखाई दे रहा था उधर दौड़े।

आवाज आई–'शान्त होइए, हुजूर !' ठाकुर साहब ने आवाज पहचान ली। यह आवाज उस विश्वासी दास की ही थी। ठाकुर साहब स्वस्थ हुए। दास कह रहा था–'हुजूर ! यह ऐसा गुप्त स्थान है कि यहाँ तक चोर नहीं पहुँच सकते हैं ..' ठाकुर साहब ने पूछा–'तो तुमने यह चोर जैसा स्वाँग क्यों बना रखा है ?' 'आपके सोये हुए शौर्य को जगाने के लिये। क्योंकि जो शक्तिशाली हो, वही इस गुप्त खजाने का स्वामी बन सकता है। आप अपने शौर्य को भूले हुए थे–विस्मृति के गर्त में पड़े हुए थे। मेरे पूर्वजों ने इस खजाने की रक्षा की है। अतीत में उन्होंने भी गद्दीधरों के सोये हुए शौर्य को जगाया था। मैंने भी अपने पूर्वजों के आदेशानुसार अपना कर्त्तव्य बजाया।'

ऋषभदासजी–'इस प्रकार मोह में पड़ा हुआ जीव अपना भान भूल जाता है। अपने आत्म-वैभव और उसके संरक्षकों को, वह भूल ही जाता है--मोह-विकार के कारण। जो अपने धन को भूल जाता है– वह अपने सहायकों को भूले इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते हुए गुरुदेव ने आत्म-कहानी इस प्रकार कही है–

भ्रमण करत संसार, अनन्त हो काल भयो मुझको,
रही कुमति घट छाय, ताहि से जान्यो ना तुझको।
कुगुरु-कुदेव दिल आनी,
जड को मै चेतन मानी।

पारस मणि को छोर ! लियो हा ! कंकर करमें धारी,
जय-जय जगदाधार ! जगत गुरु ! सुनिये अरज हमारी।'

मृदुला—नानाजी ! इस कथा को रूपक मानकर, इस प्रकार घटाया जा सकता है क्या ? जैसे—ठाकुर है—अनन्त शक्तिमान जीव। ठकुरानी है सुमति। स्त्रैणता है विषयासक्ति। बुजदिली है—साधना से भय। दास है विचार। चोर है क्रोधादि। मोह है नीद। वैभव है—ज्ञानादि गुण। वैभव को वाहर निकालना है—रत्नत्रय आराधना। निधि है, अन्तस्तल-अन्तरात्मा। ठकुरानी का प्रवोधन है शास्त्राभ्यास। निज शक्ति स्मृति—सम्यग्दर्शन। जोश आना—वीर्य-स्फुरण। शय्या-त्याग—चारित्र-ग्रहण। लाठी लेना—तपश्चरण। विचार की निद्रा-अविचार दशा मे आत्मा और सुमति भी सो जाते है।

यह वात मुनकर ऋषभदासजी वडे प्रसन्न हुए। वे उसकी प्रशसा करते हुए बोले—'तुम वडी बुद्धिमती हो। तुमने रूपक को यथातथ्य और साँगोपाङ्ग घटाया है।'

विनोद—'इस कवित्त मे 'मूढ' शब्द का अर्थ मूर्ख ही है या और कुछ ?' 'यहाँ 'मूढ' शब्द का अर्थ भ्रमित है। क्रोधादि कपायो की चार अवस्थाएँ है—मद, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम। तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व के उदय मे फँसा हुआ जीव मूढ है। ऐसे जीव आत्मभान से शून्य होते है। उन्हे तत्त्व के प्रति अरुचि, तुच्छता का भाव, वक्रवृत्ति और अतत्त्व के प्रति लगाव तथा मिथ्या प्रतीति रहती है।'

अकर्मवाद

वर्धनमुनि ने जिज्ञासा की—'भन्ते ! भगवान महावीर देव ने कर्मवाद को महत्त्व दिया कि अकर्मवाद को ?' भद्रमुनि ने उत्तर दिया—'आयुष्मन् ! तुम्हारा प्रश्न वहुत ही मार्मिक है। ऋषभदासजी

की इस वात से कि – 'भगवान महावीर का कर्मवाद पुरुपार्थ की प्रेरणा देता है'–तुम्हारे मन मे प्रश्न उठा है। वस्तुत भगवान कर्मवाद का उपदेश देकर, जीव को उसकी अकर्म दशा को प्राप्त करने की ही प्रेरणा देते है। उनके वचनानुसार अज्ञानी जीवो के कर्म ही कर्म के उत्पादक होते है और ज्ञानियो का पुरुषार्थ अकर्म का जनक होता है। यथा––

जे अबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्त-दंसिणो।
असुद्धं तेसि परवकंतं, सफलं होइ सव्वसो॥
जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्त-दंसिणो।
सुद्धं तेसि परवकतं, अफलं होइ सव्वसो॥

–सूयगडसुत्त १।८।२२, २३

जो तत्त्व रहस्य मे अज्ञात लोक पूज्य और असम्यग्दृष्टि वीर पुरुप है, उनका पुरुपार्थ पूर्णत मलिन और नये कर्मो का उत्पादक होता है और जो तत्त्वज्ञ, पूज्य पुरुष और सम्यग्दृष्टि वीर पुरुप है, उनका पुरुपार्थ पूर्णत शुद्ध और अकर्म अर्थात् मुक्ति प्राप्त कराने वाला होता है।

चेतन जो निज भान मा, कर्ता आप-स्वभाव।
वर्ते नहि निज भान मां, कर्ता कर्म-प्रभाव॥७८॥

––आत्मसिद्धि

अजीव के मलिन पुरुपार्थ से ससार की विविधता फलती-फूलती है। उसी का विश्लेषण करना कर्मवाद का उद्देश्य है और साथ ही निर्मल पुरुषार्थ से निष्कर्म-दशा प्राप्त होती है–यह प्रतिपादन करना भी उद्देश्य है और यही प्रधान उद्देश्य है। वस्तुत कर्मवाद का प्रतिपाद्य अकर्म है–अकर्मवाद है।

६. दोषाच्छादन

'आत्म-मूढता का चौथा भेद दोषाच्छादन अपने दुर्गुणों को छिपाना है। मनुष्य अपने बडप्पन को बनाये रखने के लिये अपने दोषों को छिपाता है।' प्रवीण—'दोष छिपाना भी क्या मूढता है?' 'हॉ, मूढता ही है। दूसरों को मैं अच्छा लगूँ—दूसरों में मेरी हीनता न हो—ऐसे भावों से ही मनुष्य अपने दोषों को छिपाता है। ऐसे भाव में वक्रता रहती है। क्या दूसरों को अच्छा लगने से हममें अच्छाई आ जाती है? नहीं। फिर जिसमें कुछ लाभ नहीं है, ऐसे भावों का सेवन करना मूढता नहीं तो क्या है? यश की प्राप्ति के लिये दोष छिपाये जाते हैं। इसलिए दोषाच्छादन में सदा भय बना रहता है। क्योंकि अपने दोषों को छिपाने के लिये छल-युक्त झूठ बोलना पडता है—

अपनी जब भूल को ध्यान लही

(सवैया)

'अय भ्रात! जरा सुन तो बहिना—
मुझ, मारग गेह का भूल गई;
पहुँचा घर दें इसको' 'अजी! क्यों
पहुँचाते नहीं फिर आप सई।'
'अरे यार! मैं भी पथ भूल गया,
तब तो पहुँचावन बात कही';
'मुनि सूर्य' कहे—'अब सीधे बने
अपनी जब भूल को ध्यान लही'॥७॥

शंभु वयस्क हो गया था। फिर भी उसके माता-पिता उसे कहीं भी अकेला नहीं भेजते थे। यह बात उसे बहुत ही खटकती थी। उसके जितनी वयवाले लडके न जाने कहाँ-कहाँ घूम फिर आते थे। शंभु

जव यह सव देखता, तव उसे अपने माता-पिता पर क्रोध आने लगता था। शभु का मन रात-दिन ऐसा पराक्रम करने के लिये तरसता रहता था।

घर मे कोई मगल-प्रसग का समय आया। उसकी वहिन को लाने की वात चल रही थी। उसकी वहिन ठेठ देहात मे रहती थी। वहाँ तक पहुँचने के लिये कुछ माइल तक वडी सावधानी स पैदल चलना पडता था। यदि जरा-सा भी ध्यान चूक जाय तो पहाडियो मे भटक जाने का भय रहता था। शभु एक-दो वार अपनी वहिन के यहाँ हो आया था। इसलिये जव उसे लिवाने के लिये किसी के जाने का प्रश्न उठा, तव वहाँ जाने के लिये किसी के भी तैयार न होने पर शभु ने वहाँ जाने का हठ किया। माँ ने भी कहा—'जाने दो! अव यह कोई नन्हा-मुन्ना तो है नही! काम करने पर ही होशियारी आएगी!' आखिर उसकी वात स्वीकृत हुई। पर पिता ने कहा—'भाई! रास्ता वीरान है। साथ मे किसी पथ-प्रदर्शक को ले जाओ!' यह वात शभु को अच्छी नही लगी। मेरी बुद्धि या शक्ति किसी पर इन्हे विश्वास नही है। मुझे परवश वनाये रखना ही चाहते है ये। वह क्रुद्ध स्वर मे वोला—'क्या मै इतना-सा काम भी नही कर सकूँगा? मै अभी वच्चा ही हूँ क्या?' पिता उसकी वात सुनकर मौन हो गए।

शभु वहिन के यहाँ पहुँचा। वह वहिन को लेकर लौट रहा था। वहिन के ससुरजी ने वलाऊ को साथ भेजने की वात कही। तव उसने झल्लाकर अपने वहनोई से कहा—'यह क्या वात है? घर पर भी ये ही वाते और यहाँ पर भी ये ही वाते! मुझ पर इतना अविश्वास क्यो?' उसके वहनोई थोडे-से मुसकरा दिये।

शभु को अपना साहस दिखाने का प्रथम ही अवसर मिला था। वह वडे गर्व से अपनी वहिन को साथ लेकर, हाथ मे वेग लिये चला जा रहा था। कुछ दूर तक उसके वहनोई उसे पहुँचाने आये थे। पर

वहनोई के लौटने के वाद, आगे जाकर वह मार्ग चूक गया। वहिन ने भी उस ओर ध्यान नही दिया। अत. वे गलत पगडडी पर चल पडे। जव वहुत दूर निकल गये तव अचानक ही वहिन के ध्यान मे यह वात आई। उसने शंभु से कहा—'भैया! हम रास्ता भूल गये है!' शभु को भी कुछ शका हो रही थी। परन्तु अपनी हेठी न हो, इसलिये उसने ऐठते हुए कहा—'नही—नही, वहिन! मै इसी रास्ते से आया था।' वहिन मुसकरा दी। उसे यह वात अखरी।

कुछ देर चलने के वाद वहिन से न रहा गया। उसने अपनी वात पर जोर देते हुए कहा—'खाक, तुम इस रास्ते से आये थे। सही रास्ते की तलाश करो। नही तो हम भटक मरेगे।' अव वहिन ने आगे चलने से इकार कर दिया और वह वही वैठ गई। इतने मे पीछे से जूतियो की आवाज सुनाई दी। असमजस मे पडे हुए शभु ने पीछे मुडकर देखा तो एक प्रौढ पुरुष आता हुआ दिखाई दिया। शभु ने उसके समीप आने पर उससे अपने गॉव का रास्ता पूछते हुए कहा—'मेरी वहिन रास्ता भूल गई है। इसे घर का रास्ता वता दीजिये और कुछ दूर तक पहुँचा दीजिये।' वहिन यह वात सुनकर गुस्से से शभु की ओर देखने लगी। उस पुरुप ने कहा—'तुम तो रास्ता नही भूले हो न!' 'मै रास्ता क्यो भूलने लगा?' पुरुष ने आगे कदम वढाते हुए कहा—'फिर तुम क्या कर रहे हो! वहिन तुम्हारी है। तुम्हारे ही घर लेजा रहे हो! तो तुम्ही रास्ता क्यों नही वता देते हो! तुम्हे कहाँ मार मारने जाना है?' यह वात सुनकर वहिन को सहज मे ही हँसी आ गई।

अव शभु को सव कुछ समझ मे आ चुका था। यदि इस समय वह ऐठा रहेगा तो पूरी मुसीवत मे फँस जाएगा। उसने लाचार होकर कहा—'यदि मै रास्ता जानता होता तो भूलता ही क्यो और आपसे पूछता ही क्यो?' उसका चेहरा रूऑसा हो रहा था। उस व्यक्ति ने कहा—'अच्छा, यह वात है! तो सीधे हुए अव! यह क्यों

जव यह सव देखता, तव उसे अपने माता-पिता पर क्रोध आने लगता था। शभु का मन रात-दिन ऐसा पराक्रम करने के लिये तरसता रहता था।

घर मे कोई मगल-प्रसग का समय आया। उसकी वहिन को लाने की वात चल रही थी। उसकी वहिन ठेठ देहात मे रहती थी। वहाँ तक पहुँचने के लिये कुछ माइल तक वडी सावधानी स पैदल चलना पडता था। यदि जरा-सा भी ध्यान चूक जाय तो पहाडियो मे भटक जाने का भय रहता था। शभु एक-दो वार अपनी वहिन के यहाँ हो आया था। इसलिये जव उसे लिवाने के लिये किसी के जाने का प्रश्न उठा, तव वहाँ जाने के लिये किसी के भी तैयार न होने पर शभु ने वहाँ जाने का हठ किया। माँ ने भी कहा—'जाने दो! अव यह कोई नन्हा-मुन्ना तो है नही! काम करने पर ही होशियारी आएगी!' आखिर उसकी वात स्वीकृत हुई। पर पिता ने कहा—'भाई! रास्ता वीरान है। साथ मे किसी पथ-प्रदर्शक को ले जाओ!' यह वात शभु को अच्छी नही लगी। मेरी वुद्धि या शक्ति किसी पर इन्हे विश्वास नही है। मुझे परवश वनाये रखना ही चाहते है ये। वह क्रुद्ध स्वर मे वोला—'क्या मै इतना-सा काम भी नही कर सकूँगा? मै अभी वच्चा ही हूँ क्या?' पिता उसकी वात सुनकर मौन हो गए।

शभु वहिन के यहाँ पहुँचा। वह वहिन को लेकर लौट रहा था। वहिन के ससुरजी ने वलाऊ को साथ भेजने की वात कही। तव उसने झल्लाकर अपने वहनोई से कहा—'यह क्या वात है? घर पर भी ये ही वाते और यहाँ पर भी ये ही वाते! मुझ पर इतना अविश्वास क्यो?' उसके वहनोई थोडे-से मुसकरा दिये।

शभु को अपना साहस दिखाने का प्रथम ही अवसर मिला था। वह वडे गर्व से अपनी वहिन को साथ लेकर, हाथ मे वेग लिये चला जा रहा था। कुछ दूर तक उसके वहनोई उसे पहुँचाने आये थे। पर

५.

लोक-मूढ़ता

७ लोक-चेतना

विनोद ने कहा—'नानाजी ! आपने जो बाते कही, वे सुनी। मुझे लगता है कि आप शास्त्र को या आत्मा को ज्यादा प्रमाणभूत मानते हैं। पर मेरी समझ से लोक-चेतना को ही प्रामाणिक मानना चाहिये। क्योंकि लोक-चेतना एक प्रवाह है। जैसे किसी वेगवती सरिता के प्रवाह मे कोई कूडा-कर्कट गिर जाता है, तो प्रवाह उसे किनारे पर लाकर छोड देता है और वह निर्मल हो जाती है। इसी प्रकार लोक-चेतना भी अपने उपयोग के योग्य ज्ञान, व्यवहार, आचार आदि की बाते स्वीकार करती है और कूडे-कर्कट के समान बातो का परित्याग कर देती है। मैंने एक श्लोक सुना था, जिसमे किसी मनीषी ने ऐसा ही उद्घोष किया था—'श्रुतियाँ-शास्त्र विभिन्न है। उनमे मतभेद है। कोई भी ऐसा मुनि नही है, जिसके वचन प्रामाणिक माने जायँ। ऐसी स्थिति मे धर्म का रहस्य तो किसी गहरी गुफा मे छिप गया है। इसलिए जिधर से बहुत बडा जनसमूह जा रहा हो, मार्ग है।' इस कथन मे भी लोकचेतना को ही कसौटी माना

— का प्रमाण दे रहे हो, वह श्लोक

नही कहते कि मैं ही रास्ता भूल गया हूँ ? अब मैं समझा कि आपके बहनोई ने मुझे आपके पीछे-पीछे चलने का क्यों कहा था ?'

यह बात सुनकर शभु लज्जा से धरती मे गड गया । उसे अपनी भूल महसूस हो रही थी । पर वह मन ही मन अपने पिता और बहिन के ससुर को दोष दे रहा था कि उन्होने चलते हुए अपशकुन कर दिया । 'इस प्रकार अपने दोषो को नही देखना, उन्हे छिपाना, उनका उत्तर-दायित्व किसी और पर डालना आदि दोषाच्छादन रूप आत्म-मूढता है । जब मनुष्य अपनी झूठी शान बनाए रखना चाहता है, तब यह दोष उत्पन्न होता है । परन्तु शान्ति से अपना दूषण देखे और उससे अलग हटना चाहे तभी वह दोषो से मुक्त हो सकता है । यथा—'मुनिसूर्य' कहे—'तब सीधे बने, अपनी जब भूल को ध्यान लही ।'

'इस प्रकार यह 'आत्म मूढता' विषयक प्रकरण पूरा हुआ ।'

प्रवीण—'नानाजी ! क्या इन दृष्टान्तो को दूसरे रूप मे भी घटाया जा सकता है ?' ऋषभदासजी—'यह तो वक्ता की बुद्धि और इच्छा पर निर्भर है । हाँ, इन दृष्टान्तो मे जो दूसरी बात झलकती है, सो तुम्हे बता देता हूँ । ये छहो दृष्टान्त क्रमश अज्ञान, क्रोध, मान, लोभ, प्रमाद और माया के कारण उत्पन्न आत्म-मूढता के विषय मे प्रकाश डालते है । चारो कषाय दु खद है—

क्रोधी सुख पावे नहीं, मानी चिन्तित खास ।
मायी होता दास है, लोभी नरक-निवास ।।

देखा-देखी करे लोक

(कवित्त)

एक विप्र ताम्रपात्र लेय नदी-तट दाटा,
चिन्ह रेत-ढग किया, पीछे लेऊँ आय के;
ढग का यों दृश्य देख, लोगों ने कौ विधि जानी,
ताके देखा-देखी ढग हजारों बनाय के।
कुछ काल बाद विप्र, पात्र लेन आया तहाँ,
रेत-ढग देखे, पात्र-पता नहीं पाय के;
निराश हो चला, कहे 'सूर्यमुनि' देखा-देखी—
करे लोक सोचे नहीं, हिताहित लाय के ।।८।।

एक गाम मे एक ब्राह्मण रहता था। उसका नाम देवदत्त था। जब वह ब्राह्मण प्रौढवय मे आया, तव उसके पास कुछ स्वर्ण-मुहरे जमा हो गई। वह गरीव वाप का वेटा था। पर उसने श्रम करके, इतनी पूँजी जमा कर ली थी। वह वडा कजूस और अविश्वासी था। उसे धन की सुरक्षा की वडी चिन्ता रहती थी। अत· वह कही भी जाता नही था। यदि वलात् कही जाना भी पडता तो वह एक ताम्वे के पात्र मे रखी हुई स्वर्णमुद्राएँ भी साथ ले जाता था।

सक्रान्ति पर्व आया। उस समय उस पर्व का विशेष योगो के कारण विशेष महत्त्व था। लोगो की पर्वस्नान की उत्कण्ट इच्छा हो रही थी। उन्हें कर्मकाण्ड करानेवाला कोई नही था। उन्होने इसके लिये देवदत्त को वहुत आग्रह किया। आखिर वह उनके आग्रह को टाल नही सका। नदी गाँव से दूर थी। देवदत्त लोगो के साथ रवाना हुआ। आगे-आगे देवदत्त था और पीछे जनसमूह। उसने अपने साथ वह ताम्रपात्र भी ले लिया। लोगो ने रास्ते में पर्व स्नान की विधि के विपय मे पूछा तो उसने माथापच्ची से वचने के लिये कह दिया —'देखो वहाँ सव कुछ हो जाएगा।'

श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयश्च भिन्ना-
नैको मुनिर्यस्य वचो प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः' ।।

'हाँ, यही ।' 'पर विनोद ! इस श्लोकगत महाजन शब्द का अथ विवादास्पद है । किन्तु 'मैं' तुम्हे पूछता हूँ-क्या लोक-चेतना विशुद्ध होती है ?' 'जव लोक-चेतना को प्रमाणभूत मानते है, तो उसे विशुद्ध होना चाहिये ।' 'आश्चर्य है विनोद ! तुम प्रबुद्ध चेतना के धनी यह क्या वोल रहे हो ! जरा सोचो, तो ! क्या जनसमूह सुसस्कृत होता है ? जन-मानस परिष्कृत होता है और क्या उसकी रुचियाँ परमार्जित होती है ? हिसा आदि पापात्मक वृत्तियाँ किसकी होती है ? लोक-मानस अधिकतर गतानुगतिक होता है । उनकी वृत्तियाँ अधिकतर वासना प्रधान रहती है । उसमे मूढता व्याप्त रहती है । अत उनकी चेतना को प्रमाण कैसे माना जा सकता है । मैं शास्त्रो को मोक्षमार्ग के प्रकाश-स्तभ मानता हूँ और उनकी प्रामाणिकता है--निर्दोष पुरुष-सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण । परन्तु जन-समूह इस विषय मे भी विवेकयुक्त विचार नही कर सकता है । इसलिये अधिकाँश सामूहिक विचारो मे मूढता के दर्शन होते है !' प्रमोद-'आपने दृष्टि मूढता का दूसरा भेद लोक-मूढता वताया है !' 'हाँ ! अव उसी विषय मे वतलाता हूँ-

'लोक-मूढता दो प्रकार की है-शुभ क्रिया-मूढता और व्यवहार-मूढता । लोगो मे शुभक्रिया की चाह भी होती है । परन्तु इस विषय मे निर्णय करने-वास्तविकता परखने जितना धैर्य उनमे नही होता है । वे देखादेखी क्रिया करते हुए, भेड़िया-धँसान की उक्ति को चरितार्थ करते है ।

देवदत्त रोषपूर्वक जोर से बोला–'अरे मूर्खो ! मै तो मेरा धन गया, इसलिये रोया और तुम्हारी मूर्खता देखकर हँसा । परन्तु तुम क्यो रोये और हँसे ?' लोगो ने रहस्य जाना तो हकलाते हुए बोले– 'हम .हमने तो यह धर्म समझकर किया !' देवदत्त गुस्से मे बोला– 'सिर तुम्हारा ? यो धर्म होता है ?' सत्य है–

गतानुगति को लोको नलोकः पारमार्थिकः ।
वालुकाबंलिङ्ग-मात्रेण गतं मे ताम्र-भाजनम् ।।
एकस्य कर्म संवीक्ष्य, करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगति को लोको, न लोकः पारमार्थिकः ।।

–एक के कार्य को देखकर दूसरा भी वह घृणित कार्य करने लग जाता है । लोक एक दूसरे का अनुसरण करनेवाले ही है, परन्तु तत्त्व के रहस्य को जाननेवाले नही है ।

शुभ-क्रिया लोक-मूढ़ता के भेद

'शुभ क्रिया के तीन भेद है–उपासना, आराधना और पुण्यानुष्ठान । उपासना अर्थात् पूजा, स्तुति, नमस्कार आदि । देव और गुरु की उपासना की जाती है और धर्म की आराधना । इनके प्रत्येक के लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो-दो भेद है । इस प्रकार इन दोनो के छह भेद हो जाते है–(१) लौकिक-देव-उपासना, (२) लौकिक-गुरु-उपासना, (३) लौकिक-धर्म-आराधना, (४) लोकोत्तर देव-उपासना, (५) लोकोत्तर-गुरु-उपासना और (६) लोकोत्तर-धर्म-आराधना ।' 'लौकिक देव आदि कौन है ?' 'लौकिक-देव–विष्णु, भेरू, भवानी, शीतला आदि है । लौकिक गुरु–लौकिक धर्म-गुरु, शिक्षा गुरु, पारिवारिक वड़ आदि और लौकिक धर्म–शैव, वैष्णव, ईसाई, मुस्लिम आदि, लोकोत्तर देव-अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ और धर्म-केवलि

जब नदी कुछ दूर रही, तब ब्राह्मणदेव को अपना ताम्रपात्र रखने की चिन्ता हुई। कुछ सोचकर उसने दौड़ लगाई। लोग देखते रह गये कि यह क्या हुआ? जब देवदत्त कुछ दूर निकल गया, तब लोगो ने समझा कि यह स्नान विधि प्रारम्भ हो गई है। इसलिये वे भी तेजी से दौड़े।

देवदत्त नदी पर पहुँच गया। उसने रेत मे ताम्रपात्र गाढ दिया और उसके ऊपर चिह्न के लिये रेत की शिवपिण्डी-सी बना दी। फिर उसने स्नान करने के लिये नदी मे प्रवेश किया। इतने मे लोग भी वहाँ पहुँच चुके थे। उन्होने भूदेव को शिवपिण्डी बनाते हुए देखा था। इसलिये उन्होंने भी वैसा ही किया और वे भी स्नान करने के लिये नदी मे घुस गये।

स्नान-विधि और क्रिया-काण्ड से निवृत्त होकर, देवदत्त नदी मे बाहर निकला। वह नदी के किनारे बनी हुई विपुल शिवपिण्डियो को देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। उसने घबराते हुए शिवपिण्डी को बिखेरकर अपना पात्र खोजना प्रारम्भ किया। लोगो ने समझा—यह भी कोई धर्म विधि है। वे भी रेत की पिण्डियाँ बिखेरने लग गये। कुछ ही क्षणो मे वहाँ रेत का समतल मैदान हो गया।

यह दृश्य देखकर, देवदत्त को बड़ा दु:ख हुआ। अब उसे अपना धन मिलने की आशा न रही। जीवन की गाढी कमाई यो ही चली गई। उसे बहुत दु ख हुआ और वह तीव्र दु ख के कारण अपना सिर पीटकर रोने लगा। यह विधि लोगो को जरा अटपटी लगी। लेकिन उन्होने सोचा—'इतनी सारी क्रियाएँ कर ली। फिर इस क्रिया को न करके पुण्यफल मे वचित क्यो रहा जाय।' बस, अब लोग भी सिर पीट-पीटक रोने लगे। देवदत्त को यह दृश्य देखकर; दु:ख की स्थिति मे भी हँसना आ गया और लोग भी जोर-जोर से हँसने लगे।

'विवेकशील जीव बहुत ही कम है–ससार मे। अत अधिकाँश जीवो के कार्यो मे प्राय. मूढ़ता ही रहती है। सामान्य मनुष्य कार्य करते हुए यही सोचता है–जो दुनिया का होगा सो मेरा भी हो जाएगा। जैसे–

'जणेण सद्धि होक्खामि'–इइ बाले पगब्भइ।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥

–उत्तर ५।७

–अज्ञानी मनुष्य प्रगल्भता से कहता है–'मेरा भी लोगो के साथ जो होना होगा सो हो जाएगा।' इस प्रकार वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश को प्राप्त होता है।

इसे लोक-व्यवहार-मूढता कहते है–

(कवित्त)

किया अपराध ताको, हाकिमने पूछा ऐसा–
'कभी निज गुन्हें पर पश्चाताप कीना है';
'जी हाँ! एक शादी का सारी उम्र सोच रहा!'
'जाओ गृहस्थाश्रम का महा दुख लीना है।'
दूजो खुश होय कहे--'मैने तीन शादी करी
महा दुःख सह्यो, हुआ सफल सुलीना है'
'एक भूल माफ होय, तैने करी तीन बार'
कहे 'सूर्यमुनि' तिन्हें कारागृह दीना है ॥९॥

दो मित्र थे–एक फेरीवाला और एक दुकानदार।

फेरीवाला फेरी करके, कपडे बेचता और लाभ से अपनी उदर-पूर्ति करता। आनन्द से खाने-खरचने पर भी उसके पास काफी पैसे बच जाते। वह मस्ती मे जी रहा था। परन्तु उसकी एक आकाँक्षा

प्रज्ञप्त है। इनकी उपासना और आराधना, रहस्य जाने बिना ही उलट-पुलट करना—देखा-देखी करना मूढता है। पुण्यानुष्ठान-मूढता यह शुभक्रिया-लोकमूढता का सातवाँ भेद है। लोक-हित के लिये जो शुभ क्रियाएँ की जाती है—वे पुण्यानुष्ठान है। वे दो प्रकार से हो सकते है—जीवन-व्यवहार-सहयोगी और जीवन-विघ्न-विनाशी। मनुष्य और पशुओ के जीवन-व्यवहार मे सहयोगी, आजीविका सम्वधी शिक्षा, दान, छात्रवृत्तियाँ, किसी को आजीविका दिलाना-देना, समाज-सुधार, सहयोग-भावना का प्रसार-प्रचार, नैतिक-सुधार आदि, पशुओ पर अनुकम्पा, गोशाला, घॉस आदि का उचित प्रबध आदि और जीवन-विघ्न-विनाशी अर्थात् मनुष्य और पशु के जीवन के वाधक कारण रोग, उपद्रव आदि का निवारण करना। इनके विपय मे हित-अहित सोचे विना ही देखा-देखी क्रियाएं करना पुण्यानुष्ठान-मूढता है। इन्हे लौकिक और लोकोत्तर मिथ्यात्व भी कहते है। गुरुदेव कहते है—

"कहे 'सूर्यमुनि' देखा-देखी
करे लोक सोचे नहीं, हिताहित लाय के।"

लोगो मे शुभ क्रिया करने की रुचि होती है। परन्तु उनम इस विषय का विवेक नही होने के कारण, केवल देखा-देखी कार्य करने की वृत्ति हो जाती है। वे पुण्य-अनुष्ठान को धर्म, लौकिक देवो आदि मे लोकोत्तर फल और लोकोत्तर देव आदि मे लौकिक फल आदि चाहने लग जाते है। यह लोक-मूढ़ता है।

८. एक भूल माफ होय

प्रवीण—'नानाजी! ससार मे अधिकॉश जीव देखादेखी ही कार्य करते है, तो उनके समस्त कार्यो के मूल मे मूढता ही रहती है क्या?'

'उन्हे सम्हालेगा कौन ?' जव लोग ज्यादा रोक-टोक करने लगे, तव उसने साफ-साफ सुना दिया—'दुनिया शादी करती है और मै भी कर रहा हूँ। मै कोई नई वात नही कर रहा हूँ। पुरुप का घर स्त्री के अभाव मे कैसे चल सकता है ? और यह मेरी इज्जत का सवाल है।' अन्त मे उसने तीसरी शादी करने के वाद ही चैन की साँस ली। पर सम्पत्ति कम होती गई और सतति वढती गई। अव उसे आजीविका चलाने के लिये विचित्र हथकडे अपनाने पडे।

दोनो मित्र किसी एक ही अपराध मे पकडे गये। उन्हे दण्डाधिकारी के समक्ष खडे किये गये। प्रथम व्यक्ति की मुखमुद्रा को देखकर दण्डाधिकारी विचार मे पड गये। उन्हे अपराधियो के दण्ड देते हुए जिंदगी हो गई थी। वे मुख को देखकर ही भाँप लेते थे कि यह किस कोटि का अपराधी है। उन्हे लगा कि यह व्यक्ति अपराधी प्रकृति का नही है। परन्तु यह प्रताडित है और इसी कारण इससे अपराध हुआ है। वस्तुत फेरीवाले का हृदय पश्चाताप से दग्ध हो रहा था। उसके मुख पर दु ख ने अपनी छाप लगा ही रखी थी और अव वहाँ पश्चाताप की छाया भी अपना स्थान जमा रही थी। दण्डाधिकारी ने उससे कुछ प्रश्न पूछे, जिनके उत्तरो से वे उसकी सही स्थिति को समझ गये। उन्होने उससे पूछा—'क्यो भाई! तुम्हे कभी अपने किसी अपराध का पश्चाताप हुआ है ?' यह प्रश्न सुनकर उसकी आँखे भर आई। वह भारी कण्ठ से वोला—'हाँ, मैने कुछ वर्षो पूर्व एक वहुत वडी गल्ती कर डाली थी। मै आजाद था। सुखी था। पर दुनिया के प्रवाह मे वहकर मैने शादी कर ली। जिसका परिणाम आज भी भुगत रहा हूँ। इसीलिये आज मुझे आपके सामने कटघरे मे खडा होना पडा है और इसीलिये रात-दिन पश्चाताप की भट्टी मे मेरा हृदय जल रहा है।' यह कहते हुए उसने अपने कुर्ते की वाह से

थी कि उसकी शादी हो जाए। आयु वीत रही है। यदि कुछ दिन और वीत जाएँगे तो फिर गृहस्थी जम न सकेगी। उसने अथक परिश्रम शुरु किया। तव उसे स्त्री के नाज-नखरे से दु खी पुरुष ने कहा—'क्यो वृथा दु ख मोल लेना चाहते हो ? क्या करोगे शादी करके ? क्या तुम्हे अपनी मस्ती भारी पड रही है।' उसने चिढकर कहा—'दुनिया क्या करती है-शादी करके, सो ही मै करूँगा। इतने सारे लोग मूख है, जो शादी करते है।' और आखिर एक दिन उसकी शादी हो ही गई। थोडे दिन तक उसे शादी का नशा छाया रहा। पर धीरे-धीरे मुसीवते वढने लगी और उसे आटे-दाल के भाव मालूम पड़ गये। रगीन-स्वप्न मुसीवतो मे खो गये।

उसने फेरी छोड दी थी और दुकान कर ली थी। किन्तु इतनी पूँजी नही थी कि वह दुकान चला सकता। कर्ज पहले से ही हो गया था। घर मे सदस्य सख्या वढ़ रही थी और स्त्री की इच्छाएँ पूरी न होने मे वह भी असतुष्ट रहती थी। उसका स्वभाव भी वहुत विचित्र था। घर मे कलह का वातावरण वना रहता था। उसने धन पाने के लिये नीति-विरुद्ध कार्य करना प्रारभ किया। पर धन नही जुडा सो नही जुडा। स्त्री भी दु खी थी और एक दिन वह अपने छोटे-छोटे वच्चो को छोडकर किसी और के साथ सुख की मृगतृष्णा मे चल दी। वह दु.खी हो गया।

दूसरे दुकानदार मित्र की सरलता से शादी हो गई थी। उसे एक-दो सन्तान हुई और स्त्री मर गई। उसने दूसरी शादी कर ली। उससे भी दो सतान हुई और स्त्री क्षय रोग से पीडित हो गई। योग्य उपचार हो न सका और स्त्री चल वसी। अव वह तीसरी शादी करने के लिये तैयार हुआ। कुटुम्वी लोग उसे वरजने लगे। लोग कहते—'तुम्हे चार-चार सतान है। अव शादी मत करो।' तो गुस्से से कहता—

'उन्हे सम्हालेगा कौन ?' जव लोग ज्यादा रोक-टोक करने लगे, तव उसने साफ-साफ सुना दिया—'दुनिया शादी करती है और मै भी कर रहा हूँ। मै कोई नई वात नही कर रहा हूँ। पुरुष का घर स्त्री के अभाव मे कैसे चल सकता है ? और यह मेरी इज्जत का सवाल है !' अन्त मे उसने तीसरी शादी करने के वाद ही चैन की साँस ली। पर सम्पत्ति कम होती गई और सतति वढती गई। अव उसे आजीविका चलाने के लिये विचित्र हथकडे अपनाने पडे।

दोनो मित्र किसी एक ही अपराध मे पकडे गये। उन्हे दण्डाधिकारी के समक्ष खडे किये गये। प्रथम व्यक्ति की मुखमुद्रा को देखकर दण्डाधिकारी विचार मे पड गये। उन्हे अपराधियो के दण्ड देते हुए जिंदगी हो गई थी। वे मुख को देखकर ही भॉप लेते थे कि यह किस कोटि का अपराधी है। उन्हे लगा कि यह व्यक्ति अपराधी प्रकृति का नही है। परन्तु यह प्रताडित है और इसी कारण इससे अपराध हुआ है। वस्तुत फेरीवाले का हृदय पश्चाताप से दग्ध हो रहा था। उसके मुख पर दु.ख ने अपनी छाप लगा ही रखी थी और अव वहाँ पश्चाताप की छाया भी अपना स्थान जमा रही थी। दण्डाधिकारी ने उससे कुछ प्रश्न पूछे, जिनके उत्तरो से वे उसकी सही स्थिति को समझ गये। उन्होने उससे पूछा—'क्यो भाई ! तुम्हे कभी अपने किसी अपराध का पश्चाताप हुआ है ?' यह प्रश्न सुनकर उसकी आँखे भर आई। वह भारी कण्ठ से वोला—'हाँ, मैने कुछ वर्षो पूर्व एक वहुत वडी गल्ती कर डाली थी। मै आजाद था। सुखी था। पर दुनिया के प्रवाह मे वहकर मैने शादी कर ली। जिसका परिणाम आज भी भुगत रहा हूँ। इसीलिये आज मुझे आपके सामने कटघरे मे खडा होना पडा है और इसीलिये रात-दिन पश्चाताप की भट्टी मे मेरा हृदय जल रहा है ' यह कहते हुए उसने अपने कुर्ते की वाह से

आँसू पोंछ लिये। दण्डाधिकारी ने दयार्द्र होकर कहा—'तुमने असफल गृहस्थाश्रम का बहुत दुःख उठाया है। तुम्हें दण्ड से मुक्त किया जाता है। अच्छा, जाओ। फिर कभी ऐसा अपराध मत करना।' उसने कृतज्ञ होकर सिर झुकाया और बोला—'मैं आपका उपकार भूल नहीं सकता। आपने मुझे मुक्त करके, मेरे आश्रितों को जीवनदान दिया है . .' वह आगे कुछ नहीं कह सका और लज्जा के भार से दबा हुआ सिर नीचा किये हुए वहाँ से चला गया।

दुकानदार मित्र यह दृश्य देखकर बड़ा खुश हुआ। दंडाधिकारी ने जब उसका न्याय हाथ में लिया, तब उसने पहले के समान प्रश्न नहीं किया। तब अपराधी ने कहा—'साहब, आपने मेरी दुःख-गाथा तो पूछी ही नहीं!' दण्डाधिकारी उसकी ओर देखने लगे। तब वह बोला—'साहब! उसने तो एक शादी की और वह आपको दुःखी दिखाई दे गया! पर मेरी ओर तो देखो। मुझ बेचारे की तीन-तीन शादियाँ हुईं। कितना दुःख भोगा मैंने? क्या मेरा गृही-जीवन सफल हुआ है?' दण्डाधिकारी उसकी लालसा समझकर मुसकराये और बोले—'जो व्यक्ति एक बार भूल करता है, उसे क्षमा किया जा सकता है। परन्तु तुमने एक बार भूल करके, उससे कुछ भी शिक्षा नहीं ली और तीन बार भूल कर डाली—बड़े खुश हो-होकर! इसलिए तुम्हें क्षमा नहीं किया जा सकता है।' उसका अपराध भी गुरुतर था। इसलिये दण्डाधिकारी ने उसे सश्रम कारावास की सजा दी।

व्यवहार-लोकमूढ़ता के भेद

ऋषभदासजी ने कहा—'इस प्रकार लोक अपने हित-अहित को सोचे बिना ही संसार-व्यवहार में रचे-पचे रहते हैं। लोकदृष्टि से व्यवहार दो प्रकार का होता है—सामान्य व्यवहार और असद्व्यवहार।

रहन-सहन, बोलचाल, शादी, वेश-भूषा, गृह-निर्माण आदि सामान्य व्यवहार हैं, और व्यसन-सेवन करना, होटलों में-बाजारों में खाना, एक-दूसरे की छीछालेदार करना, फिजूल खर्च करना, लडके का टीका लेना, कन्या-विक्रय करना आदि असद्व्यवहार हैं। इन दोनों प्रकार के व्यवहारों में देखादेखी और प्रतिस्पर्द्धा करना मूढता है। इस प्रकार व्यवहार-लोक-मूढता के दो भेद होते हैं—सामान्य-व्यवहार-मूढता और असद्व्यवहार-मूढता।'

६.

गुण-मूढ़ता

मृदुला ने पहले की बताई हुई बातों पर आलोचनात्मक दृष्टि फेंकते हुए कहा—'नानाजी! आत्म-मूढता और लोकमूढता का कथन प्रमुख रूप से अपने विषय में ही जीव की विवेक-विकलता को बतलाता है। तो क्या हमारी दृष्टि में हमारे विषय में ही भ्रम होता है, अन्य के विषय में नहीं?' ऋषभदासजी—'आत्ममूढता और लोक-मूढता का प्रधान स्वर आत्मा की अपने प्रति विवेक-विकलता बताने का ही है। परन्तु इनमें पदार्थों के प्रति होनेवाला भ्रम भी गर्भित है। मैंने इस बात का कई बार उल्लेख किया है। जैसे अपने को पर समझ लेने के प्रकरण में विपर्यय मिथ्यात्व के दस भेद बताये थे और कर्तृत्वनिषेध-प्रकरण में षट्-स्थान-निषेध मिथ्यात्व का

सक्षिप्त स्वरूप वतलाया था। अर्थात् इनमे आत्म-मूढता के साथ पर विषयक मूढता भी गर्भित हो जाती है।' 'आपने दृष्टिमूढता का तीसरा भेद गुण-मूढता अर्थात् गुणो के विषय मे विवेक-विकलता वतलाया है। अव आप इस विषय मे वताइये।'

'जड-चैतन्य दोनो ही अनन्त गुणो के पुँज है। जड पदार्थ के गुणों के विषय मे दृष्टि मे मूढता आती है। परन्तु यहाँ प्रमुख रूप से चैतन्य-पदार्थ के गुणो के सम्वन्ध मे होनेवाले दृष्टिभ्रम का ही स्वरूप वताया गया है। क्योकि आध्यात्मिक जगत मे सद्गुण को ग्रहण करने का और दुर्गुणो के परित्याग करने का ही महत्व है।

'गुण-मूढता के अनेक रूप हो सकते है। पर प्रस्तुत प्रकरण मे इसके प्रमुख पाँच भेद वताये गये है–(१) गुण विपर्यय, (२) कृतघ्नता, (३) गुण-द्वेष, (४) दुर्गुण-रुचि, और (५) साधन-अविवेक।

१. गुण-विपर्यय-मूढता

'गुण-विपर्यय अर्थात गुणो के सम्वन्ध मे विपरीत समझ। इसके दो रूप है–(१) दुर्गुण को सद्गुण मानना और (२) सद्गुण को दुर्गुण मानना। अज्ञान के कारण जीव सद्गुण-दुर्गुण को पहचान नही पाता है। इसीलिए ऐसा भ्रम पैदा होता है।' प्रवीण-'नानाजी! आपने विपर्यय मिथ्यात्व के दस भेद वतलाये है, उनमे प्रथम भेद 'अधर्म मे धर्म सज्ञा' और द्वितीय भेद है 'धर्म मे अधर्म सज्ञा। इन दोनो भेदो मे और गुण-विपर्य के दोनो भेदो मे क्या अन्तर है।' 'कुछ भी अन्तर नही है। धर्म, गुण आदि पर्यायवाची शब्द है। यहाँ इस विपय को विशेष विस्तार से समझाया गया है।'

मास्टर सुस्त मुझे दरसायो

(सवैया)

सब से रहे सुस्त, कहो ! तुम
क्लास में कौन ? मुझे बतलाओ;
सुन पुत्र कहे–'तुम अर्थ कहो,
किनको तुम सुस्त गिनो, समझाओ।'
'लड़के पढ़ते जब हो चुपचाप–
रहे, न पढ़े कुछ, सुस्त गिनाओ;'
'मुनिसूर्य' कहे सुत बोल पड़ा–
'एक मास्टर सुस्त मुझे दरसायो' ॥१०॥

किरण वडा वातूनी लडका था। वह अभी छोटा ही था। उसे स्कूल मे भरती करा दिया गया था। उसके पिता उसे वहुत ही दक्ष समझते थे। जव कभी वह पिता के सग घूमने जाता, तव वह पिता से कई वाते करता था। वह कभी कोई प्रश्न पूछता था, कभी अपने मित्रो के वारे मे वताता था, तो कभी अध्यापको, कक्षा के कमरो आदि के सम्वन्ध मे ही कुतूहल भरी वाते करता था।

एक दिन किरण अपने पिता के साथ घूमने गया। उसके पिता उससे कह रहे थे–'तुम अच्छी तरह से ध्यान देकर पढा करो।' 'पिताजी ! मै खूव ध्यान से पढता हूँ। मेरे दोस्त भी अच्छे-अच्छे है। वे भी खूव पढते है।' 'तुम्हारी कक्षा मे कितने लडके है ?' 'पच्चीस !' 'सभी खूव पढते है क्या ?' 'हॉ ! खूव पढते है।' 'कोई न कोई लडका तो सुस्त होगा ?' 'सुस्त ! क्या मतलव ? मै कुछ नही समझा।' 'जो कक्षा मे चुपचाप बैठा रहता हो। कुछ पढता न हो। सव पढ रहे हो, पर किसी प्रकार उत्साह ही पैदा न होता हो, उसे

सुस्त कहते है ।' किरण भोलेपन से चट बोल उठा—'ऐसे तो हमारे मास्टरजी है !' 'क्या कहा ? मास्टर जी ?' 'हॉ, मास्टरजी । क्योकि जव हम पढते है, तव वे ही चुपचाप बैठे रहते है ।'

उमका पिता यह वात सुनकर हॅस पडा ।

ऋपभदासजी ने मृदुला से पूछा—'किरण की वात से तुम क्या समझी ?' 'उसे गुण की समझ नही थी । उसने गुण को भी दुर्गुण समझ लिया ।' 'वस, जीव इसी प्रकार अज्ञान या ज्ञान की मन्दता के कारण गुण को दुर्गुण और दुर्गण को गुण समझ लेता है ।' प्रवीण वीच मे वोल उठा—'जैसे विनोद भैया ने आपके विषय मे समझा था !' मृदुला ने तेज स्वर से कहा—'प्रवीण !' विनोद पश्चाताप के स्वर मे बोला—'मत डाटो, मृदुला ! इसका कहना सत्य है ।'

गुण—विपर्यय के विभिन्न रूप

गुण-विपर्यय मूढता के अनेक प्रकार होते हे । जैसे—एक पदार्थ के गुणो को दूसरे पदार्थ के गुणो के रूप मे मान लेना या एक ही पदार्थ के किसी गुण मे उसी पदार्थ के किसी दूसरे गुण का भ्रम हो जाना या सद्गुण मे दुर्गुण का और दुर्गुण मे सद्गुण का भान हो जाना । इस प्रकार इस मूढता के अनेको विकल्प होते है । यहाँ आत्मा के सद्गुण मे दुर्गुण के भान का उल्लख किया गया है । भर्तृ-हरिजी ने इस वृत्ति को दुर्जनो की वृत्ति कहते हुए इस प्रकार कहा है—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तव्यशक्तिः स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नांकितः ।।

लज्जावाले में मूर्खता, व्रत, करनेवाले मे दम्भ, पवित्र पुरुष मे धूर्तता, शूर पुरुष मे निर्दयता, मौनी मे बुद्धि-हीनता, मधुर-भाषियो मे दीनता, वक्ता मे वाचालता, तेजस्वी मे अहकार और स्थिरआत्मा मे असमर्थता कहकर, दुर्जनो ने गुणियो के कौन से गुण को कलकित नही किया। –नीति शतक ५४.

१०. कृतघ्नता

(कवित्त)

एक छोटी लड़की की, आठआनी खो गई थी,
रोते-रोते ढूढ-ढूढ, हो गई बेजार है;
एक दयावान सेठ, उसे परेशान देख,
दीनी आठ आनी निज, दया मन धार है।
कहे तब लड़की–'रे दुष्ट ! मेरी आठआनी,
अब तक छिपा रखी, तुझे हा ! धिक्कार है,'
कहे 'सूर्य' यों उपकार पे अपकार माने,
ऐसे कृतघ्नी से बढ़े भूमि पर भार है ।।११।।

एक वालिका की माता ने उसे अठन्नी (पचास नये पैसे) देकर, वाजार से कुछ खरीदने के लिये भेजा। वह वाजार की ओर जा रही थी। रास्ते मे उसके हाथ से अचानक ही अठन्नी गिर गई। वह ढूँढने लगी। पर उसे अठन्नी नही मिली। उसे माता का भय हुआ। अतः वह अठन्नी ढूँढते हुए रोने लगी।

एक श्रेष्ठि उधर से निकला। वालिका का रुदन देखकर, उसे दया आ गई। उसने उसे रोने का कारण पूछा। वालिका ने सिसकियाँ भरते हुए पैसे खो जाने की वात कही और कहा–'हाय ! अव मेरी माँ मुझे मारेगी। मुझे घर मे नही आने देगी।' और वह जोर-जोर से

हिचकियाँ लने लगी। श्रेष्ठि भी दयार्द्र होकर, यहाँ-वहाँ दृष्टि दौडाने लगा। उसे आसपास कही भी अठन्नी दिखाई नही दी। वह अपना समय भी खोना नही चाहता था और उसका करुणा से भरा हुआ वह उस लडकी को रोती हुई छोडकर जाना भी नही चाहता था। उसने अपनी जेव से अठन्नी निकाली और कहा—'यह लो, वेटी! चुप रहो! अव वह अठन्नी नही मिलेगी।'

उस लडकी ने अठन्नी ले ली। उसने घूर-घूरकर अठन्नी देखी और तेज आवाज मे बोली—'वस, यही मेरी अठन्नी है। आपने इसे पा ली तो अव तक छिपाकर क्यो रखी? धिक्कार है आपको! ओह! आपने कितना रुलाया मुझे?'

श्रेष्ठि भौचक्का-सा उस लडकी को देखता रह गया और लडकी धिक्कार दिये जा रही थी।

कहे 'सूर्य' यों उपकार पे अपकार माने
ऐसे कृतघ्नी से बढ़े भूमि भार है।

जिसने अपने ऊपर उपकार किया हो, उसके उपकार को न मानकर, उसे अपकार करनेवाला ठहराना—यह वडी कृतघ्नता है। इसमे भी दृष्टि की मलिनता रही हुई है। द्रव्यश्रुत रूप आधा रुपया गुरुजन या अरिहन्त भगवान से प्राप्त होता है। जिसके चिन्तन-मनन से भावश्रुत रूप आधा रुपया प्राप्त किया जा सकता है। जो अनन्त ज्ञान का आधार है और जिसमे साधक के अन्तर मे हेय, ज्ञेय और उपादेय की रुचि परिपुष्ट होती है। वह रुचि ही साधना की नीव है। इसलिए जो सम्यक् श्रुत के दाता का उपकार नही मानता, वह साधक अधम है। ऐसे व्यक्ति भूमि पर भार ही है। लौकिक सूक्ति इस विषय मे इस प्रकार है—

एकाक्षर-प्रदातारं, यो गुरुर्नाभिमन्यते ।
श्वान-योनि-शतं गत्वा, चाण्डालेष्वपि जायते ॥

जो एक अक्षर मात्र ज्ञान देने वाले गुरु को नही मानता है, वह सौ वार श्वानयोनि मे जाकर, चाण्डालो मे भी उत्पन्न होता है।

प्रवीण—'इस दृष्टान्त से सद्‌गुण को दुर्गुण माननेवाले के भाव को प्रकट करनेवाला मान सकते है ?' 'हाँ, माना जा सकता है। यह धर्म मे अधर्म की प्रतीति को स्पष्ट करता है। इसके पूर्व का दृष्टान्त सामान्य रूप से दुर्गुण मे सद्‌गुण प्रतीति और इस दृष्टान्त मे अपने प्रति प्रयुक्त सद्‌गुण मे दुर्गुण प्रतीति का स्वरूप है। इन दोनो को सयुक्त रूप से देखने पर, गुण-विपर्ययमूढता के स्थानों का निर्णय हो सकता है। सद्‌गुण-सद्‌भाव के व्यवहार के तीन स्थान है—(१) अपने प्रति अन्य का सद्‌व्यवहार, (२) अन्य के प्रति अपना व्यवहार, और (३) अन्य के प्रति अन्य का व्यवहार। इन तीनो स्थान मे सद्‌गुण मे दुर्गुण की प्रतीति होती है।'

धर्म क्या और क्यों ?

प्रमोद—'नानाजी ! धर्म है क्या ? धर्म की परिभाषा के विषय मे कितना मतभेद है ?' 'धर्म के स्वरूप के विषय मे मतभेद है—यह सत्य है और धर्म की परिभाषाएँ भी सैकडो है। इसलिए धर्म के विषय मे जानना वडा कठिन है। फिर भी मै तुम्हे आर्ष वचनों के अनुसार धर्म की परिभाषा वतलाता हूँ—

दुर्गति-प्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्‌धारयते ततः ।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्मइति स्मृतः ॥

इस श्लोक के भाव एक दोहे मे इस प्रकार व्यक्त हुए है—

दुर्गति पडताँ जीवने, धारी राखे धर्म ।
राखे मंगल स्थान में, समझो है यह मर्म ॥

अर्थात् जिन भावो से जीव दुर्गति मे जाते हुए अटकता है–उच्च मंगलमय स्थान को प्राप्त करता है, उन भावो को धर्म कहते है।' 'ऐसे भाव कौन से है?' 'ऐसे भाव श्रुत और चारित्र लक्षण वाले है–**स च श्रुतचारित्र लक्षण· अथवा धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजम तवो** अर्थात् अहिसा, संयम और तप लक्षण वाला धर्म है।' विनोद–'पर हम धर्म क्यो करे?' 'विद्वानो ने धर्म-साधना के कारणों को बताते हुए कहा है–

यौवनं जीवितं चित्तं, छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि, ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥
धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो, मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

–यौवन, जीवन, चित्त, सौन्दर्य, लक्ष्मी और स्वामित्व–इन छहो को चञ्चल जानकर धर्म मे लीन हो जाओ।

–मारा हुआ धर्म ही मारता है और रक्षित धर्म ही रक्षा करता है। इसलिए धर्म का हनन नही करना चाहिये। क्योंकि हना हुआ धर्म कहीं हमारा वध न कर दे। आर्य सेज्जभव ने जिनेश्वर देव के भावों को इस प्रकार बताया है–

अधुवं जीवियं णच्चा, सिद्धिमग्गं च वियाणिया ।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिय मप्पणो ॥

–जीवन को अध्रुव जानकर और सिद्धिमार्ग को जानकर, भोगो से निवृत्त हो जाओ। क्योकि मनुष्य का जीवन थोडा है।'

–दस वेयालिय, ८।३४

'नानाजी! धर्म मनुष्य को सभ्य, सुसस्कृत, नीतिसम्पन्न और पवित्र बनाता है न?' 'हाँ' 'पर नानाजी! हजारो वर्ष हो गये।

उपदेश देते-देते ऋषि, मुनि भी चले गये। पर मनुष्य तो ज्यो का त्यों ही है। फिर धर्म के प्रचार-प्रसार मे क्या सार है?' ऋषभदासजी हँसने लगे। मृदुला बोली–'विनोद तुमने फ्रेंकलिन की यह उक्ति नही सुनी होगी–If men are so wicked with religion, what would they be without it. अर्थात् धर्म के रहते हुए भी मनुष्य इतने दुष्ट है, तो न होने पर वे क्या होते?' ऋषभदासजी बोले–'विनोद! मृदुला ने ठीक कहा है। मै तुम्हे पूछता हूं कि मनुष्यो को कितने समय से अ-आ-इ सिखाये जा रहे है?' 'हजारो वर्ष से।' 'फिर अभी भी मनुष्य को ये क्यो सिखाये जा रहे है?' विनोद हँसता हुआ बोला–'वे पढाने वाले और पढनेवाले दूसरे थे और अभी दूसरे है। मै समझ गया, नानाजी! मेरी वालिशता को! मै इतने दिनो से जिसे वहुत ठोस तर्क समझ रहा था, वह तो वहुत पोला निकला!' यह गुण-विपर्यय मूढता ही मनुष्य को भ्रम मे डाल देती है, विनोद! मैने पढ़े है–वडे-वडे विद्वानो के भी ऐसे कुतर्क! गुरुदेव कहते है–

पड़ी है भूल चेतन में, फिरे मोहांध चक्कर में।
तुम्हारी मोहनी वाणी, धरी नां करण में भगवन्?
लगी है आश दरशन की, तुम्हारे शरण मैं भगवन्॥

११ गुण-द्वेष

'गुण-मूढता का तीसरा भेद 'गुणद्वेष' है। गुण-द्वेष अर्थात् गुणो के प्रति अरुचि, किसी के गुण-प्रकर्प मे ईर्ष्या आदि। जीव के दुर्गुण मे रमणता के रस के कारण गुण मे अरुचि और गुण-उत्कर्ष मे असामर्थ्य के कारण ईर्ष्या पैदा होती है।

थारी बैल–गधा जात है

(कवित्त)

पंडित दोय मिलके, गये एक सेठ घर,
ताको भिन्न-भिन्न कर, पूछी सेठ बात है;

पेलो कहे–'वह बैल' दूजो कहे–'वह गधा'
निंदा एक-एक की यों, करी हर्षात है ।
भोजन-समय घास-फूस ताके आगे धरा,
पूछ्यां सेठ कहे–'थारी बैल गधा जात है;
सुनके लज्जित हुए, कहे 'सूर्यमुनि' ऐसे
आपस में द्वेष से यों, अपमान पात है ।।१२।।

एक सेठजी वडे ही गुणग्राही थे। गुणी जनो का सत्कार-सम्मान करने मे अपना गौरव समझते थे। वे विद्वानो-गुणियो की सेवा मे धन व्यय करने मे अपने धन की सार्थकता मानते थे। अत दूर-दूर तक उनकी प्रशसा फैल गई थी। इसलिए ज्ञानी लोग भी दूर-दूर से खिचकर वहाँ आते थे और सेठ उनकी सेवा मात्र ही नही करते थे। परन्तु उनके ज्ञान और अनुभव से लाभ भी उठाते थे। वे भी विद्वानो की सेवा से ज्ञान के अगार और अनुभव-रत्नो के निधि वन गये थे। उन सेठजी के कारण वह नगर तीथधाम-सा वन गया था।

उस नगर से दूर दूसरे नगर मे वहुत वडे दो दिग्गज विद्वान रहते थे। उन दोनो पर लक्ष्मीदेवी की अवकृपा थी। दोनो दरिद्रता से अतीव दु खी थे। दोनो परस्पर असहिष्णु भी वहुत थे। वे एक-दूसरे को अपने सामने सहन नही कर सकते थे। लोकोक्ति प्रसिद्ध है–

'पडित पडित दृष्ट्वा, श्वानवत् गुर्गुरायते'

उन दोनो ने भी सेठजी की प्रसिद्धि सुनी। वे दोनो थोडे समय के अन्तर से उस नगर की ओर रवाना हुए। क्योकि पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे लोगो की दृष्टि मे गिर चुके थे और वे लोगो मे अप्रिय वन चुके थे तथा लोग उनको अप्रिय हो चुके थे। एक पडितजी

उन सेठजी के पास कुछ समय पहले पहुँच गये। सेठ ने पंडितजी को सत्कार-सम्मान देकर यथास्थान उतारा। इतने मे दूसरे पण्डितजी आये। सेठजी ने उनका परिचय पूछा। सेठजी ने उन्हे पहले पण्डितजी के ही गाँव के जानकर कहा—'आपके ही नगर के अमुक पण्डितजी आये है।' यह बात सुनते ही उन पण्डितजी की भौंहें तन गई। वे बोले—'वह यहाँ भी आ पहुँचा। निरा बैल है वह !' सेठजी को उनकी तुनकमिजाजी से आश्चर्य हुआ। सेठ ने उन्हे भी यथास्थान पहुचा दिये। सेठ ने पहले पण्डितजी को भी टटोलने का विचार किया। वे पहले पण्डितजी के पास पहुँचे और कहा—'अरे पण्डितजी ! आपके ग्राम के अमुक पण्डितजी आये है।' यह बात सुनकर वे पण्डितजी क्रुद्ध हो कर बोले—'वह .वह तो बिलकुल गधा है। कुछ नही जानता है, वह।' सेठजी को उन पण्डितो की बाते सुनकर बडा दु ख हुआ। उन्होने सोचा—'दोनो ज्ञानी है। परन्तु ईर्ष्या की आग मे जल रहे है। इन्हे कुछ बोध देना होगा।'

भोजन का समय हुआ। सेठजी ने दोनो पण्डितो के सामने घाँस-फूस धर दिया। यह दृश्य देखकर, वे पण्डित आश्चर्य मे पड गये। वे तीव्र स्वर मे बोले—'सेठजी ! यह क्या ? आप हमारी मजाक कर रहे है।' सेठजी ने भोलेपन से कहा—मे ? और आपकी मजाक करूँ ?' 'तो फिर आपने यह क्या किया ?' सेठ ने आश्चर्य का अभिनय करते हुए कहा—'क्यो ? मैने क्या किया ?' पडितजी बोले—'क्या आपने हमे पशु समझ रखा है—जो भोजन के बदले मे घाँस परोसा है ?' सेठ ने निश्चिन्तता से कहा—'मैने तो आपके योग्य ही भोजन परोसा है ?' 'यह भोजन हमारे योग्य है ?' 'हाँ ! आपके योग्य ही है। क्योकि आपकी जाति गधा और बैल जो है !' दोनों ही पण्डित एकसाथ चीख पडे—'कौन नालायक कहता है ?' सेठजी ने मुसकाते हुए कहा—'और कौन

कहता? आप ही तो कह रहे थे।' 'हम कह रहे थे?' 'हाँ! आज जब आप पधारे थे, तभी आपने एक-दूसरे की जाति बताई थी।'

पण्डितो को अपनी कही हुई बात याद आ गई। उस समय उन पर मानो घड़ो पानी बरस गया। सेठजी ने उन्हे समझाने के लिए कहा—'आप विद्वान है—ज्ञानी है! मै एक साधारण आदमी हूँ। मै आपको क्या शिक्षा दूँ? परन्तु इतना तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि आप जैसे विद्वानो को यह गुण-मत्सरता क्यो रखना चाहिए?' दोनो पण्डित बोल पड़े—'बस करो, सेठजी! आपने हमारी आँखे खोल दी।'

दोनो पण्डितो न सेठ का खूब-खूब आभार माना और सेठ ने भी उनका दारिद्र्य दूर कर दिया।

गुण-द्वेष के भेद

'गुण दो प्रकार के होते है—बाह्य और आभ्यन्तर। पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाले गुण बाह्य गुण है। जैसे—रूप, बल, कुल, जाति, वैभव, यश आदि। कर्मो के क्षयो-पशमादि से प्राप्त होनेवाले गुण आभ्यन्तर गुण है। इनके दो भेद है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक गुण-विद्वत्ता, शिष्टता, नम्रता, मृदुता आदि और लोकोत्तर गुण ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चारित्रगुण, तपोगुण आदि। इन गुणो के प्रति ईर्ष्या, अप्रीति आदि होना गुण-द्वेष है। यहाँ शुभ कर्म के फलरूप मे होने के कारण बाह्य गुण को भेद रहित माना है। परन्तु इसके भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद हो सकते है। चक्रवर्ती आदि का वैभव लौकिक और अरि-हन्तादि का वैभव, यश आदि लोकोत्तर बाह्य गुण है। बाह्य गुण पुण्य कर्म के फल रूप है। इसलिए इनमें रुचि होना दूषण है। अत इनमे अरुचि गुणद्वेष मे परिगणित नही है। इस प्रकार (१) बाह्यगुण-

ईर्ष्या, (२) वाह्य गुण-अप्रीति, (३) आभ्यन्तर गुण-अरुचि, (४) आभ्यन्तर-गुण-ईर्प्या, और (५) आभ्यन्तर-गुण-अप्रीति-ये गुणद्वेष के प्रमुख पाँच भेद होते है।

गुण-द्वेष से हानि

गुणियो के गुणो के प्रति प्रमोद चित्त मे आनन्द की वृद्धि करता है और लोकोत्तर गुणो मे प्रमोद परमात्म-दशा का बीज है। अत गुण-द्वेष से चित्त की प्रसन्नता नष्ट होती है और अपने मे गुण-विकार की वृद्धि और पुष्टि होतो है। किसी कवि ने कहा है—

अनुमोदन तें फल बढ़े, निंदन तें घटि जाय ।
सुकृत की अनुमोदना, पाप-निंद मन लाय ।।

१२. दुर्गुण-रुचि

दुर्गुण-रुचि' गुणमूढता का चौथा भेद है। जीव अनादि काल से सद्‌गुणो से दूर है और दुर्गुणो मे रम रहा है। इसलिये उसे दुर्गुणो मे रुचि होना सहज ही है। यद्यपि सद्‌गुण स्वाभाविक है और दुर्गुणअस्वा-भाविक है, तदपि सद्‌गुण दुर्गुण-दल से आच्छादित होने के कारण प्रयत्न साध्य है और दुर्गुण का अति परिचय होने के कारण वे रसमय और सहज लगते है ! दूसरी वात, दुर्गुण वाह्य सुखो के स्रोत प्रतीत होते है। इसलिए दुर्गुण रुचि जीव मे विना किसी यत्न के उत्पन्न हो जाती है।

सुख में नित जीवन मूर्ख बिताया

(सवैया)

सुन भ्रात ! रुचे मुझ मूर्ख–सुभाव,
वसे जिनमें गुण आठ सवाया;
अतिभोजन, और नचिन्त रहे,
दिन-रात सुए, मन लाज विलाया ।

नहि व्याधि, हिताहित भान विना,
अपमान रु मान समान लखाया;
दृढ़-स्थूल रहे वपु, 'सूर्य' कहे—
सुख में निल जीवन मूर्ख बिताया ॥१३॥

दो सगे भाई राजकुमारो ने मुनि का वैराग्यमय उपदेश सुना। उन्हे ससार के आपाधापी से भरे जीवन से अरुचि हो गई। उन्होने आस्रव और सवर का स्वरूप समझा। उन्हे यह दृढ प्रतीति हो गई कि आस्रव (मिथ्यात्व, हिसा आदि) ससार के दु ख और ससार की वृद्धि के कारण है और सवर (सम्यक्त्व, हिसा-विरमण आदि) मोक्ष का कारण है। इसलिए उन्होने हिसा आदि पंचास्रवो का परित्याग कर दिया और सर्वविरति के धारक मुनि वन गये।

वडे भाई ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारणज्ञान-आराधना मे विशेष प्रगति न कर सके। परन्तु छोटे भाई ज्ञान-आराधना मे लीन हो गये और उन्होने खूव ज्ञानार्जन किया। साथ ही उनमे आचार्य के योग्य गुणो का भी आविर्भाव हुआ। अत सघ का सारा उत्तरदायित्व उनके कधो पर आ गया। उनका शिष्य-परिवार भी विशाल हो गया। अव उन्हे जरा भी चैन नही था। दिन मे लोगो को उपदेश देना। वादियो से वाद करना। शिष्यो को वाचना देना। रात्रि मे भी शिष्यो का ज्ञाना-भ्यास कराना। फिर शिष्य कुछ न कुछ पूछने आया ही करते थे। वे न तो दिन मे शान्ति से बैठ सकते थे और न रात मे सो सकते थे। उन्होने अपने भाई की ओर देखा, तो वे आराम मे मस्त दिखाई दिये। उन्हे कुछ भी चिन्ता नही थी और उन्हे कोई भी कुछ नही पूछता था।

तव वे ज्ञानी मुनि विचार करने लगे—'अहो! मूर्खत्व अच्छा है। मुझे मूर्खत्व रुचिकर लगता है। क्योकि उसमे आठ-गुण है। मूर्ख

आनन्द से खूब खाता है। उसे कोई चिन्ता नही सताती है। रात और दिन मे सोने का सुख लूटता है। उसे कोई लाज-सकोच नही होता है। उससे रोग भी डरते है। वह हित-अहित की वृथा चिन्ता से सूखता नही है और उसके हृदय मे मान और अपमान के विषय मे कोई बात ही नही उठती है। अत ऐसे निश्चिन्त जीवनवालो का शरीर सुदृढ और हृष्ट-पुष्ट हो—इसमे कोई आश्चर्य नही है।' वे अपने भाई से कहने लगे—'सुन भ्रात !

मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि रुचितं तस्मिन् यदष्टौ गुणा-
निश्चिन्तो बहुभोजनोऽति मुखरो रात्रिंदिवा स्वप्नभाक् ।
कार्याकार्य-विचारणान्ध-बधिरो मानापमाने समः ।
प्रायेणामयवर्जितो दृढ़वपुर्मूर्खः सुख जीवति' ॥

इस प्रकार अज्ञान की रुचि के कारण उन मुनिराज ने गाढे ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध कर लिया। जिसका फल भविष्य मे उन्हे अज्ञान के रूप मे भोगना पडा।

'वे मुनि ज्ञानी थे। परन्तु प्रज्ञा के उत्कर्ष के निमित्त से होनेवाले परीषह को वे सहन नही कर सके और मुखास्वाद की इच्छा से उनके हृदय मे अज्ञान की रुचि जाग्रत हो गई।'

दुर्गुण-रुचि के प्रकार

प्रवीण ने पूछा—'दुर्गुण रुचि कितने प्रकार की होती है ?' 'दुर्गुणो की गिनती नही हो सकती है। परन्तु उन्हे प्रमुख रूप से तीन भेदो मे विभाजित कर सकते है—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अचारित्र। इसलिये दुर्गुण-रुचि भी तीन प्रकार की हो सकती है—(१) मिथ्यात्व रुचि, (२) अज्ञान-रुचि और, (३) अचारित्र रुचि। मारने-पीटने,

झूठ वोलने, काम-भोग सेवन करने, मद्य-मॉस भक्षण करने आदि की रुचि अचारित्र-रुचि मे गर्भित हो जाती है।'

परीषह

प्रमोद–'नानाजी परीषह किसे कहते है ?' 'पीडा या वेदना को परीपह कहते है। यह सामान्य अर्थ है। पर इसका विशेष अर्थ यह है कि मोक्ष मार्ग पर स्थित रहने के लिये और कर्मो की निर्जरा के लिये जो दु ख सहन करने योग्य है, उन्हे परीषह कहते है।' मृदुला–'परीषह तो वाईस कहे गये है न ?' 'हॉ। वे इस प्रकार है–(१) भूख, (२) प्यास, (३) सरदी, (४) गर्मी, (५) मच्छरो का काटना, (६) वस्त्रो का अभाव या कमी, (७) ऊव या सयम मे अरुचि, (८) पुरुप के लिये स्त्री या स्त्री के लिये पुरुप, (९) चलना, (१०) वैठना, (११) निवास स्थान, (१२) किसी का आक्रोश, (१३) मार, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मैल, (१९) पुरस्कार-सम्मान-सत्कार, (२०) प्रज्ञा-वुद्धि, (२१) अज्ञान, और (२२) अदर्शन-अर्थात् तत्त्वार्थ का प्रत्यक्ष न होने पर होनेवाला अविश्वास।' 'क्या ये वाईस परीपह साधु को ही होते है?' 'नही, सभी संसारी जीवो को होते है। परन्तु साधु इन्हे स्वेच्छा से सहन करता है–अन्य नही। इसीलिये साधुओं के साथ ही इनकी वात जुड़ गई है।'

१३. साधन-अविवेक

'गुण-मूढता का पाँचवाँ भेद है–'साधन-अविवेक'। अर्थात् साध्य के सत्य साधन की अप्रतीति और गलत साधन की प्रतीति। साध्य और साधन मे विवेक विकलता, लोक और धर्म दोनो ही क्षेत्रों मे होती है। यहाँ लौकिक साधन-अविवेक के उदाहरण से लोकोत्तर साधन-अविवेक को समझाया गया है।

भैया को क्यों न ओट लेती

(कवित्त)

डाक्टर के कहने से, क्षय-रोगी के बर्तन,
गर्म पानी से माता धो रही थी कढ़ाई में;
भाई श्यामू पूछां कहे-'जन्तु बीमारी के मरे'
'जन्तु आये कहाँ से वे, अकल न पाई मैं' !
'जन्तु तेरे भाई राम के बुखार माँहि पड़े'
'मिटे महिनत ऐसी युक्ति दूँ सुनाई मैं;
'माँ ! भैया को कढ़ाई में, डाल क्यों न ओट लेती'—
कहे 'सूर्य' मूरख की बुद्धि पड़ी खाई में ॥१४॥

शिवदास का वडा पुत्र रामदास वडा होनहार लडका था। उसमे प्रतिभा की विशेप चमक थी। वह पिता की आँखों का तारा था और माता के हृदय का प्यारा हीरा था। उसे अकस्मात् बुखार आ गया। बुखार बहुत तेज था और वह कई दिनो तक चलता रहा। दवाओ से तेज बुखार तो चला गया। परन्तु उसकी हड्डी मे ज्वर रहने लगा। खाँसी भी चलने लगी। शरीर दिन पर दिन क्षीण होता जा रहा था। पर रामदास काम मे लगा रहता था और अपनी सेहत की ओर ध्यान नही देता था। एक दिन उसके पिता का ध्यान उसके चेहरे पर गया। उसका फीका और सूखा चेहरा देखकर, उसके पिता वडे चिन्तित हो गये। वे उसे चिकित्सक के पास ले गये। चिकित्सक ने परीक्षा करके निर्णय दिया—'राम को क्षय रोग लागू हो गया है। पर कोई चिन्ता की वात नही है। कुछ ही दिन औपधि और पथ्य के सेवन से सव कुछ ठीक हो जाएगा।'

डाक्टर ने औपधि दी और सव चर्या वता दी। रामदास स्वच्छ कमरे मे अलग रखा गया। उसके वस्त्रादि को उसकी माता स्वयं

झूठ बोलने, काम-भोग सेवन करने, मद्य-माँस भक्षण करने आदि की रुचि अचारित्र-रुचि मे गर्भित हो जाती है।'

परीषह

प्रमोद–'नानाजी परीषह किसे कहते है ?' 'पीडा या वेदना को परीषह कहते है। यह सामान्य अर्थ है। पर इसका विशेष अर्थ यह है कि मोक्ष मार्ग पर स्थित रहने के लिये और कर्मो की निर्जरा के लिये जो दु ख सहन करने योग्य है, उन्हे परीषह कहते है।' मृदुला–'परीषह तो बाईस कहे गये है न ?' 'हाँ ! वे इस प्रकार है–(१) भूख, (२) प्यास, (३) सरदी, (४) गर्मी, (५) मच्छरो का काटना, (६) वस्त्रो का अभाव या कमी, (७) ऊब या सयम मे अरुचि, (८) पुरुष के लिये स्त्री या स्त्री के लिये पुरुष, (९) चलना, (१०) बैठना, (११) निवास स्थान, (१२) किसी का आक्रोश, (१३) मार, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मैल, (१९) पुरस्कार-सम्मान-सत्कार, (२०) प्रज्ञा-बुद्धि, (२१) अज्ञान, और (२२) अदर्शन-अर्थात् तत्त्वार्थ का प्रत्यक्ष न होने पर होनेवाला अविश्वास।' 'क्या ये बाईस परीषह साधु को ही होते है?' 'नही, सभी ससारी जीवो को होते है। परन्तु साधु इन्हे स्वेच्छा से सहन करता है–अन्य नही। इसीलिये साधुओं के साथ ही इनकी बात जुड गई है।'

१३. साधन-अविवेक

'गुण-मूढता का पाँचवाँ भेद है–'साधन-अविवेक'। अर्थात् साध्य के सत्य साधन की अप्रतीति और गलत साधन की प्रतीति। साध्य और साधन में विवेक विकलता, लोक और धर्म दोनो ही क्षेत्रो मे होती है। यहाँ लौकिक साधन-अविवेक के उदाहरण से लोकोत्तर साधन-अविवेक को समझाया गया है।

भैया को क्यों न ओट लेती

(कवित्त)

डाक्टर के कहने से, क्षय-रोगी के बर्तन,
गर्म पानी से माता धो रही थी कढ़ाई में;
भाई श्यामू पूछा कहे-'जन्तु बीमारी के मरे'
'जन्तु आये कहाँ से वे, अकल न पाई मैं' !
'जन्तु तेरे भाई राम के बुखार माँहि पड़े'
'मिटे महिनत ऐसी युक्ति दूँ सुनाई मैं;
'माँ ! भैया को कढ़ाई में, डाल क्यो न ओट लेती'—
कहे 'मूर्य' मूरख की बुद्धि पड़ी खाई में ।।१४।।

शिवदास का वडा पुत्र रामदास वडा होनहार लडका था। उसमे प्रतिभा की विशेष चमक थी। वह पिता की आँखो का तारा था और माता के हृदय का प्यारा हीरा था। उसे अकस्मात् वुखार आ गया। बुखार वहुत तेज था और वह कई दिनो तक चलता रहा। दवाओ से तेज बुखार तो चला गया। परन्तु उसकी हड्डी मे ज्वर रहने लगा। खाँसी भी चलने लगी। शरीर दिन पर दिन क्षीण होता जा रहा था। पर रामदास काम मे लगा रहता था और अपनी सेहत की ओर ध्यान नही देता था। एक दिन उसके पिता का ध्यान उसके चेहरे पर गया। उसका फीका और सूखा चेहरा देखकर, उसके पिता वडे चिन्तित हो गये। वे उसे चिकित्सक के पास ले गये। चिकित्सक ने परीक्षा करके निर्णय दिया—'राम को क्षय रोग लागू हो गया है। पर कोई चिन्ता की वात नही है। कुछ ही दिन औपधि और पथ्य के सेवन से सव कुछ ठीक हो जाएगा।'

डाक्टर ने औपधि दी और सव चर्या वता दी। रामदास स्वच्छ कमरे मे अलग रखा गया। उसके वस्त्रादि को उसकी माता स्वयं

झूठ बोलने, काम-भोग सेवन करने, मद्य-माँस भक्षण करने आदि की रुचि अचारित्र-रुचि मे गर्भित हो जाती है।'

परीषह

प्रमोद–'नानाजी परीषह किसे कहते है ?' 'पीडा या वेदना को परीषह कहते है। यह सामान्य अर्थ है। पर इसका विशेष अर्थ यह है कि मोक्ष मार्ग पर स्थित रहने के लिये और कर्मो की निर्जरा के लिये जो दु ख सहन करने योग्य है, उन्हे परीषह कहते है।' मृदुला–'परीषह तो बाईस कहे गये है न ?' 'हाँ ! वे इस प्रकार है–(१) भूख, (२) प्यास, (३) सरदी, (४) गर्मी, (५) मच्छरो का काटना, (६) वस्त्रो का अभाव या कमी, (७) ऊब या सयम मे अरुचि, (८) पुरुप के लिये स्त्री या स्त्री के लिये पुरुप, (९) चलना, (१०) बैठना, (११) निवास स्थान, (१२) किसी का आक्रोश, (१३) मार, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मैल, (१९) पुरस्कार-सम्मान-सत्कार, (२०) प्रज्ञा-बुद्धि, (२१) अज्ञान; और (२२) अदर्शन-अर्थात् तत्त्वार्थ का प्रत्यक्ष न होने पर होनेवाला अविश्वास।' 'क्या ये बाईस परीपह साधु को ही होते है?' 'नही, सभी संसारी जीवो को होते है। परन्तु साधु इन्हे स्वेच्छा से सहन करता है–अन्य नही। इसीलिये साधुओं के साथ ही इनकी बात जुड गई है।'

१३. साधन-अविवेक

'गुण-मूढ़ता का पाँचवाँ भेद है–'साधन-अविवेक'। अर्थात् साध्य के सत्य साधन की अप्रतीति और गलत साधन की प्रतीति। साध्य और साधन मे विवेक विकलता, लोक और धर्म दोनो ही क्षेत्रों मे होती है। यहाँ लौकिक साधन-अविवेक के उदाहरण से लोकोत्तर साधन-अविवेक को समझाया गया है।

मोह रूपी ज्वर

'जीव को मोहरूपी विषम ज्वर चढा हुआ है'–

मोह विषम ज्वर आन सतावे, देत महा दुख भारी ।
यह तो रोग कबहु नहि जावे, बिन ही औषध थारी–
श्रीजिन ! मेटो व्याधि हमारो ।।

जीव को मोहरूपी बुखार ने वहुत पीडित कर रखा है । जिससे कर्मरूपी जन्तु पैदा हो गये है और उनके कारण जीव का स्वरूप क्षीण हो रहा है–ज्ञानादिगुण विनष्ट हो रहे है । भगवान जिनेन्द्र देव ही महान वैद्य है । जिन्होने जीव के सही रोग का निदान किया है । उनके द्वारा वताई हुई औषधि के सेवन करने से और पथ्य-परहेज के पालन करने से ही जीव रोग से मुक्त हो सकता है । प्रवचन माता आत्माराम की सेवा करती है–उसके मति और आचरणरूपी वस्त्र को तपरूपी अग्नि से उवालकर, संवररूपी जल मे धोती है । प्रवचन माता के अभ्यास मे उत्पन्न अरति--ऊव का भाव इन साधनो को व्यर्थ वताता है और लोक रूपी कडाह मे एषणा रूपी आग से आत्मा का रोग मिटाने की वात कहता है ।

साधन-अविवेक के भेद

साध्य दो प्रकार के है–भौतिक और आत्मिक । प्रत्येक के शुद्ध और अशुद्ध-ये दो-दो भेद होते है । फिर उन प्रत्येक के साधनो को नही समझना, विपरीत रूप से समझना और अपर्याप्त रूप से समझना-ऐसे तीन-तीन भेद होते है । इस प्रकार साधन-अविवेक गुणमूढता के कुल वारह भेद होते है ।

साधन-अविवेक अर्थात् मोक्ष के मार्ग को ससार का मार्ग समझना और ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना ।

साफ करती थी। वह रोज गर्म पानी मे कपडो को डालती और कुछ देर तक उन्हे पानी मे खौलाती थी। फिर कुछ देर वाद वह उन्हे धोती थी। श्यामदास, रामदास का छोटा भाई था। एक दिन उसने माँ से पूछा—'माँ! तुम भैया के कपडो को रोज-रोज उवालकर क्यो धोती हो?' माँ ने उत्तर दिया—'वेटा! तुम्हारे भैया को रोग हो गया है। उस रोग के जन्तु उसके कपडो मे भी आ जाते है। वे जन्तु वढ जाये तो रोग भी फैल और वढ जाये। इसलिये उन्हे नष्ट करने के लिये वस्त्रो को उवालकर धोना पडता है।' 'माँ! ये जन्तु कहाँ से आ गये?' 'भैया को वुखार आ गया था न? उससे उसके शरीर मे जन्तु पैदा हो गये।'

श्याम कुछ देर तक विचार करता रहा। फिर माँ से बोला—'माँ! मैने एक अच्छा उपाय सोचा है। मै कहूँ वैसा करोगी तो रोज कपडे नही उवालने पडेगे।' माँ ने जिज्ञासा से उसकी ओर देखा। तव श्याम खुश होता हुआ बोला—'एक वडा कडाह हवेली से ले आये। उसमे भैया को वैठाकर उवाल ले। रोग के सव जन्तु मर जाएँगे। फिर रोज कपडे नही धोने पडेगे।'

माँ को उसकी वात सुनकर क्रोध आ गया। वह श्याम को डाटकर बोली—'मूर्ख है! पागल कही के! क्या भैया को मार डालना है?'

कहे 'सूर्य' मूरख की बुद्धि पड़ी खाई में

मूर्ख मनुष्य अच्छी तरह से नही सोच सकता है। उसकी विचारणा को वह स्वयं वहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। परन्तु वह ऐसे विचार करता है कि जिनके द्वारा लाभ के वदले हानि होती है। उसके ऐसी उल्टी वुद्धि उसे ही गहरे गड्ढे मे उतार देती है।

यहाँ धृष्टता के चार रूपो की चर्चा की गई है। जैसे–(१) अभ्यास-मूला, (२) कषाय-मूला, (३) उपकार-छद्मा और (४) गुणछद्मा। इस प्रकरण मे चारो का क्रमश वर्णन किया गया है।

१४. अभ्यास-मूला धृष्टता

'जीव का अनादि काल से दोषो से परिचय है। इसलिये दोष-सेवन उसके अभ्यास सा वन गया है। जव यह अभ्यास अत्यधिक गाढा हो जाता है, तव उन दोषो का जीव पर अत्यधिक प्रभुत्व हो जाता है। जिससे उसमे निर्लज्जता का जन्म होता है और वह ज्ञान और ज्ञानियो की अवहेलना करने लग जाता है।

लाजहीन जन मिले

(कवित्त)

मुल्जिम को पहिचान, हाकिम ने पूछा ऐसे–
'केती वार सजा पेले, पाई तुम कहिये';
'हजूर ! मै पाँच वार, कैद कड़ी काट चुका'
हाकिम ने कहा-'अब सजा बड़ी लहिये।'
कहा कैदी ने यो-'अजी ! स्थायी ग्राहको के साथ।
रियायत करे सभी, आप भी तो कीजिये';
कहे 'सूर्यमुनि' ऐसे, लाजहीन जन मिले,
ताको उपदेश दिये, कौन लाभ लीजिये ॥१५॥

लाभचद उच्च घराने का लडका था। उसके माता-पिता सुसस्कार-सम्पन्न थे। वह उनका वडा लडका था। अत वह वहुत ही लाड-प्यार मे पला था। परन्तु जव उसके छोटे भाई हुए और ज्यो-ज्यो वह वडा होता गया, तव सहज ही उसके लाड-प्यार मे कमी आती गई। इस कारण उसके मन मे वचपन से ही

मृदुला ने कहा—'नानाजी ! धर्म अर्थात् अहिसा, सत्य आदि शाश्वत् तत्त्व और मार्ग अर्थात् पथ, मत आदि धर्म के वाह्य ढॉचे-अशाश्वत् तत्त्व—यह अर्थ सत्य है क्या ?' 'मृदुला ! यह अर्थ पूर्ण सत्य नही है। श्रुत, चारित्र, अहिसा आदि धर्म है और इनके आचरण के उपाय मार्ग है। परन्तु धर्म शाश्वत् है, भी और नही भी। इसी प्रकार मार्ग के विपय मे भी समझना चाहिए। जिस समय किसी क्षेत्र मे किसी एक का लोप हो जाता है, तो दूसरे का भी लोप हो जाता है। परन्तु कही न कही उनका अस्तित्व अवश्य रहता है। यह 'गुण मूढता' का विपय पूर्ण हुआ।'

७

धृष्टता

'कई व्यक्ति दोष सेवन करते हुए ढीठ हो जाते हैं। उन्हे जरा भी लाज नही आती है। वे दुर्गुणो मे भी गुणो का आरोपण करते है। अपने दोपो के सेवन मे लाभ वतलाते है और जो दोप छुडाने के लिये उन्हे समझाते है, उनकी अवहेलना करते है—तत्त्वज्ञान-सीख की वात को अनुचित वतलाते है। ऐसी अवस्था दृष्टि-विकृति के कारण होती है। इसलिये यहाँ 'धृष्टता' को दृष्टिमूढता मे ही परिगणित किया गया है। यह दृष्टिमूढता का चौथा भेद है। धृष्टता के मूल मे गुण-द्वेप अथवा कोई भी कपाय रहता है और व्यवहार मे माया, वक्रता या दिखावट रहती है। इसलिये धृष्टता को दृष्टिमूढता के अन्य भेदो मे गर्भित न करते हुए अलग गिना गया है।

चुराकर, अपने एक मित्र के साथ वहाँ से भाग निकला। कुछ दिन दोनो इधर-उधर भटकते रहे। फिर वे एक बड़े शहर मे पहुँच गये। कोई स्थिर ठिकाना तो था नही। कभी कही तो कभी कही डोलते रहे। माता विसूरती रही। पिता उसे खोजते रहे। सपने मे लाभचन्द ने अपनी माता को अपने लिये रोते हुए और पिता को खिन्न और क्रुद्ध होते हुए देखा। पर उसे घर जाने की इच्छा नही हुई और एक दिन उसे उसकी माँ की आवाज उस समय गूँजती हुई सुनाई दी, जब उसका मित्र उसके रुपये चुराकर भाग गया। उसने मित्र को वहुत खोजा। परन्तु उसका कही पता नही लगा।

अव लाभचन्द असमजस मे पड गया। वह सोचने लगा—'घर कैसे जाऊँ? नाक कटती है मेरी! और वहाँ कौन है मेरा? सब शत्रु ही तो है वहाँ? भले चोरी करूँगा? डाका डालूँगा! पर घर नही जाऊँगा! नही जाऊँगा! मत सताओ मुझे मन!' उसने अपनी कोमल भावनाओं को झटकार कर फेक दिया। फिर भी कभी-कभी उसके कानो मे माँ की आवाज गूँज उठती—'वेटा! तुझे अपने रक्त-माँस से पाला है ..' पर वह सोचता—यह मेरी कैसी कमजोरी है! ये सव मुँह देखी वाते है? मै घर से क्या निकला—उनका खटका मिटा। इस प्रकार लाभचन्द रौद्र वनता गया।

उसने भूख के मारे उठाईगिरी करना प्रारम्भ कर दी। वह कई वार पकडा गया और उसे सजा भी भुगतनी पडी। एक वार उसने वहुत वडी चोरी की। उसने सोचा था—इस वार इतनी सफाई से चोरी की है कि वह कभी पकड मे नही आयेगा। परन्तु गुप्तचरो के सजग प्रयत्नो मे वह कुछ ही दिनो मे पकड लिया गया।

लाभचन्द को दण्डाधिकारी के समक्ष खडा किया गया। दण्डाधिकारी को वह परिचित-सा लगा। उन्होने उससे पूछ लिया—

अपने भाइयो के प्रति ईर्ष्या पैदा हो गई और जब वह किशोर अवस्था मे पहुँचा, तब ईर्ष्या की आग और अधिक भडक उठी। कभी-कभी उसके व्यवहार मे उसके माता-पिता भी परेशान हो जाते थे।

दिन-दिन उसकी स्थिति विचित्र होती जा रही थी। अब वह घर मे बात-बात मे अपने को तिरस्कृत अनुभव करने लगा। पिता को इतना समय नही था कि उसकी भावना को समझते। माता उसकी मनोवृत्ति को कुछ-कुछ समझने लगी थी। वह ऐसा प्रयत्न भी करती थी कि लाभचन्द के मन को कुछ ठेस न पहुँचे। परन्तु लाभचद को इसमे भी कुछ छल की गध आती थी। उसे लगता था कि घर के सभी लोग मेरे शत्रु है। मै इनसे दूर ही दूर भाग जाऊँ--खूब दूर भाग जाऊँ और इनकी पकड मे ही न आऊँ तो कितना अच्छा !

उसकी ऐसी ही मनोवृत्ति मे उसका संग अपराधी वृत्ति वाले लडको मे हो गया। माता को जब इस बात का पता लगा, तब माता ने उनकी सगति करने से रोका। यह बात लाभचन्द को जहर के घूँट-सी लगी। वह एक दिन माँ से कह बैठा--'क्या मै बिलकुल गुलाम ही हूँ ! क्या मुझे किसी से मित्रता करने की भी आजादी नही है। क्या मुझे मेरी पसद का कुछ भी नही करने देगे आप ! आपके इस घर के पिजडे मे मुझे कुछ भी अच्छा नही लगता है।' माँ बेचारी उसकी बात सुनकर दग रह गई। माँ इतना ही बोली--'बेटा ! मैने तुझे अपने रक्त-माँस से पाला है। मै तेरा अहित होते कैसे देख सकती हूँ ? ' माता की बात सुनने के लिये वह वहाँ ठहरा नही। माता झिझक मे जाते हुए बेटे की पीठ ही देखती रह गई।

अब लाभचद घर मे बहुत ही कम रहने लगा। बुरी सगति से उसमे कई दोष उभरने लगे और एक दिन वह अपने घर से कुछ रुपये

कि करोति गुरुः प्राज्ञः, मिथ्यात्व-मूढ़-चेतसाम् ।
शिष्याणां पाप-रक्तानां, मखली-पुत्र-सदृशाम् ।।

१५ कषाय-मूला धृष्टता

धृष्टता के मूल मे प्राय कषाय रहता ही है और कषाय की तीव्रता से ही मर्यादा का अतिक्रमण होता है। परन्तु कभी कषाय अन्दर दवा रहता है और अभ्यास प्रधान रूप मे प्रतीत होता है तथा कभी कषाय वाहर उभरता हुआ प्रतीत होता है और अभ्यास गौण हो जाता है।

यहाँ अन्तिम कषाय लोभ से उदित धृष्टता के सम्वन्ध मे दृष्टान्त दिया गया है।

मेरे तो एक ही आँख

(कवित्त)

एक काना नर ख्याल—सिनेमा देखन गया,
'दीजे आधा टिकट'—यों बोला अभिमान से;
सिरसे पैर तक वो, देख बोला बाबू उसे—
'आधा कैसे माँगो तुम, पागल बेभान-से ।'
काना बोला—'बाबू! आप, देखी अनदेखी करें!
टिकट लें पूरी, देखें जो दो आँखों-ध्यान से,'
मेरे तो एक ही आँख, देखे सो ही दृश्य सारा'
कहे 'सूर्य मुनि' सुज्ञ हारत नादान से ।।१६।।

एक आँख वाले एक महानुभाव थे। उन्हे अपनी एक आँख का वहुत ही नाज था। वे अपने आपको वडे दक्ष और चतुर मानते थे। लोग उन्हे शुक्राचार्यजी कहा करते थे और वे भी अपने को शुक्राचार्य का अवतार मानते थे। उन्हे कोई शुक्राचार्य कहता तो वे फूले नही समाते थे। वे कहा करते थे—'दैत्यों का गुरु बनना क्या सरल है ?

'क्योंजी ! अब तक तुम कितनी बार सजा भुगत चुके हो ?' उसने सहजता से उत्तर दिया—'यों तो मैं आपके पास कई बार आ चुका हूँ। परन्तु आपकी कृपा से पाँच बार सश्रम कारावास भुगत चुका हूँ।' दण्डाधिकारी को उसका विकृत स्वर अच्छा नही लगा। उन्होंने कहा—'तब तो तुम्हे अब और कड़ी सजा मिलनी चाहिये।' लाभचन्द अब तक लज्जा की सीमा को पार कर चुका था। उसके लिये अपराध करना सहज हो गया था। उसका हृदय उदात्त भावनाओं से विमुक्त हो चुका था। वह हँसकर बोला—'अजी ! आप ऐसा क्यो कहते है ? जो स्थायी ग्राहक होते है, उन पर तो सभी दूकानदार रियायत करते है। मै भी आपका स्थायी ग्राहक हूँ। आप भी मुझ पर रियायत अवश्य करिये—आपको करना ही चाहिये। मै आपकी दूकान छोडकर कही जाने वाला थोडे ही हूँ और आप थोडी रियायत किया करेंगे तो मै जल्दी-जल्दी आ जाया करूँगा।'

उसकी बात सुनकर दण्डाधिकारी विचार करने लगे—'कैसा निर्लज्ज व्यक्ति है यह। इसके सुधार की आशा ही नही की जा सकती है ? इसके लिये आजीवन कारावास की सजा भी कम है।

कहे 'सूर्य मुनि' ऐसे लाज-हीन जन मिले,
ताको उपदेश दिये कौन लाभ लीजिये।

ऐसे पाप के अभ्यासी व्यक्ति निर्लज्ज बन जाते है और उनके चित्त मे मूढ़ता व्याप्त हो जाती है। उनको उपदेश देने से कुछ भी लाभ नही होता है। वे अपने को ज्ञानी मानकर ज्ञानियो का उपहास करने लग जाते है। जैसे—

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान लव दुर्विदग्धः, ब्रह्मापितं नरं न रंजयति ॥

उसकी ओर देखते हुए कहा—'क्या विशेषता है, तुममे ! कैसे बेभान हो तुम ! आधा टिकट माँगते तुम्हे शर्म नही आती ! चलो, हटो यहाँ से !' शुक्राचार्यजी ने रोबीली आवाज मे कहा—'आप इतने खफा क्यो होते है ? आपने मेरी विशेषता पर ध्यान ही नही दिया ! मैं हूँ शुक्राचार्य ! जो दोनो आँखो से फिल्म देखे, वे पूरी टिकट ले। मैं तो एक आँख से देखूँगा क्या मै न्याय की बात नही कह रहा हूँ ? बाबूजी ! आप देखी अनदेखी क्यो कर रहे है ?'

अब टिकट बाबू को भी हँसी आ गई। वह हँसता हुआ बोला—'बराबर बात है शुक्राचार्यजी ! आपकी ? आप आधे पैसे भी खर्च क्यो करते है। आप तो मुफ्त मे फिल्म देखिये और टाकीज वाले से ऊपर से हर्जाना भी लीजिये। क्योकि तुम्हे फिल्म देखने मे दुगना श्रम जो पडेगा !' बाबू ने उसकी उपेक्षा कर दी और वह दूसरे लोगो को टिकट देने लगा।

'यह धृष्टता का दूसरा रूप है। इससे प्रेरित होकर जीव लाभ तो उठाना चाहता है। परन्तु अपने साधनो का व्यय करना नही चाहता है और ऊपर से उपकार लादने की चेष्टा करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जीव परमार्थ का परिचय करना तो चाहता है। परन्तु परमार्थ के ज्ञाता का विनय, सेवा, उनके प्रति सर्वस्व-समर्पण करना नही चाहता है। ऐसे नादानो से ज्ञानी भी हार जाते है।'

प्रवीण—'क्रोधादि मूलवाली धृष्टता का कैसा स्वरूप है ?' 'जब किसी को धर्मानुष्ठान के लिये प्रेरणा दी जाती है, तब वह रोषाविष्ट हो जाता है और धर्म और धर्माराधको के प्रति असूया से भरे हुए वचन कहने लग जाता है। जैसे—'ये मुँहपत्तियाँ बाँधने वाले आगे बैठकर सामायिक करते है और फिर लोगो का गला काटते है।' 'ज्यादा

वडी वुद्धि हो तो उन्हे वश मे रखा जा सकता है। असुर लोग क्या कम चतुर थे। अहाहा! उनका गुरु वनना?' वस यह कहते-कहते तो वे मस्त हो जाते थे।

उस गाम मे नई-नई ही टाकीज वनी थी। उसमे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि फिल्मे लगने लगी। लोग फिल्मे देखने के लिये उमड पडते थे। एक वार एक ऐसा पौराणिक चित्र आया, जिसमे असुर-गुरु शुक्राचार्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वे कलिकाल के शुक्राचार्य कभी सिनेमा देखने नही जाते थे। किसी ने जव उन्हे कहा—'अरे शुक्राचार्यजी! जरा सिनेमा देखने जाओ तो सही। क्या कमाल किया है असुर-गुरु ने। देखोगे तो दग रह जाओगे।' तव शुक्राचार्यजी का सिनेमा देखने के लिये जाने का मन हो गया। वे भी टाकीज पर पहुँच गये और टिकट लेने के लिये कतार मे खडे हो गये।

शुक्राचार्यजी फिल्म देखने आ तो गये थे। पर वे लोभी जीव थे। उन्हें एक पैसा भी खर्च करना नागवार गुजरता था। वे पैसा वचाने की फिक्र मे पडे हुए थे। टिकट-वावू उसकी पहचान का था नही। इसी उधेडवुन मे वे खिडकी के समीप पहुँच गये। तव अचानक ही उनके मन मे आधे पैसे वचाने की तरकीव विजली के समान कौध गई। उन्होने अकड के साथ आधे पैसे जेव से निकाले और वावू को देते हुए कहा—'वावूजी! मुझे आधा टिकट दीजिये!' टिकट वावू आश्चर्य से वोला—'आधा टिकट!' 'हाँ आधा टिकट।' 'यहाँ वच्चे को भी आधा टिकट नही दिया जाता है तो तुम्हे कैसे दिया जा सकता है?' 'आप वच्चे को पूरा टिकट देते है—यह तो न्याय की ही वात है। पर आप मुझसे पूरा टिकट कैसे ले सकते है? जरा मेरी ओर देखे, तो आपको वात समझ मे आ जाएगी।' वावू झुंझलाया और गौर से

अच्छा नही लगता था। अतः वह ढेर सारे कपडे रखता था। उसका एक खास धोबी था। वह धोबी उसके वस्त्र वडे यत्न से धोता था।

राजेन्द्र ने कुछ वढ़िया ड्रेसे वनवाई। उनकी काट, सिलाई, उनका रंग, डिजाइन आदि उसे बेहद पसद थे। जव वह उन वस्त्रो को पहनता था, तव वह खिल उठता था। उसे वहुत प्यारे लगते थे वे कपडे।

उसका धोबी कही वाहर चला गया था। उसके वे प्रिय वस्त्र उसकी दृष्टि में मैले हो चुके थे। उसे किसी कार्य से वाहर जाना था। उसे उन कपड़ो की खास जरूरत थी। वह उन्हे जल्दी ही धुलवाना चाहता था। उसने दूसरे धोबी को बुलाया और वे वस्त्र उसे धोने के लिये दे दिये। उस धोबी का मन उन वस्त्रो को पहनने के लिए ललचा उठा। उसने वे वस्त्र कुछ घण्टो के लिये पहन लिये। परन्तु उसकी असावधानी से वस्त्रो की सिलाई टूट गई और वस्त्र फट गये।

उसने सावधानी से वस्त्र धोये। परन्तु उसके दुर्भाग्य से वे विशेष फट गये। उसको घवराहट तो हुई। पर उसने वडी चतुराई से वस्त्रो की तहे की और वस्त्र राजेन्द्र को सौपकर, पैसे लेकर चला आया।

जव राजेन्द्र वस्त्र पहनने लगा, तव रहस्य खुला। वे वस्त्र उसके किसी काम के न रहे थे। उसे दु ख हुआ और क्रोध भी आया। जव उसे वह धोवी मिला, तव उसने उसे डॉटते हुए कहा—'तुम कैसे धोबी हो! तुम्हे ढग से कपडे धोना भी याद नही है। तुमने मेरे सव कपड़े फाड़ दिये। एक-एक के दो-दो टुकडे कर दिये? क्या तुम्हे कुछ तमीज़ भी है?' धोबी ने वडी गभीरता से कहा—'क्यो साहव! क्या बुरा किया। आपके कपडे वहुत वढिया धोये। एक-एक के दो-दो कर दिये। क्या बुरा है भला! और मेरी भलमनसाहत तो देखिये कि

जाणे सो ज्यादा ताणे' 'इन धर्म करने वालो ने कौन-सा उजेला किया है। इनसे तो हम अच्छे है। महाराज! हमे धर्म-कर्म मे विश्वास नही है। हम तो नैतिकता मे विश्वास करते है' आदि यह क्रोधमूला धृष्टता का स्वरूप है। सयमियो को देखकर मुँह फेर लेना, उन्हे आदर देने मे लज्जा का अनुभव करना, उनके सन्मुख उद्धत व्यवहार करना, धर्मानुष्ठान करने मे अपनी हीनता समझना, धार्मिको-सयमियो को हीन समझना, धर्म और धार्मिको के प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करना, धर्मक्रिया करते हुए किसी पर अहसान लादने का भाव दरसाना आदि मानमूला धृष्टता के कार्य है और सयमियो के प्रति छल भरा व्यवहार करना, स्वय धार्मिक नही होते हुए भी अपने आपको धार्मिक बताना, धर्मानुष्ठान करने की प्रेरणा दिये जाने पर अपने आपको गृहकार्य मे अत्यन्त फँसा हुआ दिखाना आदि-मायामूला धृष्टता के कार्य है।'

१६. मिले शठ ऐसे जहाँ

(सवैया)

कपड़े तुम धोवत कैस बुरे,
दिये फाड़ सभी एक केसे दोय कीने;
तब धोबी कहे यों—'हजूर ! सुनो,
सब सुन्दर वस्त्र मे धोकर दीने।
कपड़े किये दोय तो भी मैंने दाम,
धुलाइ के आप से एक के लीने।'
'मुनिसूर्य' मिले शठ ऐसे जहाँ,
फल कौन हुवे समझावत झीने ॥१७॥

राजेन्द्र बढिया से बढिया कपडे पहनने का शौकीन था। वह नित्य ही वस्त्र बदलता था। वस्त्रो पर जरा भी सलवट पड़ जाती तो उसे

नयन-कीकियाँ, सुन्दर अधर, तीखी नाक, काली और चिकनी भौहे, गोरा वर्ण, मीठा स्वर आदि सभी मुग्ध कर लेते थे। वह सचमुच मे मन-मोहन था।

सगति दोष से या पूर्वजन्म के सस्कार से उसमे दोषो का उदय होने लगा। छोटी-सी वय मे ही वह होटलो के चक्कर काटने लगा। उसे खाने के बाजारू पदार्थ बहुत अच्छे लगते थे। चाट, चीवडा, कचौरी-समोसे आदि पदार्थ खाने के लिए वह लालायित रहता था। इसके लिए वह घर से पैसे भी चुरा लेता था। उसकी माँ ने एकाध बार उसे चोरी करते हुए पकड भी लिया। उसकी माँ ने उसकी इस चेष्टा का मूल खोजने की चेष्टा की। तब माता को उसकी कुसगति आदि की बाते विदित हो गई। जो अभी-अभी उसका स्वास्थ्य बिगड रहा था, उसका कारण भी मनमोहन की माँ समझ गई।

एक दिन उसने समय देखकर, मनमोहन को अपने पास बिठाया। उसने प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेरा। उससे मीठी-मीठी प्रेम भरी बाते की। फिर उसने प्रसगवश कहा—'बेटा! आजकल तुम्हारी तबियत बराबर नही रहती है!' 'हाँ, माँ! कभी पेट मे दर्द रहता है तो कभी माथा दूखता है!' 'लाल! इधर-उधर ज्यादा मत भटका करो!' 'माँ! मै भटकता तो नही हूँ!' 'देखो, बेटा! तुम्हे मै एक बात कहती हूँ। बाजार की चीजे अच्छी नही होती है। अण्ट-सण्ट चीजे मत खाया करो। इससे हाजमा खराब होता है।' 'माँ! तुम्हे कौन कह जाता है, ये सब बाते! सब झूठी बाते है? तुमने मुझे कही खाते हुए देखा हो तो बताओ?' माँ ने थोडे से रोष से कहा—'देखो, मनमोहन! तुम मुझे बनाओ मत। मै यहाँ घर मे

मैने कपडे धोये ; दो-दो और धुलाई ली एक-एक की ही । फिर भी आप मुझे ठपका देते हैं ।'

राजेन्द्र कुछ क्षण चुप रहा । फिर बोला—'अहसान मानूँ तुम्हारा कि तुमने कपडो के पुन दर्शन तो करवा दिये !'

'मुनिसूर्य' मिले शठ ऐसे जहाँ,
फल कौन हुए समझावत झीने ।

गुरुदेव कहते है—जो व्यक्ति दूसरे की हानि करके, उसमे उसका लाभ बताकर, ऊपर से अहसान लादता है, वह बहुत बडा दुष्ट है । ऐसे दुष्ट मनुष्य ऊपर से अनजान और भोले बनते है । परन्तु वह मौका देखते ही चट दूसरे की हानि कर डालते हैं और उपकारी का स्वॉग भरते हे । यदि ऐसे व्यक्ति को बहुत दक्षता से समझाया जाय तो भी सुन्दर फल मिलने की आशा नही है । यह उपकार छद्मा धृष्टता है ।

१७ पिता मुझे थे कहते

(सवैया)

'सुनिये मनमोहन ! आज तुम्हें,
बदकाम तजो तो मिठाई खिलाऊँ;
सुन मात की बात कहे लड़का—
'यह बात कभी करने नहि पाऊँ ।
कल क्योकि पिता मुझे थे कहते—
अरे ! रिश्वत लेना बुरा अति भाऊ';
'मुनि सूर्य' कहे जड़ बुद्धि जिन्हें,
उपदेश दिये फल कौन उपाऊ ।।१८।।

मनमोहन वड़ा सुन्दर वालक था । वह अपने माता-पिता को वहुत ही प्यारा था । उसका भोला मुखडा, वडी-वडी ऑखे, हँसती हुई

ननमोहन इस गभीरता से बोला, मानो वह कोई वहुत वडा रहस्य खोल रहा हो—'माँ ! कल ही मुझे पिता समझा रहे थे कि मनमोहन ! रिश्वत लेना वहुत बुरा है। अपने आदर्श की रक्षा के लिए प्राण त्याग देना अच्छा है, पर रिश्वत लेना अच्छी नही है और एक तुम हो जो मुझे रिश्वत की लालच दे रही हो ! मै कदापि तुम्हारी वात नही मान सकता हूँ !' माँ ने आश्चर्य से कहा—'मै ? अरे मै तुम्हे रिश्वत लेना सिखा रही हूँ ?' मनमोहन ने उसी लहजे मे कहा—'हाँ, माँ ! तुम मुझे घर मे मिठाइयाँ आदि वनाकर खिलाने की वाते कह रही हो न ! यह मुझे तुम्हारी इच्छानुसार चलाने के लिए दी जाने वाली रिश्वत नही है क्या ? मेरा चटोरपन तो मिटेगा नही और ऊपर से रिश्वत लेने की आदत हो जाएगी सो अलग ?' माता अपने बेटे की वक्रता से भरी विद्वत्ता देखकर अवाक् रह गई।

'मुनिसूर्य' कहे जड बुद्धि जिन्हे
उपदेश दिये फल कौन उपाऊ ।

जो अपने दुर्गुणो पर गुण का आवरण डाल देता है, ऐसा व्यक्ति जड और वक्र बुद्धि वाला होता है। वह अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है। ऐसे व्यक्ति का सुधरना दु सभव है। वे उपदेश पाने के योग्य पात्र नही होते है ! उन्हे धर्म-शिक्षा देने पर कौनसा फल निष्पन्न हो सकता है ? वे उल्टे शिक्षादाता का अपमान करते है और अपने दुर्गुणो को उचित ठहराते है। यह 'गुण छद्मा' ढीठता है।

मिथ्यात्व से हानि

ऋषभदासजी 'दृष्टि-वर्ग' अर्थात् 'भ्रम के फेरे' शीर्षक प्रकरण को पूरा करते हुए बोले—'यह प्रथम वर्ग पूरा हो रहा है। दृष्टि के विकार

रहती हूँ तो क्या हुआ ? मुझे क्या पता नही चलता है ?' वह बात उडाने की गरज से बोला–'अच्छा, तुम्हे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है ?' माँ ने जरा तेज स्वर से कहा–'दिव्य दृष्टि की बात कहते हो तुम ! क्या मेरे आँखे नही है। मै तुम्हारे घर के व्यवहार से बाहर की बाते भी भाँप लेती हूँ ! पर ये बाते सिर्फ भाँपी हुई नही है। तुम घर मे बराबर भोजन नही करते हो ! रोज का तुम्हारा हाथ खच कितना हो जाता है–यह भी मुझ मे छिपा हुआ नही है। तुम इतने पैसे कैसे और कहाँ से पाते हो–यह भी जानती हूँ। अभी-अभी तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा नही रहता है–कभी तुमने इसका कारण सोचा है ? देखो, बेटा ! यह बाजार मे चरना अच्छा नही है। छोड दो-इन बुरी आदतो को।' 'माँ ! तुम तो तिल का ताड बना रही हो। कभी-कभी बाजार मे खा लेता हूँ ! क्या करूँ–घर मे मेरी पसंद की चीजे ही नहीं बनती है ! तो फिर बाहर नही खाऊँ तो क्या करूँ ?' माँ ने अपने स्वर मे कोमलता और दुलार उंडेलते हुए कहा–'देखो, बेटा ! ज्यादा चटपटी चीजे खाना–स्वास्थ्य का नाश करना है ! मेरे लाल ! तुम नाराज मत होओ। मै घर मे बढिया से बढिया मिठाइयाँ बनाऊँगी। तुम्हे पसद आएगी ऐसी चीजे भी बनेगी। बस, मै चाहती हूँ कि तुम इस बुरी आदत को छोड दो। क्योकि यह आदत अनेक बुरी आदतो की जननी है।'

माँ का कुसग, चोरी छुड़ाने आदि का इरादा मनमोहन भलीभाँति समझ चुका था। पर ये बाते बुरी तो माँ की दृष्टि मे थी। उसकी दृष्टि मे तो वह जीवन का आनन्द लूटने का रास्ता था। इसलिए वह मुँह बनाकर बोला–'माँ ! तुम्हारी यह बात अच्छी नही है ! तुम माँ होकर मेरी आदत बिगाड रही हो !' मनमोहन की बात सुनकर माँ चौक उठी। वह बोली–'क्या कहते हो ? मै तुम्हारी आदत बिगाड रही हूँ ?'

तृणोत्पत्ति-मूलं यथा तस्य बीजम्,
तथा कर्म-मूलं च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥

जैसे वस्त्र की उत्पत्ति का कारण सूत है, घडे की उत्पत्ति का कारण मिट्टी का पिण्ड है, तृणादि की उत्पत्ति का कारण उसका बीज है, वैसे ही जिनेश्वर देवो ने कर्म का मूल कारण मिथ्यात्व कहा है ।

मिथ्यात्व के भेद

प्रमोद—'नानाजी ! आपकी वहुत कुछ वाते अव समझ मे आने लगी है । पहले हम वडे अज्ञानी थे । अव ज्ञान की कुछ झलक-सी मिली है । मिथ्यात्व के विषय मे अव वात पूरी हो गई ?' 'मिथ्यात्व के विपय मे वहुत कुछ कहा जा चुका है । आवश्यक सूत्र के प्रतिक्रमण आवश्यक म पच्चीस मिथ्यात्व वताये गये है । वे इस प्रकार है—(१)जीव मे अजीव सजा, (२) अजीव मे जीव सज्ञा, (३) धर्म मे अधर्म सज्ञा, (४) अधर्म मे धर्म सज्ञा, (५) मार्ग मे अमार्ग सज्ञा, (६) अमार्ग मे मार्ग सजा, (७) साधु मे असाधु सज्ञा, (८) असाधु मे साधु सज्ञा, (९) मुक्त मे अमुक्त सज्ञा, (१०)अमुक्तमे मुक्त सज्ञा, इन दसो के विषय मे पहले स्पष्टत कहा जा चुका है और शेप पन्द्रह मिथ्यात्व के विषय मे विना उनके नामोल्लेख के प्राय वताया गया है।' विनोद—'अव नामोल्लेख के साथ वताने की कृपा कीजिये ।'

'पॉच मिथ्यात्व मति की हीन अवस्था को दरसाते है । यथा (११) अभिग्रहिक मिथ्यात्व, (१२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व, (१३) अभिनिवेशिक मिथ्यात्व, (१४) साशयिक मिथ्यात्व, और (१५) अनाभोग मिथ्यात्व । किसी भी एक मिथ्यामत मे—'यही शुभ है, अन्य नही'—ऐसी मति की पकड अभिग्रहिक मिथ्यात्व है । 'सभी दर्शन शुभ है'—ऐसी मति की मध्यस्थ वृत्ति अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है'—

धृष्टता

को भगवान ने मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व जीव के लिए अत्यन्त दु खकारक है–

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तमः।
मिथ्यात्वं परमः शत्रु-र्मिथ्यात्वं परमं विषम् ॥

मिथ्यात्व समस्त रोगो का कारण होने से परम रोग है, अज्ञान का कारण होने से परम अन्धकार है, जीवन के अहित का मूल होने से परम शत्रु है और आत्मगुणो का घातक होने से परम विष है।

जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगो ध्वान्तं रिपुर्विषम् ।
अपि जन्म-सहस्रेषु, मिथ्यात्व-मचिकित्सितम् ॥

रोग, अन्धेरा, शत्रु और विष तो एक ही भव मे दु ख के कारण बनते है। परन्तु मिथ्यात्व को नष्ट नही करने पर, वह हजारो भवो तक दु ख का कारण होता है।

मिथ्यात्व भयकर भाव शल्य है। जैसे शल्य मार्ग मे चलने से रोकता है, वैसे ही मिथ्यात्व मोक्षमार्ग को न तो समझने ही देता है और न उसमे गति ही करने देता है–

दुर्वचनं पराधीनं, शरीरे कष्ट कारकम् ।
शल्यं शल्यतरं तस्मात्, मिथ्यात्वं शल्यमात्मनि ॥

जैसे शरीर मे पराधीन दुर्वचन-शल्य कष्टकारक होता है, उससे बढकर कष्टकारक आत्मा मे मिथ्यात्वरूपी शल्य है।

मिथ्यात्व प्रमुख पाप और महान् आस्रव द्वार है–

पटोत्पत्ति-मूलं यथा तन्तु-वृन्दं,
घटोत्पत्ति-मूलं यथा मृत्समूहः ।

नही करना–यह अभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। यह अपनी बुद्धि की आसक्ति है। जैसे–

सत्य को मन सत्य जाने
कीर्ति की पर ओट ताने
बुद्धि की रति छोड़, चेतन !

'तत्त्व के विपय मे बुद्धि का डावॉडोल रहना–साशयिक मिथ्यात्व है।' विनोद–'नानाजी ! संशय नही करने पर हम तत्त्व को कैसे पा सकते है ? आज के कई मनीषी कहते है–हमे सदा सशयशील रहना चाहिये !' 'वस्तु-स्वरूप को नही जानने से हृदय मे जो संशय उठता है, यदि उसे जिज्ञासा के रूप मे वदल ले तो संशय सत्य को पाने का द्वार हो सकता है। नही, तो सशय सत्य का द्वार वन्द कर देता है। अत्यधिक संशय वुद्धिवाद की अति है। जैसे–

ग्रन्थि - मोचक - राह है यह !
सत्य है यह, या न है यह !
बुद्धि की अति छोड़, चेतन !

अनजाने ही विना सोचे समझे तत्व के अनिर्णय की स्थिति मे रहना–अनाभोगिक मिथ्यात्व है। यह मति-मदता की स्थिति है। यथा–

मूढ़ हो सोचे न समझे
रूढि में 'अणु' नैन उलझे
बुद्धि की क्षति छोड़, चेतन !
तत्त्व में मति जोड़, चेतन !
हेय से मति मोड़, चेतन !

प्रवीण बीच में बोल उठा–'नानाजी ! यह बात मानना तो अच्छी है। आज तो बड़े बडे विचारक कहते है कि सभी दर्शन एक ही सत्य को पाने की विविध शैलियाँ है और सभी धर्म एक ही सत्य को पाने की विविध राहे है। क्या ऐसा मानना बुरा है?' 'भैया ! सभी दर्शनो में सत्य का अश होता है। परन्तु वे दूसरे सत्याशो का विरोध करते है। इसलिए वे भी मिथ्या हो जाते है तथा अनाप्त से कहे हुए होने के कारण उनमे कल्पना आदि कारण से मिथ्या अश भी मिल जाते है। उन मिथ्या-दर्शनों से प्रेरित होने के कारण धर्मो की भी ऐसी ही स्थिति हो जाती है। इसलिए असत्य और सत्य दोनो मे मध्यस्थ बुद्धि रखने से असत्य का समर्थन और सत्य की उपेक्षा होती है। वस्तुत मध्यस्थ बुद्धि के द्वारा सत्यदर्शन का निर्णय करके सन्मार्ग को ग्रहण करना चाहिए और अन्य का परित्याग करना चाहिए सत्य तत्त्व के निर्णय के बाद उसके प्रति मध्यस्थ-बुद्धि नही, परन्तु आग्रह बुद्धि रखना ही उचित है। सत्य तत्त्व का निर्णय न करना–यह बुद्धि का ठहराव या गति-अवरोध है। इन दोनो प्रकार के मिथ्यात्व के विषय मे इस प्रकार कहा है–

गलत मत मे प्रीति दृढ़ जो
सत्य-रोधक-नीति-गढ़ जो
वह मृषा-नति छोड़, चेतन !
तत्त्व में मति जोड़, चेतन !
मत - परीक्षण को न जाना
सर्व मत को सत्य माना
बुद्धि की स्थिति छोड़, चेतन !

सत्य को सत्य रूप मे जानते हुए भी, अपने द्वारा प्रतिपादित मत के आग्रह के कारण अपने मत का ही आग्रह रखना–सत्य को स्वीकार

पथिक के प्रति द्वेष अर्थात् समस्त दोषो से रहित और समस्त निर्मल गुणों से युक्त जीव की अवस्था, सद्‌गुणो और गुणो के आराधक या गुणो के सन्मुख होने वाले जीव के प्रति अरुचि । इसलिए जव तक जीव की ऐसी स्थिति रहती है, तव तक तप, त्याग, ध्यान आदि भी यथार्थ फलप्रद नही होते है—विपरीत फल ही देते है । यथा—

ध्यानं दुःख-निधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम्,
स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध एव कुधियां तेऽभिग्रहाःकुग्रहा ः।
अश्लाघ्या खलु दान-शील-तुलना तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीन मन्यदपि यत्तत्सर्व-मन्तर्गडुः ।।

सम्यक्त्व से रहित (मिथ्यात्व मे) ध्यान दु ख का निधान ही है, तप का फल सन्ताप मात्र है, स्वाध्याय भी बुरी बुद्धि की पकड़ है, अभिग्रह कुग्रह है, दानशील का मूल्याकन अप्रशसनीय है, तीर्थ आदि की यात्रा वृथा है । अर्थात् मिथ्यात्व मे जो कुछ भी प्रशस्त क्रियाएं की जाती है, वे सभी भीतरी गाठ के समान है ।

भगवान महावीर देव इस विषय मे फरमाते है—

नादंसणिस्स णाणं, नाणेण बिना न हुंति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।

—उत्तर० २८।३०

मिथ्यादर्शनी को ज्ञान नही होता है । ज्ञान के विना चारित्र के गुण नही होते है । अगुणी को मोक्ष प्राप्त नही होता है और अमुक्त को निर्वाण प्राप्त नही हो सकता है अर्थात् सम्यग्‌दर्शन ही समस्त क्रियाओं की सफलता का मूल है ।'

'ऐसा कैसे हो सकता है ?' 'जैसे कोई पापात्मा धन कमाता है तो पाप का ही पोषण करता है, वैसे ही जिसकी दृष्टि मे भव और भव

'तीन मिथ्यात्व वस्तु को विषय करते है। पदार्थ तीन प्रकार के है–(१) लौकिक, (२) लोकोत्तर; और (३) कुप्रावचनिक-मान्य। अत. इनके विषय मे मिथ्यादृष्टि होना तद्तद् विषयक मिथ्यात्व कहलाता है। (१६) लौकिक रूढियो आदि मे धर्म मानना–लौकिक मिथ्यात्व है। (१७) अरिहन्तादि लोकोत्तर देव, गुर्वादि से सांसारिक फल की चाह रखना श्लोकोत्तर मिथ्यात्व है; और (१८) अन्य मत के देवादि मे श्रद्धा रखना–कुप्रावचनिक मिथ्यात्व है–

'तीन मिथ्यात्व दृष्टि-शुद्धि के साधन निर्ग्रन्थ-प्रवचन को विषय करते है। (१९) जिन प्रवचन के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो से अधिक कथन करना–अधिकोदीरित मिथ्यात्व है, (२०) व (२१) जिन प्रवचन मे प्रतिपादित अर्थो से न्यून या विपरीत रूप से कहना–न्यूनोदीरित मिथ्यात्व और विपरीत मिथ्यात्व है।

'शेष चार मिथ्यात्व क्रिया से सम्वन्धित है। (२२) ज्ञान का निषेध करना और क्रिया का एकान्त आग्रह करना–अज्ञान मिथ्यात्व है। (२३) क्रिया का निषेध करना–अक्रिया मिथ्यात्व है। (२४) वडो का या ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न आत्मा का अविनय करना अविनय मिथ्यात्व है, और (२५) उनकी आशातना करना–आशातना मिथ्यात्व है।'

मिथ्यात्व कैसे जाय ?

मृदुला–'मिथ्यात्व कैसे जाय, नानाजी !' 'विटिया ! सक्षेप मे मिथ्यात्व का स्वरूप है–भव और भव के कारणो के प्रति राग अर्थात् कर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाओ और कर्म-वन्ध के कारणो के सेवन मे आनन्दानुभव तथा मोक्ष, मोक्ष के कारण और मोक्षमार्ग के

'अब यह बतलाता हूँ कि मिथ्यात्व से परे होने की व्यावहारिक प्रक्रिया क्या है ? मोक्ष, मोक्ष के साधन और मोक्षमार्ग के पथिको के प्रति राग पैदा हो—उनके लिये सर्वस्व त्याग देने की बुद्धि हो और भव और भव के कारणो के प्रति अरुचि हो—उनका परित्याग करने की बुद्धि हो—ऐसे उपायों का सेवन करना, मिथ्यात्व के क्षय और सम्यक्त्व की प्राप्ति का व्यावहारिक साधन है। जैसा कि भगवान ने कहा है—

परमत्थ-संथवो वा, सुदिट्ठ-परमत्थ-सेवणा वावि ।
वावन्न-कुदंसण-वज्जणा य सम्मत्त-सद्दहणा ।।

—उत्तर० २८

(१) परमार्थ—जीव आदि तत्त्वों का परिचय करना, (२) परमार्थ के प्रतीति सहित ज्ञाता—आचार्य, उपाध्याय आदि की उपासना, सेवाभक्ति आदि करना, (३) सम्यक्त्व से पतित; और (४) मिथ्या-दृष्टि की सगति नही करना—यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है। अर्थात् इन चारों उपायो के सेवन करने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।'

'परमार्थ का परिचय कैसे करे ?' 'परमार्थ के परिचय के तीन उपाय है—श्रवण, ज्ञान और विज्ञान। पहले जीवादि तत्त्वो के विषय मे विनय सहित सुनना। फिर उस ज्ञान को अपनी स्मृति मे सजोना—यह ज्ञान है। हेय तत्त्वो का हेय रूप मे, ज्ञेय तत्त्वो का ज्ञेय रूप मे और उपादेय तत्त्वो का उपादेय रूप मे बार-बार चिन्तन करके, वैसी रुचि को उत्पन्न करना—विज्ञान है। इस प्रकार परमार्थ का परिचय किया जाता है।'

'मिथ्या दृष्टि की सगति नही करना—यह सकुचित दृष्टि नही है?' प्रमोद बोला—'और सगति मात्र से क्या हानि है ?' 'प्रमोद ! अपने भावो की सुरक्षा के लिए यह सावधानी आवश्यक है। यह संकुचित

के कारण ही ग्राह्य है, वह धर्मानुष्ठान करते हुए भी, उन क्रियाओ से भव-वृद्धि ही करता है। इस विषय मे गुरुदेव से सुना था कि जैसे किसी व्यक्ति को पूर्व मे स्थित किसी ग्राम मे जाना है। परन्तु वह पश्चिम मे चल पडता है। वह जितना तेज चलता है, उतना ही अपने जाने के स्थान से दूर होता जाता है। इसी प्रकार सही आत्म-लक्ष्य के निर्णय के विना साधना करनेवालो की भी ऐसी ही स्थिति है।'

विनोद–'तो फिर जब तक आत्मलक्ष्य का निर्णय नही हो, तब तक धर्माचारण नही करना चाहिए।' 'नही, यह आशय वरावर नही है। मिथ्यादृष्टि आत्मा की भी कुछ न कुछ क्रिया होगी ही। शुभ क्रिया नही की जाएगी तो अशुभ क्रिया होगी। तो फिर अशुभ क्रिया करने की अपेक्षा शुभ क्रिया करना अच्छा है। परन्तु, उसे लक्ष्य-निर्णय का प्रयत्न करते रहना चाहिए। आत्म-लक्ष्य के निर्णय की चाह पूर्वक शुभानुष्ठान करने पर उसमे सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न होती है। यथा—

भाषा-बुद्धि-विवेक-वाक्य-कुशलः शंकादि-दोषोज्झितः,
गम्भीरः प्रशमश्रिया परिगतो वश्येन्द्रियो धैर्यवान्।
प्रावीण्यं हृदि निश्चयेन सहितो भक्तिश्च देवे गुरौ,
कारुण्यादि-गुणैरलंकृततनुः सम्यक्त्व-योग्यो भवेत्॥

जो भाषा मे वुद्धि और विवेक से युक्त वाक्य प्रयोग मे कुशल हो, शका आदि दोषो से मुक्त हो, गम्भीर तथा प्रशम गुण रूप लक्ष्मी से सम्पन्न हो, अपनी इन्द्रियो को वश मे रखने वाला धैर्यवान् हो, हृदय मे चतुरता, निश्चयवल और देव-गुरु मे भक्ति वाला हो और कारुण्य आदि गुणो से अलकृत शरीर वाला हो, ऐसी आत्मा सम्यक्त्व-लाभ के योग्य है।

ज्ञान-स्कन्ध :

अज्ञानवर्ग

(अज्ञान की छाया)

अन्नाणं परियाणामि,
नाणं उवसंपवज्जामि ।

—मै अज्ञान को जानता हूँ—उसका परित्याग करता हूँ और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ ।

—आवस्सयसुत्त

मिथ्यात्वमय अनादि, अज्ञान तम भरा है;
शुद्ध ज्ञान का उजेला, करजे तू विश्व-स्वामिन् !....

अधम मूर्ख अज्ञान,
कियो ना जिन पथ मैं धारण ।

—गुरुदेव

भद्रमुनि ने कहा—'दूसरा वर्ग है—अज्ञान की छाया । इसमे दो अध्याय है । पहले अध्याय में ज्ञान-प्राप्ति के बाधक कारणो का और दूसरे अध्याय मे अज्ञान के विविधरूपों का वर्णन किया गया है ।

'यहाँ अज्ञान का मतलव ज्ञान का अभाव नही, किन्तु कुत्सित ज्ञान है अर्थात् जिस समझ के द्वारा पदार्थो को विपरीत रूप से या विकृत रूप से जाना जाता है, वह अज्ञान है । यथा—

मनोवृत्ति नही है। क्या तुमने सग दोप से लोगो को अपराध करते हुए नही सुना है! सामान्य जन पर संगति का प्रभाव भी पडता ही है और जिन भावो की रुचि का परित्याग करना हो तो उन-उन रुचि वालो की सगति भी छोडनी होगी।

'अन्यत्र सम्यक्त्व-प्राप्ति के समय की आत्म-रुचि और सम्यक्त्व प्राप्ति के हेतु इस प्रकार वर्णित है—

आरंभ-परिग्रह दोइ ए, तेइ विपय कषाय।
जब लग पतला न पड़े, नहि समकित आय॥
इम समकित मन थिर करो ३
आतम-लोक-कर्म क्रिया, शुद्ध वाद है चार
चितवता समकित लहै, जीव जगत मझार-इम० ४

—समकित छप्पनी

'जब तक आत्मा आरम्भ परिग्रह को और विपय तथा कषाय को हेय-छोडने योग्य नही मानता और उन्हे अल्प या मन्द नही करता, तब तक मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्त्व प्रकट नही हो सकता है। आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद अर्थात् जीव-स्वरूप, लोक-स्वरूप, कर्मस्वरूप और क्रिया-स्वरूप का चिन्तन करते हुए जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। ये चारो वाद प्राय नव तत्त्व मे गर्भित हो जाते है।

'मिथ्यात्व शल्य को ज्यो बने त्यो जल्दी ही अन्तर से निकाल देना चाहिए—

स्वाध्यायेन गुरोर्भक्त्या, दीक्षया तपसा तथा।
येन केनोद्यमेनैव, मिथ्यात्व-शल्य-मुद्धरेत्॥

स्वाध्याय से, गुरु की भक्ति से, दीक्षा से या तपश्चरण से, जिस किसी भी उद्यम से—आभ्यन्तर पुरुषार्थ से मिथ्यात्व रूपी शल्य को निकाल डालो और परम शान्ति का अनुभव करो।'

जीव का लक्षण ज्ञान कहते है, उस समय हम ज्ञान शब्द से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनो को ग्रहण कर लेते है। जैसे कि जल शब्द से मैला और निर्मल दोनो प्रकार का जल गृहीत होता है। यहाँ अज्ञान का अर्थ मैला ज्ञान-मिथ्याज्ञान है। जीव अनादि काल से मोह से ग्रस्त है। अत वह अनादि से मन्द-ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे हीनता वाला है।'

प्रमोद—'नानाजी ! कई व्यक्ति ज्ञान की वडी-वडी वाते करते ह। फिर भी उनके जीवन मे अज्ञानियो से कुछ भी विशेषता नही होती है। ऐसे ज्ञान से अज्ञान अच्छा।' 'वेटा ? यह निष्कर्ष अच्छा नही है ? हॉ, यह मै जानता हूँ कि कई मनुष्य ज्ञान की वाते करते है, परन्तु उनका जीवन विलकुल कोरा होता है। इसीलिए कवि कहते है— '**कथनी कथे सहू कोई, रहनी अति दुर्लभ होई**। परन्तु कथनी तो वाहर का भाव है और ज्ञान अन्तर का। तुम ज्ञानी के अन्तर को कैसे जान सकते हो। हो सकता है, अन्तर मे अज्ञान का वेदन करता हो या ज्ञान का वेदन करता हो। मान लो, वह वुरे चारित्र वाला हो, परन्तु यदि वह सत्य को निश्छलता से सत्य कह रहा हो तो क्या वुरा है। दूसरी वात, ज्ञान से ही जीव चारित्र को सुधार सकता है। यथा—

अन्नाणी किं काही, किं वा नाही य सेय-पावगं

—दस वेयालिय; ४।१०

अज्ञानी क्या करेगा ? अथवा श्रेय या पाप को क्या जानेगा ? अर्थात् हेय-उपादेय को न जानेगा तो क्या करेगा ?

अज्ञानी जीव मोह में ही डुवकियाँ भरता रहेगा और जो मोह मे वार-वार फँसता है, उसका न तो यह लोक ही सुधरता है और न परलोक ही—

कार्याकार्यं न जानाति, गम्यागम्यं च तत्त्वतः ।
भक्ष्याभक्ष्यं न बुध्यन्ते, पेयापेयं च सर्वथा ।।

अज्ञानी मनुष्य वास्तविक रूप से कार्य-अकार्य को और इष्ट-अनिष्ट को नही जानता है तथा भक्ष्य-अभक्ष्य और पेय-अपेय को पूर्ण रूप से नही जानता है ।

भगवान् ने कहा है—**मंदा मोहेण पाउडा**--अज्ञानी मोह से घिरा रहता है । ऐसा जीव कल्पित तर्कों से धर्म-अधर्म को कहता है। परन्तु वह दु ख से मुक्त नही हो सकता है । यथा—

एवं तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ।

सू १।१।२।२२

जावंत ऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख-संभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ।।

—उत्तर; ६।१

८.

ज्ञान क्यों न हुआ ?

ऋषभदासजी ने कहा—'अनादि काल से जीव पर अज्ञान की काली छाया मडरा रही है । ज्ञान की एक किरण भी वह न पा सका ।'

प्रवीण—'नानाजी ! आप तो कहते थे कि जीव ज्ञान-स्वरूप है । उसकी पहचान ही ज्ञान से होती है । तो फिर उसमें अज्ञान कैसे आ गया ।'

'बेटा ! तुम्हारी बात सही है—मैंने ऐसा ही कहा था । पर जब हम

में पाई जाती है । पञ्चेन्द्रिय जीवो मे पाँचो इन्द्रियाँ पाई जाती है । पञ्चेन्द्रिय जाति मे नैरयिक, पशु आदि, मनुष्य और देव इन चार प्रकार के जीवों में मनुष्य को ही ज्ञानाभ्यास का अधिकार प्राप्त हुआ है—**'चार गतिन में मनुज को, पढबे को अधिकार ।'** इसलिए मनुष्य ही प्राय: अज्ञान को दूर भगा सकता है—अन्य नही । मनुष्य को भी अज्ञान दूर करने मे वडी कठिनाई पडती है । क्योकि अज्ञान दूर न होने के, जीव की अविकसित दशा, दृष्टि की विकृति, पुरुषार्थ की मन्दता आदि आभ्यन्तर कारण है और कुगुरु की सेवा, इन्द्रियो की विकलता, सुगुरु से विमुखता आदि वाह्य कारण है। दूसरी वात, जीव को अपनी अज्ञानता का पता ही नही चलता है । इस अध्याय मे अज्ञान दूर न होने के कारणो की ही चर्चा की गई है ।

१८. खुद गाली को न छोड़ें

(कवित्त)

मास्टर यों लड़के पे होकर नाराज बोले—
'अरे बदमाश ! पाजी ! कहीं का शैतान तूं;
नालायक ! बदजात ! मैंने कई वार कहा—
साले ! किसी को न दे गाली, रख ध्यान तूं ।
हरामजादे ! सूअर ! उल्लू के पट्ठे ! कुत्ते पे,
जरा न असर पड़ा ! अब भी ले मान तूं';
कहे 'सूर्यमुनि' ऐसे खुद गाली को न छोड़े
फिर उपदेशदेवे, वाह ! बुद्धिमान तूं ।।१९।।

हेमचन्द्र ने जिस कुल मे जन्म लिया था, उस कुल मे कभी क्रोध में भी किसी के मुंह से तुच्छ सम्बोधन नही निकलता था । फिर वहाँ

इत्थं मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए–

–आचारांग; १।१।२

इसलिए अज्ञान वहुत ही भयंकर है। अज्ञान को कभी भी अच्छा नही कहा जा सकता है। जैसे कि सूक्तियाँ है–

अज्ञानं नरको घोरस्तमोरूपतया मतम् ।
अज्ञानमेव दारिध्र-मज्ञानं परमोरिपुः ।।
अज्ञानं रोग-संघातो जरा ह्यज्ञानमुच्यते ।
अज्ञानं विपदः सर्वा अज्ञानं मरणं मतम् ।।

अर्थात् अज्ञान ही घोर नरक, दारिध्र, परम शत्रु, रोगों का समूह, वुढापा और मरण है अर्थात् अज्ञान ही समस्त विपदाओ से युक्त है। अनन्तकालीन अभ्यास के कारण ही जीव अज्ञान को अच्छा या सुखरूप मानता है।'

मृदुला–'जो अज्ञान दु खरूप है, तो वह जीव से दूर क्यो नही होता है?' 'एकेन्द्रिय आदि जीवो मे न तो अज्ञान दूर करने की योग्यता ही है और न उन्हे वैसी सामग्री की उपलब्धि होती है। पचेन्द्रियो मे मनुष्य को ही आध्यात्मिक विकास के लिए विशिष्ट सामग्री प्राप्त हो सकती है।' विनोद–'एकेन्द्रिय आदि का क्या मतलव?' 'जीव की पॉच जातियाॅ है–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इन्द्रिय अर्थात् जीव का चिन्ह या ज्ञान-प्राप्ति के साधन विशेप। इन्द्रियाँ पाँच है–श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन। जिस जाति के जीवों मे मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय पाई जाती है, उन्हें एकेन्द्रिय कहते है। इस प्रकार क्रमश· स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय आदि उल्टे क्रम से दो, तीन आदि इन्द्रियाँ क्रमशः द्वीन्द्रियादि जीवों

गये। उन्होंने अध्यापक को एक तरफ बुलाया और उनसे सारी घटना कह सुनाई और कहा—'आप ऐसी शिक्षा दीजिये कि जिससे कुमार हेमचन्द्र अशिष्ट शब्द बोलना ही भूल जायँ।'

अध्यापक को दूसरी वार शिकायत आने से वहुत क्रोध आया। उसके पिता के पीठ फेरते ही अध्यापक जोर से गरजे—'अबे! हेमचन्द्र! इधर आ।' हेमचन्द्र डरता हुआ शिक्षक के समीप आया। अध्यापक तमतमाते हुए बोले—'अरे वदमाश! पाजी! शैतान! कही के! नालायक! नीच! बेवकूफ! मैने तुझे कितनी वार कहा कि घर पर किसी को गाली मत दिया कर! साले! इस वात का ध्यान रखना। परन्तु हरामजादे! सूअर! ऐ कुत्ते! तुझ पर कुछ भी असर नही हुआ! हरामखोर! अव भी मान ले!'

अध्यापक बोल ही रहे थे कि इतने मे वीरचन्द्र ने पुन प्रवेश किया। वे अध्यापक से बोले—'वस कीजिये! मै समझ गया कि कुमार ये सव वाते कहाँ से सीखते है! हेमचन्द्र! घर चलो!'

वे हेमचन्द्र को लेकर चले गये और अध्यापक सकपकाये-से उन्हे देखते ही रह गये।

उपास्य और अनुपास्य गुरु

'अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और दोषो से अविरत गुरु की चरण-सवा से ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती हैं। अथवा जो दोषो से मुक्त नही है, उसकी शिक्षा-प्रणाली दूपित हो जाती है। कदाचित् वह उत्तम शिक्षा भी देता हो, पर उसकी विपरीत प्रवृत्ति से—विपरीत शिक्षा-पद्धति से शिक्षार्थी अज्ञान को ही ग्रहण करता है। अत जो ज्ञानी और विरत हो, उसी की शिक्षा लाभप्रद हो सकती है। कैसे गुरु अनुपास्य और कैसे गुरु उपास्य है?—इस विपय मे इस प्रकार कहा है—

अपशव्द या गाली के प्रयोग की तो कल्पना ही नही की जा सकती थी। कुल के सभी सदस्य आवेश मे भी अपना नियन्त्रण नही खोते थे। वे परस्पर आदर-सन्मान से युक्त सम्बोधन करते थे। वार्तालाप मे उच्च सस्कार-सम्पन्न भाषा का प्रयोग करते थे। वहाँ बड़े भी छोटो को 'आप' कहकर बुलाते थे—'तू, तुम' शब्दो से नही। एक वार हेमचन्द्र ने उसकी छोटी-वहन को तुच्छ शब्द कहे। यह वात उसके पिता वीरचन्द्र ने सुन ली। वीरचन्द्र को अपने पुत्र के तुच्छ व्यवहार से वडा आश्चर्य हुआ। वीरचन्द्र ने हेमचन्द्र को एकान्त मे बुलाया और उसे वडे प्रेम से अपने पास विठाकर समझाया—'वत्स! भले ही आपकी वहन आप से छोटी है। पर आपको उसे तुच्छ शब्दो से नही वुलाना चाहिये ..' हेमचन्द्र ने अपने पिता की यह वात चुपचाप सुन ली।

एक दिन पिता ने हेमचन्द्र को अपने वडे भाई से कलह करते पाया। तव उसके पिता ने सोचा इनके शिक्षक को कहूँ कि वे हेमचन्द्र को उचित शिष्टाचार की शिक्षा दे। पिता ने हेमचन्द्र के शिक्षक को इस वात का सकेत किया। कुछ दिन वीत गये। एक दिन किसी कारण से हेमचन्द्र उसकी माँ से उलझ गया और उसने अपनी माँ को एक-दो गालियाँ भी दे दी। माता हेमवती को इससे वडा दु ख हुआ। उसके पिता उस समय भोजन कर रहे थे। उनके कानो मे भी हेमचन्द्र के शव्द गिरे। तव उन्हे ऐसा लगा, मानो किसी ने उनके कानो में गरम सीसा उँडेल दिया हो। उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह सव कहाँ से सीखा है—कुमार ने? वे वडे चिन्तित हो गये।

वीरचन्द्र भोजन से उठे, तव तक पुत्र पढने के लिये पाठशाला चला गया था। उनके मस्तिष्क मे चिन्तन चल रहा था। वे पुत्र के कुसंस्कार का स्रोत खोजना चाहते थे। वे उसकी पाठशाला मे पहुँच

गये। उन्होने अध्यापक को एक तरफ बुलाया और उनसे सारी घटना कह सुनाई और कहा–'आप ऐसी शिक्षा दीजिये कि जिससे कुमार हेमचन्द्र अशिष्ट शब्द बोलना ही भूल जायँ।'

अध्यापक को दूसरी वार शिकायत आने से वहुत क्रोध आया। उसके पिता के पीठ फेरते ही अध्यापक जोर से गरजे–'अवे! हेमचन्द्र! इधर आ।' हेमचन्द्र डरता हुआ शिक्षक के समीप आया। अध्यापक तमतमाते हुए बोले–'अरे वदमाश! पाजी! शैतान! कही के! नालायक! नीच! वेवकूफ! मैने तुझे कितनी वार कहा कि घर पर किसी को गाली मत दिया कर! साले! इस वात का ध्यान रखना। परन्तु हरामजादे! सूअर! ऐ कुत्ते! तुझ पर कुछ भी असर नही हुआ! हरामखोर! अव भी मान ले!'

अध्यापक बोल ही रहे थे कि इतने मे वीरचन्द्र ने पुन: प्रवेश किया। वे अध्यापक से वोले–'वस कीजिये! मै समझ गया कि कुमार ये सव वाते कहाँ से सीखते है! हेमचन्द्र! घर चलो!'

वे हेमचन्द्र को लेकर चले गये और अध्यापक सकपकाये-से उन्हे देखते ही रह गये।

उपास्य और अनुपास्य गुरु

'अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और दोषो से अविरत गुरु की चरण-सवा से ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है। अथवा जो दोषो से मुक्त नही है, उसकी शिक्षा-प्रणाली दूषित हो जाती है। कदाचित् वह उत्तम शिक्षा भी देता हो, पर उसकी विपरीत प्रवृत्ति से–विपरीत शिक्षा-पद्धति से शिक्षार्थी अज्ञान को ही ग्रहण करता है। अत जो ज्ञानी और विरत हो, उसी की शिक्षा लाभप्रद हो सकती है। कैसे गुरु अनुपास्य और कैसे गुरु उपास्य है?–इस विपय मे इस प्रकार कहा है–

सर्वाभिलाषिणः सर्व-भोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ।।

—जो सभी पदार्थो के अभिलापी है, सभी पदार्थो का (भक्ष्या-भक्ष्य के विवेक के विना ही) भोजन करने वाले है और परिग्रही, अब्रह्मचारी और मिथ्योपदेक है, वे गुरु नही है ।

शुभोपदेश-दातारो, वयोवृद्धा बहुश्रुताः ।
कुशला धर्म-शास्त्रेषु, पर्युपास्या मुहुर्मुहुः ।।

शुभ उपदेश देने वाले,वयोवृद्ध, वहुश्रुत—अनेकशास्त्रो क ज्ञाता और धर्मशास्त्रो मे कुशल गुरु वार-वार उपासना के योग्य है ।

योगीन्द्रः श्रुतपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नः सदा,
शान्ति-क्षान्ति-नितान्त-दान्ति-निपुणो धर्मैक-निष्ठारतः
शिष्याणां शुभचित्त-शुद्धिजनकः संसर्ग-मात्रेण यः,
सोऽन्यांस्तारयतिस्वय च तरति स्वार्थं विनासद्गुरुः ।।

—जो योगीन्द्र, शास्त्र-पारगामी, समता-रस के सागर में सदा निमग्न, शान्ति, क्षमा और दमन-गुण मे निपुण और धर्म की एकनिष्ठा मे लीन है तथा जो ससर्ग मात्र से शिष्यो के शुभचित्त और शुद्धि के जनक है, ऐसे मद्गुरु स्वय भवसागर मे तरते है और विना स्वार्थ से अन्यो को तारते है ।

लौकिक शिक्षक भी सच्चरित्र होना चाहिए । तभी वह सुशिक्षा का प्रचार-प्रसार कर सकता है । गुरुदेव फरमाते है—‘स्वय गाली आदि दोषो को नही छोडते हो और दूसरो को उपदेश देते हो । कैसे बुद्धिमान हो, तुम ?’ इस प्रकार अज्ञान न मिटने का कारण दोषी गुरु की सेवा है ।

इस दृष्टान्त की गौण शिक्षाएँ–

१. उपदेशक दोष रहित होना चाहिए,

२. उपदेश-प्रणाली निर्दोष होना चाहिए और

३ अभिभावक को सदा सजग रहना चाहिये।'

विनोद वहुत प्रभावित हुआ और वोला–'नानाजी! आपकी वात विलकुल सत्य है। अव मै विचार करता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि स्कूलो में दी जाने वाली नैतिक शिक्षा निष्प्रभावी क्यो होती है!' 'हाँ, बेटा! अन्धो का नेता अन्धा ही हो, तो और क्या आशा की जा सकती है?'

१९. जहाँ पेड़ होय नहीं

(कवित्त)

कभी एक गँवार को, मोटर पे चढ़ने का–
शौक हुआ, बैठे कहीं मोटर में जाय के;
चली तेज, खुश हुआ, एकाएक सड़क से–
उतरी वो, पेड़ सेती गई टक राय के।
रुक गई, किसी को न चोंट लगी, मूर्ख तब–
कहे–'गाड़ी रोकने का उपाय दिखाय के;
'जहाँ पेड होय नही, कैसे रोके भला यह?'
कहे 'सूर्य' एती नहीं अकल उपाय के॥२०॥

यह उस समय की वात है कि जव वसे-कारे गाँवो तक नही पहुँची थी। उस समय कोई ग्रामीण वस मे बैठ जाता तो वह अपने गाँव मे लोगो के बीच मे रोव जमाते हुए इस वात का वर्णन करता था और कई लोग उसकी वात वडे कौतूहल से सुनते थे। पण्डित चैनराम खेड़े गाँव के ऐसे ही भाग्यशाली पुरुषो मे थे कि जिन्हे वस मे चढ़ने

का गौरव प्राप्त हो चुका था। पण्डितजी बडे रस से बस मे सवारी का और बस का वर्णन करते थे और श्रोता अद्‌भुत रस मे निमग्न होकर उनकी वातो मे डूव जाते थे।

एक वार पण्डितजी की इन वातो से उनके एक श्रोता का मन हो गया—वस मे बैठने का और वह चल पडा—किसी दूर के रिश्तेदार से मिलने के वहाने। उस रिश्तेदार से उसे कुछ भी काम नही था। पर उसके यहाँ जाने के वहाने उसे बस मे बैठने का मौका मिल सकता था और फिर वह वहाँ से विना पैसे काटे, सुगमता से पैदल आ सकता था। वस उसके गाँव से कुछ दूर होकर, अभी-अभी ही निकलने लगी थी। उसका गाँव सडक से दूर था। जव वह सड़क पर पहुँचा, तव वहाँ बस खडी थी। वह वस मे बैठ गया। उसके मन मे कौतुक तो वहुत था कि वह विना बैल-घोडे के खिचे कैसे चलेगी? परन्तु पण्डित चैनराम की वातो से उसे यह पक्का विश्वास था कि 'यह चलेगी अवश्य ही! क्योकि पण्डितजी झूठ थोडे ही बोलते है!'

कुछ देर वाद बस चली और उसके मन मे भी कल्पना का चक्र चला—कैसे चलती होगी यह वस! क्या ये लोग किसी भूत को वश मे कर लेते है और उसी से वस चलवाते है? यह भी कोई वात है कि यह आगे बैठा हुआ आदमी ऊपर के पहिये को धीरे-धीरे घुमाता है और नीचे के चार-चार पहिये तेजी से दौडते रहते है। पर यह आदमी कभी-कभी ऊपर का पहिया वन्द भी कर देता है और बस चलती रहती है। पण्डितजी कहते है—इसमे कल है! क्या यह मोटर दौडती ही रहेगी! इसे खडी कैसे रखेगे?. ' वस तेज गति से वढती जा रही थी और वह खुश हो रहा था। पर कभी-कभी उसका हृदय भय से काँप भी उठता था—'हे राम! कैसे रुकेगी यह मोटर! न कोई लगाम है-न कोई रास ' इस प्रकार वह कल्पना मे गोते लगा रहा था।

वस कुछ धीमी पडी । परन्तु ड्राइवर की असावधानी से वस सड़क से नीचे उतर गई । वह वस सभालने में लगा हुआ था । फिर भी वस एक वृक्ष से अड गई, जिससे वह रुक गई । सवारियाँ आपस मे टकरा गई । परन्तु किसी को चोट नही आई । उस ग्रामीण को जिस गाँव पहुँचना था, उसी गॉव के रास्ते के समीप यह घटना घटी थी । इसलिए वहाँ उतरने वाली सवारियाँ अकस्मात् टल जाने के कारण हर्ष की आवाज करती हुई उतर गईं और वह देहाती भी अपनी पोटली वगल मे दवाकर नीचे उतर गया । वह गाँव की ओर जाते हुए अपने साथ वाले व्यक्ति से बोला—'यह मोटर अच्छी है । इसमें बैठने की गादियाँ भी अच्छी है । यह चलती भी फर्राटे से है । पर इसको रोकने का तरीका अच्छा नही है । इससे लोग आपस मे टकरा जाते है । पर मुझे विचार होता है कि जहाँ झाड़ नही हो, वहाँ मोटर रोकते कैसे होगे ?'

उसकी जोर की आवाज से कई लोग उसकी ओर आकर्षित हो गये थे । वे लोग उसके अज्ञान पर हँस पडे । वे उसे समझाने लगे । पर वह बोला—'मै आपकी वात मान नही सकता हूँ । मै तो आँखो देखी मे विश्वास करता हूँ । मोटर रोकने का तरीका यही है । दूसरा कोई तरीका मुझे दिखा नही और मेरी कल्पना मे भी नही आता है । आपकी वात को मानूं भी तो कैसे ? यदि मोटर रोकने का दूसरा तरीका होता तो वह हाँकने वाला वस को ऐसे क्यो रोकता ?'

लोगो ने उसे समझाना चाहा कि यह वात ड्राइवर की असावधानी से हो गई थी । लेकिन उसने उनकी वात नही मानी और वह अपनी ही वात पर अडा रहा ।

इस दृष्टान्त से यह वात फलित होती है कि ज्ञान की उपलब्धि में स्वच्छन्दता वाधक है । जो व्यक्ति अनुभवियो की वात न मानकर,

वुद्धि के नाम पर अपनी कल्पना को ही महत्त्व देता है, उसे सम्यग्ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? आप्त वाणी है–

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥

जो मनुष्य क्रोधी, अज्ञानी, तनने वाला-अभिमानी, दुर्वादी कपटी और धूर्त होता है, वह अविनीत-आत्मा जल में पडे हुए काष्ठ के समान इधर-उधर गोते खाता रहता है ।

–दसवेयालिय; ९।२।३

मूर्ख के पाँच लक्षण कहे गये है–

मूर्खस्य पंच चिन्हनानि, गर्वो दुर्वचनं मुखे ।
हठी चैव विषादी च, परोक्तं नैव मन्यते ॥

–मूर्ख मनुष्य के पाँच चिन्ह है– १. अभिमानी, २. मुख मे दुर्वचन, ३ हठी, ४. विपादी, और ५. दूसरे के कथन (सत्य वचन) को नही मानने वाला ।

ऐसे मनुष्य धर्म-तत्त्व के विपय मे भी विचित्र कल्पना करते रहते है और जो उन्हे धर्म-मार्ग की ओर प्रेरित करता है, उन्हे विचित्र उत्तर दिया करते है । यथा–

जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥
हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

–जो काम-भोगो मे आसक्त है, उनमे कोई कूटभाव को प्राप्त होता है और वह कहता है–'मैने परलोक नही देखा है । परन्तु

यह आनन्द (विषय-सुख) मुझे प्रत्यक्ष है, ये काम भोग मेरे स्वाधीन है। परन्तु धर्म से प्राप्त होने वाले सुख तो भविष्य के गर्भ में छिपे हुए है और फिर कौन जानता है, परलोक है भी या नही है ?'

—उत्तरज्झयण, ५।५, ६

ज्ञान प्राप्ति मे दूसरा बाधक कारण है—स्वच्छन्द मन कल्पना।

२०. ज्ञान बिना अन्ध नर

(कवित्त)

एक अन्धे को खीर खिलाने लगा दयावान,
'खीर कैसी होत'—पूछे अन्धजन बात है;
'सुपेद सुपेद होत' 'सुपेद ही कैसी होय ?'
'बगुले-सी श्वेत' 'कैसा बगुला दिखात है ?'
भक्त हाथ टेढ़ा कर, अन्धे को बतावे बक,
भक्त का टटोल हाथ, अन्ध यों सुनात है—
कहे 'सूर्य' ज्ञान बिना डरा वह—'टेढ़ी खीर—
यह, खाऊँ न मै कभी, पेट फट जात है' ।।२१।।

एक सूरदासजी थे। वे जन्मान्ध थे। उनका कण्ठ बहुत सुरीला था। जब वे हाथ मे करताल लेकर भजन ललकारते थे, तब लोग मस्त होकर झूम उठते थे और लोगों को अपने तन तथा समय की कुछ भी सुधि नही रहती थी। गजब की शक्ति थी सूरदासजी की! वे भजन गाते हुए पूरी रात बिता देते थे। पर न तो उनका स्वर भंग होता था और न उन्हे थकावट ही आती थी।

सूरदासजी अकेले ही थे। माता-पिता बचपन मे ही गुजर गये थ। तभी से वे इस छोटे गाँव मे आ बसे थे। लोग उनके गुन से राजी थे। गाँव दरिद्रता से ग्रस्त था। परन्तु सूरदासजी की बहुत कम

आवश्यकताएँ थी। अत उन्हे कभी अभाव नही सताता था। वर्ष भर में दो जोडी कपड़े और दिन मे एक वार भोजन। उन्हे भोजन के लिए कोई भी आमंत्रण दे देता था और वे प्रेम पूर्वक उसके घर जाकर भोजन कर लेते थे।

उस गाँव मे एक भक्त रहता था। दूसरे गाँव के उसके किसी सम्बन्धी ने उसे एक गाय भेंट मे दी और पहली वार उस गाँव मे किसी के घर गाय वंधी। लोग भी प्रसन्न हुए कि उनके गाँव मे एक गोमाता आई है। भक्त ने अभी तक सूरदासजी को भोजन नही करवाया था। उसका मन हुआ कि अव घर मे गैया वधी है तो सूरदासजी को भोजन क्यो न करवाऊँ! यह लाभ मैंने अभी तक नही लिया है। वह ऐसा सोचकर सूरदासजी को आमंत्रण देने पहुँच गया।

उसने सूरदासजी को भोजन का आमत्रण दिया और पूछा—'आपके भोजन मे क्या-क्या चीजे काम आती है?' सूरदासजी ने कहा—'मेरे लिए अलग से कुछ भी चीज वनाने की आवश्यकता नही है। आपके यहाँ जो भी भोजन वनेगा, उसी से मेरा काम चल जाएगा।' भक्त ने गर्व के साथ कहा—'आज मेरे यहाँ खीर वनेगी! इस गाँव मे किसी के यहाँ खीर नही वनती!' 'भक्तजी! ठीक ही कहते हो, मैंने तो कभी खीर का नाम ही नही सुना। क्या चीज है खीर?' 'खीर दूध की वनती है!' सूरदास ने आश्चर्य मे कहा—'मैंने दूध का नाम तो सुना है! पर खीर कैसी होती है?' वस्तुत. सूरदासजी ने होश सभाला, तव से उन्हें दूध पीने का कभी काम नही पडा था। भक्त भी चकराया कि वह खीर का क्या परिचय दे? उसके मुँह से अनायास ही निकल गया 'खीर सफेद-सफेद होती है.' सूरदासजी ने वात दुहराई—'खीर सफेद होती है! सफेद कैसी?' भक्त वडा उलझन मे पड़ गया। पर फिर भी वोला—'वगुले जैसी सफेद!'

सूरदासजी ने न तो कभी सफेद रंग ही देखा था और न वगुला ही। इसलिए सूरदासजी ने पूछा—"भैया ! मुझे तुम्हारी वात जरा भी समझ मे नही आ रही है। वगुला कैसा होता है ?' भक्त 'इस मवाल-जवाव से वहुत घवरा गया। वह सोच रहा था कि इन सूरदासजी को समझाऊँ भी तो कैसे समझाऊँ !' भक्त ने इसी उलझन मे हाथ को टेढा करके वगुले जैसा वनाकर, सूरदासजी के हाथ के पास उसे रखते हुए कहा—'वगुला ऐसा होता है !' सूरदासजी ने भक्त के हाथ पर अपना हाथ फिराया और फिर वडी गभीरता से बोले—'भक्तजी ! वडी टेढी खीर है यह तो ! मै इसे नही खाऊँगा—कभी नही खा सकता। इससे या तो गला फट जाएगा या फिर पेट फट जाएगा। तव तो फिर मै मर ही जाऊँगा ! ना, वावा ! मै ऐसी खीर नही खाऊँगा !' वेचारे भक्त ने सूरदासजी को समझाने की वहुत कोशिश की कि 'खीर पतली होती है। मीठी होती है ! एक वार खाकर तो देखो !' पर सूरदासजी ने उसकी एक भी वात न मानी। ज्यो-ज्यो वह समझाने की कोशिश करता था, त्यो-त्यो सूरदासजी को उस पर शक होता जा रहा था। आज जिन्दगी मे पहली वार ऐसा हुआ कि सूरदासजी ने चिढकर उसका आमन्त्रण ही अस्वीकार कर दिया।

गलत तर्क-प्रणाली और तर्क की सीमा

अज्ञान का तीसरा कारण है—गलत तर्क-प्रणाली। अधिकाँश ससारी जीव उन सूरदासजी जैसे ही होते है। उन्हे अनादि से धर्मतत्त्व को परखने वाले अन्तर्नयन प्राप्त नही है। अत. वे धर्मतत्त्व के रहस्य से अनभिज्ञ है। यद्यपि सूरदासजी के पास क्षीर-दर्शन का साधन नही था, फिर भी उनके पास खीर के रसास्वादन का साधन तो था ही। परन्तु गलत ढग से शब्दो के प्रयोग से उत्पन्न बुद्धि के कारण वे रसास्वादन से दूर ही रहे। इसी प्रकार जीव के पास धर्म को

साक्षात् रूप से जानने का विशिष्ट साधन नही है, परन्तु उसके पास तत्त्वानुभव और धर्माराधना की शक्ति है। फिर भी विवेक चक्षु के अभाव मे वस्तु-स्वरूप को शब्दो के माध्यम से जानने के यत्न से तर्क-प्रणाली जन्म लेती है। जिससे जीव तत्त्वानुभव और धर्म-आराधना से दूर ही रहता है। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति मे शब्द और तर्क का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। नही तो जीव इनके द्वारा गलत निष्कर्षो को पकड लेता है तो उनसे उसे विरत करना दुःसम्भव हो जाता है।

विवेक के अभाव मे ज्ञान के समस्त साधन विपरीत और भार-भूत हो जाते है। यथा—

> छन्दो व्याकरणं निघण्टु-गणितं तर्कागमो ज्योतिषं,
> शिक्षासूत्र-विकल्प-वैद्यक-मलं काव्यं पुराणं तथा ।
> चम्पू नाटक-नाटिका प्रहसनं कण्ठीकृतं प्रायशः,
> स्याच्चेतश्च विवेक-बीज-रहितं सर्वं हि भारायते ॥

छन्द, व्याकरण, निघण्टु, गणित, तर्कशास्त्र, ज्योतिष, शिक्षा-सूत्र वैद्यक, काव्य, पुराण नाटकादि—प्राय सभी कण्ठस्थ हो, परन्तु चित्त में विवेक रूपी बीज नही हो तो ये सभी भार रूप ही है।

प्रमोद—'नानाजी ! आप इतने ज्ञानी है और स्वय भी तर्क का प्रयोग करने वाले है, फिर भी आप तर्क के विरोधी है?' 'बेटा ! मैं तर्क का विरोधी नही हूँ। परन्तु हमे तर्क की शक्ति को समझना चाहिये। तर्क स्वयं सत्य को प्रकाशित नही कर सकता है। तर्क ज्ञान का परोक्ष साधन है। अनुभव तर्क से प्रधान है। अत जो पदार्थ अनुभवगम्य है, वहाँ तर्क का प्रयोग हमे सत्य से दूर हटा सकता है। जो पदार्थ अनुभवगम्य नही है, वे दो प्रकार के होते है—(१) तर्क

गम्य; और (२) श्रद्धागम्य। तर्कगम्य पदार्थों को जानने के लिए ही तर्क का प्रयोग उचित है।'

२१. लेख मम कैसा लगा

(सवैया)

'इस मासिक पत्र में लेख पढ़ा मम ?
कैसा लगा कुछ आप कहो';
'वह लेख पढ़ा सब तीन दफे....'
'उसमें कुछ आया आनंद अहो ?'
'उसमें समझा न जरा कुछ, डाल–
दिया इक ओर, असार गिना';
'मुनिसूर्य' कहे यों असार-कठोर
लिखे नहि लेख सुविज्ञ जना ॥२२॥

सुविनीत श्रेष्ठिपुत्र था। परन्तु उसके नाम के आशय से विपरीत गुण ही उसमें थे। उसमे नम्रता आदि उदात्त गुण नाम मात्र भी नहीं थे। कभी वह आशातीत नम्र दिखाई देता था, पर किसी से आदर पाने के लिये ही। यदि वह सरलता की मूर्ति बन जाता था तो किसी को भ्रम में डालने के लिए ही। कभी उसकी वाणी में मिश्री-सी मिठास घुल जाती थी, पर वह अपना मतलव गाँठने के लिए। उसमे प्रत्येक वात मे प्रदर्शन-वृत्ति की ही प्रवलता थी। ज्ञान तो उसमें अल्प था। परन्तु वह अपने को पण्डित ही समझता था। उसका मन होता था कि वह भी प्रसिद्ध लेखाको की पक्ति मे आ जाय। उसके लेख भी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रमुख स्थान पाएँ। वह लेखन कार्य करता था, पर कुछ ठीक जम नही पाता था। उसने किसी दीन पण्डित को मनाया। उन्हे प्रलोभन देते हुए कहा–'वड़े पाण्डित्यपूर्ण लेख मेरे नाम से लिखें

तो मैं आपका दारिद्य दूर कर दूंगा !' पण्डित ने उसकी बात मान ली।

पण्डित ने एक दो लेख लिखे और सुविनीत ने उन्हे अपने नाम से भेज दिये। वे लेख पत्रों मे छप भी गये और प्रशंसित भी हुए। सुविनीत का मन मयूर नाच उठा। अब वह भी लिखने का अभ्यास करने लगा। वह अपना पाण्डित्य जताने के लिए जबर्दस्ती लेख में भारी-भरकम शब्दों को ठूसता था और विषय को जान-बूझकर क्लिष्ट बना देता था। एक बार उसने एक महत्वपूर्ण विषय पर बहुत ही क्लिष्ट भाषा मे उलझन भरी शैली मे लेख लिखा। उसने वह लेख कुछ भेंट सहित एक मासिक पत्रिका मे छपने के लिए भेज दिया और वह प्रशंसात्मक सम्पादकीय टिप्पणी के साथ उस पत्रिका मे प्रकाशित हो गया। सुविनीत पत्रिका मे मुद्रित लेख को देखकर फूला नही समाया।

वह अपने मित्रों को वह लेख पढने को प्रेरित करता और उनके मुख से प्रशंसा सुनने को उत्सुक रहता। सुविनीत के मँझले मामा बहुत प्रख्यात और माने हुए विद्वान थे। वे संस्कृत-प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ थे और उन भाषाओं में रचना भी करते थे। हिन्दी साहित्य मे भी उनका विशिष्ट स्थान था। वे किसी काम से सुविनीत के यहाँ आये। उसने मामा को वह लेख पढने को दिया।

सायंकाल के समय वह मामा के साथ घूमने के लिए गया। उसने पूछा—'मामाजी ! वह लेख पढा ?' मामा ने अन्यमनस्कता से उत्तर दिया—'हाँ, पढा !' इतना संक्षिप्त उत्तर पाकर सुविनीत को बुरा लगा। उसके कान तो प्रशंसा सुनने के भूखे थे। पर उसने संयत भाव से पूछा—'आप को वह लेख कैसा लगा ? कुछ बताइये तो सही !' मामा ने उसी तटस्थाभाव से कहा—'तीन बार पढा है उसे !'

सुविनीत पुलकायमान हो गया। वह बीच मे ही बोल उठा—'सच! मामाजी! तीन बार लेख पडा है आपने! वाह! विद्वान ही विद्वान का आदर कर सकते है! आपको उस लेख के पढने मे कुछ आनन्द तो आया होगा?' मामा को अपने भानजे की इस वृत्ति पर बडा खेद हुआ। उन्हें उसकी पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति अच्छी नही लगी और उन्हे लगा कि इसके ज्ञान के लाभ मे वाधक यहीं वृत्ति है। मामा ने स्वर को कुछ मधुर बनाते हुए कहा—'विनू! सुनो भी तो! मैंने तुम्हारा लेख तीन वार पढा। किन्तु मुझे यह समझ मे न आया कि तुम कहना क्या चाहते हो? तुम्हे मेरी वात कडवी तो लगेगी। परन्तु तुम्हारे हित के लिये सत्य कहना ही होगा! जैसे मैंने इस लेख को पढ़कर, उपेक्षा से पत्रिका एक तरफ रख दी, वैसे ही लोगो ने भी असार समझकर रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया होगा उसे! देखो विद्या को पचाना आना चाहिए। लोगो को कुछ देना चाहते हो तो सरल वनो। भावो की अभिव्यक्ति ठीक ढग से करो। अभिमान से पाण्डित्य का वृथा प्रदर्शन मत करो। कहा है—

सम्पूर्ण-कुम्भ न करोति शब्द—
मर्धो घटो घोष-मुपैति नूनम् ।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं,
गुणैर्विहीना बहु जल्पयन्ति ॥

जल से पूरा भरा हुआ घडा आवाज नही करता है। जो आधा भरा घड़ा होता है, वही शोर करता है। वैसे ही जो विद्वान् और कुलीन होता है, वह गर्व नही करता है और जो गुण-विहीन होता है, वही वहुत बोलता है।

'अभी तुम्हे वहुत अध्ययन करने की आवश्यकता है। अध्ययन की विशालता के विना गम्भीरता नही आ सकती है—

अल्प-तोयश्चलत् कुम्भो, ह्यल्पदुग्धाश्च धेनवः ।
अल्पविद्यो महागर्वी, कुरूपी वहु-चेष्टितः ।।

—अल्प जलवाला घड़ा छलकता है। अल्प दूधवाली गाय कूदती है। अल्प विद्यावान महा अभिमानी होता है और कुरुप मनुष्य अति-चेष्टा करता है। यह वात सुनकर सुविनीत के मुख पर मुस्ती छा गई।

पाण्डित्य-प्रदर्शन

ऋषभदासजी ने कहा—'गुरुदेव कहते है कि जो उत्तम ज्ञानी होता है, उसमे प्रदर्शन की वृत्ति नही होती है। वे जान वूझकर भावो को क्लिष्ट नही वनाते है। अल्पज्ञानी को ही अपने ज्ञान का गर्व होता है, और ज्ञान का गर्व ज्ञान की हानि करता है। किसी विज्ञ ने कहा है—

अहङ्कारो हि लोकानां, नाशाय न तु वृद्धये ।
यथा विनाशकाले स्यात्, प्रदीपस्य शिखोज्ज्वला ।।

—लोगों का अहकार नाश के लिए है—वृद्धि के लिए नही। जैसे—दीप के वूझने के समय, उसकी लौ अधिक तेज हो जाती है।'

मृदुला—'नानाजी ! प्रदर्शन-वृत्ति यश की चाह से उत्पन्न होती है ?" हाँ, वत्से ! मान-सन्मान की कामना व्यक्ति को वहुत ही निम्न स्तर पर ला पटकती है। भगवान के वचन है—

पूयणट्ठा जसोकामी, माण-सम्माण-कामए ।
वहुं पसवई पावं, माया-सल्लं च कुव्वइ ।।

अपनी पूजा को चाहनेवाला और यश का अभिलापी मनुष्य मान-सन्मान की इच्छा से वहुत पाप करता है, और माया रूपी (छलरूपी) शल्य को करता है।

—दस वेयालिय ५

'यश पाने का प्रयत्न कच्चे धागे के, चंचल शाखा पर बधे हुए झूले पर, झूलने के समान है—

'यश के कच्चे हैं ये धागे,
उनका स-यतन झूला बाँधे,
जनमुख की चंचल शाखा पर,
मन-मन फूलूं । खुश हूँ झूलू ।।

—अणु

'तुम कल्पना कर सकती हो कि कितनी भयावह स्थिति है यह ? दूसरो के मुख से प्रशसा सुनने के लिए ही मनुष्य प्रदर्शन करता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन भी इसमे से एक है । पाण्डित्य-प्रदर्शन से ज्ञान का दरवाजा बद कर लेता है—मानव ।'

२२ क्या आपका पसीना जाना ?

(कवित्त)

एक साँवले मास्टर, कक्षा छोड़ गये कहीं
पीछे लड़के खेलते खेल, लड़ रहे हैं;
धक्के से दवात लुढ़की, स्याही कुर्सी पै गिरी,
कुछ देर बाद ही मास्टरजी आ रहे है ।
बैठते ही धोती काली स्याही से हो गई तर
'क्यों रे ! यह स्याही हैं क्या ?' लड़कों से कहे है;
'स्याही नहीं तो क्या मैने आपका पसीना जाना ?'
'सूर्य' गुरु हँसी किये कैसे सुख लहे है ।।२३।।

एक मास्टर थे । वे वड़े ज्ञानी थे । उनकी ज्ञानदान की कला अनोखी थी । वे लड़को को वडी कुशलता मे पढाते थे । पर अनुशासन प्रिय थे । उन्हे स्वच्छदता से चिढ थी । इसलिए वे जरा कठोर वृत्ति

वाले थे। उनके शरीर का रंग काला था। इसलिए उनसे रुष्ट उद्धत लडके उनकी पीठ पीछे 'कालिया मास्टर' और उनके सन्मुख उन्हे राजी रखने के लिए 'कृष्ण भगवान' कहा करते थे। वे अध्यापक भी अपने लिये किये जाने वाले सम्बोधन मे रहे हुए व्यग को अच्छी तरह से समझते थे। पर उस ओर ध्यान नही देते थे।

जब स्वच्छन्द लडके उन्हे 'कालिया' कहते, तब जो उनके गुणानुरागी लडके थे, वे कहते कि—'भले ही मास्टर साहब आबनूस के कुदे जैसे काले है, परन्तु कितने गुणी है वे! कितना अच्छा पढ़ाते है! कौन ऐसा पढाने का ध्यान रखता है!' कक्षा के एक अति स्वच्छन्द लडके को यह बात नही सुहाती। वह स्वच्छन्द छात्रो का अगुआ था। वह कहता—'ऊँह' दूसरे बेचारे मास्टर नही है! मास्टर तो एक ये ही है! आये बडे पढाने वाले! इन्हे अधिकार जमाने का शौक है! पर ये भूलते है कि अब वह पुराना जमाना लद गया है। अब नई रोशनी है। आज के छात्र गौ के जाये के समान चूँ तक न करते हुए जुए को सहन न करेगे?' इस प्रकार स्वच्छन्द लडको के मन मे उनके प्रति द्वेष की गाँठ बध गई थी। वे मास्टर साहब को नीचा दिखाने के अवसर की ताक मे रहते थे। परन्तु वे मास्टर साहब इतने दक्ष थे कि उन लड़कों को कोई ऐसा अवसर ही नही मिल पाता था। अतः उन्हे मन मसोस कर रह जाना पड़ता था।

उस अति स्वच्छंद लड़के की कक्षा मे मास्टर साहब के लगातार दो पीरियड लगते थे। एक दिन उस कक्षा मे उन का पहला पीरियड पूरा हो चुका था। और दूसरा पीरियड प्रारम्भ हुआ था। उस समय वे किसी काम से आफिस में गये। इधर लडको मे धमा-चौकडी शुरू हो गई। धक्का-मुक्की में मास्टर साहब की टेबल पर दवात लुढक गई। जिससे स्याही कुर्सी पर फैल गई। लडको मे भय छा गया। एक लडके ने दवात सीधी करके टेबल पर रख दी।

उसने टेवल पर गिरी हुई स्याही की बूँदे, पोंछन वस्त्र से पोछ दी और कुर्सी पर फैली हुई स्याही को पोछने जा ही रहा था कि उस स्वच्छन्द शैतान लडके ने उसे रोकते हुए कहा—'रहने भी दो, दोस्त ! थोड़ा मजा तो आयेगा ।' इतने मे मास्टर साहव आते हुए दिखाई दिये । सव लड़के अपने-अपने स्थान पर चुपचाप बैठ गये ।

मास्टर साहव कुछ विचार करते हुए आ रहे थे । अत इस समय वे असावधान थे । ऐसी अवस्था मे वे अपने स्वभाव के विपरीत कुर्सी को देखे विना ही उस पर बैठ गये । उनकी धोती स्याही से तर हो गई । वे एकदम विचार-मग्नता से जागे । उन्हे कुछ शका हुई । इसलिए वे कुर्सी से उठ गये और कुर्सी पर गिरी हुई स्याही को देखते हुए बोले—'अरे ! यह क्या ? स्याही है क्या ? 'क्यो रे' यह वात कहते हुए उन्होने उस शैतान लडके की ओर देखा । वह लडका तपाक से खडा हुआ और अनजान वनता हुआ बोला—'जी' आप ठीक ही कह रहे होगे ! स्याही ही होना चाहिए । पर, साहव ! हम कहाॅ कह रहे है कि आपका पसीना है ?' उसके इस कथन से सारी कक्षा ठहाके से गूंज उठी ।

इस घटना से मास्टर साहव की आँखों मे खून उतर आया । पर उन्होने विवेक नही खोया और गम खा गये अपने पर नियन्त्रण रखते हुए शान्ति से बोले—'मै तो समझता था कि आप लोग यहाँ विद्याध्ययन करने आते है । परन्तु मुझे आज पता लगा कि आप यहाॅ किसी शरीर के रग को पढने और पसीने को जातियो का पता लगाने आते है ।' लडको के मुह पर हवाइयाॅ उड़ने लगी । मास्टर साहव ने जरा रोव से कहा—'मै आपसे पूछत हूॅं—आप भैस के शरीर के रग की तरफ ध्यान देते है या उसके दूध की तरफ ।' लडके भयभीत थे । कोई भी कुछ नही वोला । शैतान लडके के होठो में हँसी थी ।

मास्टर ने उस पर उपेक्षा भरी दृष्टि फेंकते हुए कहा–'डरो, मत! मेरी वात का उत्तर दो।' एक लड़का साहस से वोला–'साहव! दूध की ओर!' 'वस, तुम भी यहाँ पढ़ने की ओर ध्यान रखो मेरे शरीर की ओर ध्यान मत दो।'

इस घटना के वाद मास्टर साहव ने उस शैतान लडके की ओर ध्यान देना छोड़ दिया। जिस का परिणाम यह हुआ कि वह उस कक्षा मे अनुत्तीर्ण होता रहा। वस्तुत. उसका मन ही पढने मे नही लगता था।

गुरु की आशातना

'सूर्य' गुरु हँसी किये, कैसे लहे है' सुखइस प्रकार–गुरु की हँसी करने से ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है और न सुख ही। गुरु की आशातना करने से ज्ञानावरणीय कर्म का वंध होता है।

आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो,
किं जीव–णासा उ पर णु कुज्जा।
आयरिय-पाया पुण अप्पसण्णा,
अवोहि-आसायण णत्थि मोक्खो ।।

जो भयकर विषैला सर्प कुपित होता है तो वह प्राणनाश से अधिक क्या करता है? परन्तु पूज्यचरण आचार्य देव के अप्रसन्न होने पर उनकी आशातना से अवोधि को प्राप्त होता है, जिससे मोक्ष प्राप्त नही होता है।

–दसवेयालिय ९।१।५

जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे,
सुत्तं च सीहं पडिवोहइज्जा।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं,
एसोवमाऽऽ सायणया गुरूण ।।

जो पर्वत को अपने सिर की टक्कर से भेदना चाहता है, जो सोये हुए सिंह को पैर के प्रहार से जगाता है और जो शक्ति के अग्रभाग पर मुट्ठी का प्रहार करता है, (तो वह कैसे सकट मे पडता है) वैसे ही जो गुरुओं की आशातना करता है, वह भी वैसा ही दुःख पाता है। अथवा वह उन कार्यो से कदाचित् दुःखी न हो, पर गुरुजन की आशातना के बुरे फल से उसका छुटकारा नही हो सकता है।

—दसवेयालिय ९।१।८

मूर्ख को उपदेश !

दूसरी वात, मूर्ख और दुष्ट प्रकृति के लोगो को उपदेश देने पर उपदेशक को हानि उठानी पड़ती है—

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये
पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विष-वर्धनम् ॥

—मूर्ख को हितशिक्षा या ज्ञान देने पर वह कुपित होता है—शान्त नही। साँप को दूध पिलाने से मात्र विष की ही वृद्धि होती है।

मूर्ख मनुष्यो को सुधारने का या ज्ञान देने का उपाय प्राप्त होना दु संभव है

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गो-गर्दभौ।
व्याधिर्भेषज-सग्रहैश्च विविधैर्मन्त्र-प्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्र-विहित मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

जल से अग्नि को बुझाया जा सकता है। धूप को छाते से रोका जा सकता है। मदमस्त हाथी को अकुश से, गो-गर्दभ को दण्डे से, व्याधिको औषधि से और विष को मन्त्र-प्रयोग से वश मे किया जा सकता है। सभी की औपधि है, पर मूर्ख की नही।

२३. शठ गुरु की हँसी उड़ाते हैं

(कवित्त)

हीन एक नेत्र से, अध्यापकजी लड़को को,
इंग्लैण्ड का पाठ एक दिन बतलाते हैं—
'उसे कोई देखा चाहे, लगे पन्दरह दिन,
क्या कहा मैंने ?'—मास्टरजी यों जताते हैं।
एक था मजाकी वाल, सुन चट बोल उठा—
'लगे साढ़े सात दिन, हम गिन पाते है,
'क्योंकि एक आँखवाले को लगे पन्द्रह दिन'
कहे 'सूर्य' शठ हँसी गुरु की उड़ाते है ।। २४।।

भूगोल के अध्यापक एक चक्षुवाले थे। वे भूगोल वहुत ही अच्छा पढाते थे। कुछ लड़के तो भूगोल मन लगाकर पढ़ते थे। पर कुछ लडको को भूगोल पढ़ना नागवार गुजरता था। उन्हे यह विषय याद ही नही रहता था। वे कहा करते थे—

ज्यामिती जाग्रफी वेवफा,
रात में पढ़ो, सुवह सफा।

वस्तुतः वे न तो मन लगाकर पढ़ते थे और न मन लगाकर याद ही करते थे। जव अध्यापक उन्हे पढ़ाते थे, तव उनका मन कही और ही रमा करता था।

एक दिन अध्यापक इग्लैड के सम्वन्ध मे कुछ वता रहे थे। वे भारतवर्ष मे इग्लैड की दूरी वताते हुए कहने लगे 'यदि कोई इग्लैड जाना चाहे तो वह यहाँ से जहाज के द्वारा पन्दरह दिन मे पहुँच सकता है। क्या कहा मैने ? समझे ?' 'क्या कहा मैने' यह वाक्य उनका तकिया-कलाम था।

एक लड़का वहुत ही हँसोड था । जैसे ही मास्टर साहव ने 'क्या कहा मैने, समझे !' कहा, उसी समय वह उठ खडा हुआ । वह अध्यापक से बोला–'मै अच्छी तरह से समझ गया हूँ । क्या समझा सो वताऊँ !' अध्यापक ने आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए कहा 'हाँ । वताओ।' वह छात्र गम्भीरता का अभिनय करता हुआ बोला–'मास्टर साहव ! मेरे हिसाव से तो हम साढ़े सात दिन मे ही पहुँच सकते है !' मास्टर ने पूछा 'क्या कहा ? साढे सात दिन ? सो कैसे?' छात्र हिसाव वताते हुए बोला 'देखिये, सर ! एक आँखवाले को पहुँचने मे पन्द्रह दिन लगते है ! पर हम तो ठहरे दो आँखवाले ! इसलिए हमे तो आधे दिन ही लगने चाहिये न ! ठीक कह रहा हूँ न मै !' लडके हँस पडे ।

वे अध्यापकजी भी नहले पर दहला लगाने वाले थे। उन्होनें जोर से कहा–'पर भाई ! तुम्हारा हिसाव वरावर नही है !' लडकों की हँसी रुक गई । वे भौचक्के से देखते रह गये । वह छात्र भी हत प्रभ रह गया । तव अध्यापक गर्जते हुए वोले–'अव पूछते क्यो नही हो, कि ऐसा क्यो है ? तुम मुझे उल्लू वनाने चले हो ! आँखे चलती है कही ? चलते तो पाँव है । तुम भी दो पाए ही हो । चौपाये होते तो भी तुम वहाँ आधे दिन मे नही पहुँच सकते थे, समझे !' इस वार कक्षा मे हंसी का ज्वार आ गया ।

अध्यापक ने सवको शान्त करते हुए कहा–'मेरी एक आँख होना–यह प्रकृति का दोष है । परन्तु तुम्हारा पढने का यह सही तरीका नही है ! इस प्रकार तुम मेरी मजाक वनाकर, ज्ञान नही पा सकते हो ।'

ज्ञान के साधनों की अवहेलना

कहे 'सूर्य' शठ हँसी गुरु की उड़ाते है–अर्थात् दुष्टजन ही गुरु की हँसी उडाते है । उनकी हँसी करना उचित नही है । क्योकि वे ज्ञान

२३. शठ गुरु की हँसी उड़ाते है।

(कवित्त)

हीन एक नेत्र से, अध्यापकजी लड़कों को,
इंग्लैण्ड का पाठ एक दिन बतलाते है–
'उसे कोई देखा चाहे, लगे पन्दरह दिन,
क्या कहा मैंने ?'–मास्टरजी यों जताते है।
एक था मजाकी बाल, सुन चट बोल उठा–
'लगे साढे सात दिन, हम गिन पाते है,
'क्योंकि एक आँखवाले को लगे पन्द्रह दिन'
कहे 'सूर्य' शठ हँसी गुरु की उड़ाते है।। २४।।

भूगोल के अध्यापक एक चक्षुवाले थे। वे भूगोल वहुत ही अच्छा पढाते थे। कुछ लडके तो भूगोल मन लगाकर पढते थे। पर कुछ लडको को भूगोल पढना नागवार गुजरता था। उन्हे यह विषय याद ही नही रहता था। वे कहा करते थे–

ज्यामिती जाग्रफी बेवफा,
रात में पढ़ो, सुबह सफा।

वस्तुतः वे न तो मन लगाकर पढते थे और न मन लगाकर याद ही करते थे। जब अध्यापक उन्हे पढाते थे, तव उनका मन कही ओर ही रमा करता था।

एक दिन अध्यापक इग्लैड के सम्वन्ध मे कुछ वता रहे थे। वे भारतवर्ष मे इग्लैड की दूरी वताते हुए कहने लगे 'यदि कोई इंग्लैड जाना चाहे तो वह यहाँ से जहाज के द्वारा पन्दरह दिन मे पहुँच सकता है। क्या कहा मैंने ? समझे ?' 'क्या कहा मैंने' यह वाक्य उनका तकिया-कलाम था।

एक लडका वहुत ही हँसोड था । जैसे ही मास्टर साहव ने 'क्या कहा मैने, समझे !' कहा, उसी समय वह उठ खडा हुआ । वह अध्यापक से बोला—'मै अच्छी तरह से समझ गया हूँ । क्या समझा सो वताऊँ !' अध्यापक ने आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए कहा 'हाँ । वताओ।' वह छात्र गम्भीरता का अभिनय करता हुआ बोला—'मास्टर साहव ! मेरे हिसाव से तो हम साढ़े सात दिन मे ही पहुँच सकते है !' मास्टर ने पूछा 'क्या कहा ? साढे सात दिन ? सो कैसे?' छात्र हिसाव वताते हुए बोला 'देखिये, सर ! एक आँखवाले को पहुँचने मे पन्द्रह दिन लगते है ! पर हम तो ठहरे दो आँखवाले ! इसलिए हमे तो आधे दिन ही लगने चाहिये न ! ठीक कह रहा हूँ न मै !' लडके हँस पडे ।

वे अध्यापकजी भी नहले पर दहला लगाने वाले थे। उन्होंने जोर से कहा—'पर भाई ! तुम्हारा हिसाव वरावर नही है !' लडकों की हँसी रुक गई । वे भौचक्के से देखते रह गये । वह छात्र भी हत प्रभ रह गया । तव अध्यापक गर्जते हुए बोले—'अव पूछते क्यो नही हो, कि ऐसा क्यो है ? तुम मुझे उल्लू वनाने चले हो ! आँखे चलती है कही ? चलते तो पाँव है । तुम भी दो पाए ही हो । चौपाये होते तो भी तुम वहाँ आधे दिन मे नही पहुँच सकते थे, समझे !' इस वार कक्षा मे हँसी का ज्वार आ गया ।

अध्यापक ने सवको शान्त करते हुए कहा—'मेरी एक आँख होना—यह प्रकृति का दोष है । परन्तु तुम्हारा पढने का यह सही तरीका नही है ! इस प्रकार तुम मेरी मजाक वनाकर, ज्ञान नही पा सकते हो ।'

ज्ञान के साधनों की अवहेलना

कहे 'सूर्य' शठ हँसी गुरु की उड़ाते है—अर्थात् दुष्टजन ही गुरु की हँसी उडाते है । उनकी हँसी करना उचित नही है । क्योंकि वे ज्ञान

के परम श्रेष्ठ अवलम्वन है। लौकिक गुरु की आशातना भी उचित नही है तो लोकोत्तर ज्ञान के दाता गुरु की अवहेलना अनुचित है ही। ज्ञान-प्राप्ति के पाँच-पाँच वाह्य आभ्यतर साधन है

आचार्य-पुस्तक-निवास-सहाय-वासो,
बाह्या इमे पठन-पंच-गुणा नराणाम्।
आरोग्य-बुद्धि-विनयोद्यम-शास्त्ररागा,
आभ्यन्तरा पठन-सिद्धिकरा भवन्ति ॥

१. आचार्य, २ पुस्तक, ३ निवास, ४. सहाय, और ५ वास (मोहल्ला) ये पाँच ज्ञान के वाह्य साधन है ओर १. आरोग्य, २ बुद्धि, ३ विनय, ४. उद्यम, और ५. शास्त्रराग—ये पढने के पाँच आभ्यन्तर साधन है।

इन साधनो की अवहेलना करने से ज्ञान की प्राप्ति मे वाधा उत्पन्न हो जाती है।

जे यावि णागं डहरं ति णच्चा,
आसायए से अहियाय होइ।
एवायरियं पिहु हीलयंतो,
णियच्छई जाइपहं खु मंदो ॥

—दस वेयालिय ९।१।४

'यह छोटा वच्चा है'—यह समझकर जो साप के वच्चे को छेडता है, तो वह उसके लिये अहितकर होता है। इस प्रकार जो आचार्य देव (गुरु) की अवहेलना करता है, वह मन्द-अज्ञानी ससार मे परिभ्रमण करता है।

ज्ञान के वाह्य साधन दो प्रकार के है—प्रेरक और उदासीन। प्रेरक साधन है—देव और गुरु और उदासीन साधन है—शास्त्र, लिपि, लेखन-

सामग्री, निवास आदि । जिनमें प्रेरक निमित्त का ज्ञान-प्राप्ति मे विशेष उपकार रहता है । इसलिये उनकी अवहेलना ज्ञान की मलिनता पैदा करती है । जो अत्यन्त दु खद होती है–

थभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं ण सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइ भावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ

–दसवेयालिय ९।१।१

जो अभिमान, क्रोध, मद, प्रमाद आदि से गुरु महाराज के पास विनय धर्म की शिक्षा प्राप्त नही करता है, उसके लिये वह विराधना का भाव, वॉस के फल के समान नाशक होता है ।'

२४ अज्ञानी को ज्ञान दिये कहा

(कवित्त)

शास्त्राभ्यास मे अरुचि रखना–ज्ञान मे मन न लगाना भी अज्ञान का कारण है ।

मास्टर सब छात्रो को, फ्रांस आबादी-बयान
करते थे–'हम सांस लेते जेती वार है–
एती देर में एक आदमी मर जाता वहाँ'
सुन एक बच्चा लेता, सॉस वार-वार है ।
'मास्टर जी ! मै जोर-जोर से सॉस लेय कर,
फ्रांस की आबादी कम करूँ–यह विचार है',
कहे 'सूर्यमुनि' नर, समझे न समझाया,
ऐसे अज्ञानी को ज्ञान दिये कहा सार है ।।२५।।

विशाल अभी किशोर ही था । परन्तु उसका मन पढने मे जरा भी नही लगता था । कृपाक से वह ऊपर की कक्षाओं मे धकेला जा

रहा था। वह कहता था—'पठितव्य तदपि मर्तव्यं। अपठितव्य तदपि मर्तव्यं फिर दंत कटाकट कि कर्त्तव्यं।'

उसे गणित में रस नहीं था। काव्य-कविता उसकी दृष्टि में वृथा बकवास थी। रेखा-गणित बच्चों का खेल, बीज गणित किसी औंधी खोपड़ी की उपज, इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ना, भूगोल फालतू दिमागी बोझ, विज्ञान इधर-उधर की गड़बड़गड़ड़, नैतिक शिक्षा कहने मात्र की बातें और नागरिक शास्त्र ऊल-जलूल सिद्धान्त थे। परन्तु उसे माता-पिता से कुछ पूरा भय था। इसलिए उन्हें दिखाने के लिये पुस्तकें-कापियाँ लेकर घर से निकल पड़ता था। और अधिकतर स्कूल न जाकर इधर-उधर घूमने में अपना समय पूरा कर देता था। यदि वह स्कूल पहुँच भी जाता था तो वहाँ पढ़ने में जरा भी मन नहीं लगाता था। वहाँ वह ऐसी हरकतें करने लग जाता था कि उससे अध्यापक भी ऊब जाते थे। अतः वे उसकी उपेक्षा ही करते थे।

एक दिन भूगोल की पढ़ाई चल रही थी। अध्यापक फ्रांस के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें बता रहे थे। वे वहाँ की जनसंख्या के विषय में कुछ कह रहे थे। अध्यापक ने प्रसंगवशात् कहा—'हम श्वांस लेते हैं, इतनी देर में वहाँ एक आदमी मर जाता है।' विशाल का चित्त इधर-उधर डोल रहा था। परन्तु उसने यह बात सुन ली। उसे शरारत सूझी। वह जोर-जोर से श्वासोच्छ्वास लेने लगा।

उसकी इस हरकत से, अध्यापक का ध्यान उसकी ओर गया। उन्हें उसकी यह बेजा हरकत अच्छी नहीं लगी। उन्होंने जोर से कहा—'अरे विशाल! यह क्या कर रहे हो। अभी प्राणायाम की पढ़ाई नहीं हो रही है!' विशाल ने आँखें नचाते हुए कहा—'मैं प्राणायाम नहीं कर रहा हूँ। मैं तो फ्रांस पर उपकार कर रहा हूँ।' अध्यापक को उसकी बात समझ में नहीं आई। अतः उन्होंने पूछ लिया—'सो

कैसे ?' विशाल मुह फट-सा बोला—'अरे ! आप भी कैसे मास्टर है अभी तो आपने कहा और अभी ही भूल गये ! कैसे भुलक्कड़ है आप ?' अन्य विद्यार्थी आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगे। अध्यापक भी दिङ्मूढ से बोले—'क्या भूल गया मै ?' विशाल शरारत से बोला—'अच्छा, आप भूल ही गये है ! लो, मै ही बताये देता हूँ। आपने कहा था न—फ्रान्स की जनसख्या बहुत अधिक है और हमारे साँस लेने जितने समय मे वहाँ एक आदमी मर जाता है। तो मुझे फ्रान्स पर दया आ गई। वह देश जनसख्या के बोझ से दब गया है ! इसलिए मै जल्दी-जल्दी साँसे लेकर, वहाँ की जनसख्या का भार हलका कर रहा हूँ।'

इस बात से लडको मे हँसी का फव्वारा छूट गया और अध्यापक एकदम गरम हो गये। वे नाराजी से बोले—'क्या बक रहे हो तुम ! पढ़ने आते हो या मजाक करने ? गेट-आऊट ! कक्षा से बाहर हो जाओ, नॉन्सेन्स !'

ज्ञानावरणीय कर्म-बन्ध के कारण

ऐसे व्यक्ति शिक्षा के अग्राहक होते है। जो व्यक्ति धर्म को ढोग समझते है, वे तत्वज्ञान के ग्राहक नही होते है। मोहोदय के कारण उनमे तत्वज्ञान के प्रति अरुचि होती है। वे आगमो को जूने जमाने की बाते समझते है। उनकी दृष्टि में ये अतीत की बातें इस युग मे किसी काम की नही है। वे स्वयं तो शास्त्राभ्यास करते नही है। परन्तु दूसरो मे भी शास्त्रो मे अरुचि पैदा करते है। यदि उन्हे कुछ शिक्षा देते है, तो वे शिक्षादेनेवाले की मजाक करते है। ऐसे लोगों को सम्यग् ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है। अत· गुरुदेव कहते है—

कहे 'सूर्यमुनि' नर समझे न समझाया,
ऐसे अज्ञानी को ज्ञान दिये कहा सार है।

'इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के प्रति अरुचि को 'ज्ञान-प्रद्वेष' कहते है। जिससे ज्ञान को दवाने वाले कर्म का वन्ध होता है।'

प्रवीण ने पूछा—'नानाजी ! ज्ञानावरणीय कर्म के वन्ध के और भी कारण है?' 'हॉ ! ज्ञानावरणीय कर्म बन्धने के छह कारण है—

१ प्रद्वेष-ज्ञान और ज्ञानी के प्रति द्वेष करने से, २ निह्नव-ज्ञान और ज्ञानी की निन्दा करने से—जिनसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसका नाम दवाने से, ३. मात्सर्य-ज्ञान और ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या करने से, ४ अन्तराय-ज्ञानाभ्यास मे 'विघ्न पैदा करने से, ५. आसादन-ज्ञान और ज्ञानी के प्रति विपरीत व्यवहार करने से—अविनय तथा उद्धतता करने से और ६ उपघात-ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करने से या उनके विषय मे अशुभ चिन्तन और व्यवहार करने से ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध होता है। इसके सिवाय मोहकर्म का उदय और ज्ञानावरणीय का उदय का भी अज्ञान के कारण है।'

२५. मास्टर ने ऐसा कहा

(कवित्त)

एक नये विद्यार्थी को, मास्टर ने ऐसा कहा—
देखो भाई ! बड़ों सेती, बड़ी बात कीजिये,
महोदय ! माननीय ! श्रीमानजी ! आदि शब्द,
नाम बोलने के पेले, रख बोल लीजिये।
इससे कहने वाले की नम्रता जान पड़े,
अच्छे बच्चे ! नाम क्या तुम्हारा ? बता दीजिये,
श्रीमान् भोंदूनाथजी, यही नाम मेरा जानो,
कहे 'सूर्य' विना बुद्धि, मूर्ख यों पतीजिये ॥२६॥

एक वच्चा वडा भोला था। उसके चेहरे पर ऐसे भाव थे, कि माता-पिता लाड़ में उसे भोदू बेटा कहा करते थे। कुछ यो भी वह बुद्धि का ठीक से उपयोग नही कर पाता था। जव माता-पिता ही उसे सही नाम से नही पुकारते थे, तव दूसरे लोग दूसरे नाम से क्यो पुकारते। इस प्रकार जन्मपत्री का नाम जन्मपत्री मे ही रह गया और वह भोलानाथ का पुत्र भोदूनाथ हो गया। बाद मे माता-पिता ने भी उसका नाम पलटने की कोशिश नही की। क्योकि उनके कई पुत्र जन्मते ही मर गये थे। इसलिए उन्होने अपने एकमात्र पुत्र का अच्छा नाम, लोक-विश्वास के अनुसार रखना नही चाहा।

भोंदूनाथ वडा हो गया। वह पाडेजी के यहाँ पढने जाने लगा। वहाॅ उसने कुछ पढाई की। पर उसके पिता को लगा कि इसे पढाने के लिए इसके मामा के यहाॅ रखना ठीक रहेगा। क्योकि उसके मामा के गाॅव मे शासकीय विद्यालय मे दस कक्षा तक पढाई होती थी और मामा का आग्रह भी था, अपने भानजे को अपने यहाॅ रखने का। उसके मामा अपनी वहन को अपने यहाँ ले जाने के लिये आये। तव भोदूनाथ को भी उसके साथ भेज दिया गया।

भोंदूनाथ अपने मामा के यहाॅ आया। वह विद्यालय मे पढने जाने लगा। एक अध्यापक जव कक्षा मे आये, तव उनकी दृष्टि भोदूनाथ पर गई। उन्होने उसके वोलने के ढँग और चाल-ढाल से जान लिया कि यह ठेठ देहात का भोला-भाला लडका है। उन्हे लगा कि यह लडका सामान्य शिष्टाचार से भी अनभिज्ञ है। इसलिए उन्होंने उसे शिष्टाचार की शिक्षा देना उचित समझा।

वे उसे शिष्टाचार की शिक्षा देने लगे। मास्टर साहब ने उसे वार्तालाप का ढग समझाते हुए कहा—'देखो तो भैया! जव अपने से

बड़ो के साथ बात करना हो तो बडे अदब के साथ बात करना चाहिये ।' लडका बोला–'हाँ ! जी ।' मास्टर साहब को उसका यह कथन बहुत हलका लगा। परन्तु लडके के भाव मे विनय था। अत. इस बात पर ज्यादा गौर नही किया । उन्होने उसका परिचय पाने की दृष्टि से पूछा–'तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?' लडके ने जवाब दिया–'जी ! भोलानाथ।' अध्यापक को लडके का इस प्रकार तुच्छता से पिता का नाम बताना अच्छा नही लगा। उन्होने उसे समझाते हुए कहा–'देखो, बच्चे ! बडो का नाम लेने के पहले श्रीमान्, महोदय, महाशय, माननीय आदि शब्द लगाने चाहिए और सर, श्रीमान् आदि शब्दो से सम्बोधन करना चाहिए समझे ! हाँ, अब बताओ, तुम्हारा नाम क्या है ?' सर ! मै समझ गया हूँ। मेरा नाम है, श्रीमान् भोदूनाथजी !' मास्टर ने जरा अचरज से कहा–'क्या कहा ?' लडके ने पुन. अपना नाम बताया–'सर ! मेरा नाम श्रीमान् भोदूनाथजी है !' लडको और मास्टर के मुँह पर मुस्कान फैल गई। भोदू को उनका हँसना बुरा लगा। वह रुआँसा होकर बोला–'सर ! आप और ये सब हँसते है ! मैने तो आपकी आज्ञा का पालन किया है।'

बुद्धि का उपयोग

'बुद्धि का ठीक से उपयोग नही करने पर, मनुष्य मूर्ख की गिनती मे आ जाता है–

कहे 'सूर्य' बिना बुद्धि मूर्ख यो पतीजिये ।

जो बुद्धि का ठीक से उपयोग नही करता है, वह तत्त्व को ठीक तरह से ग्रहण नही कर सकता है ' विनोद बीच मे पूछ बैठा–'नानाजी ! आप बुद्धिवादी है या श्रद्धावादी ?' 'विनोद ! बुद्धिजीव का गुण है या अजीव का ?' 'जीव का ।' 'और श्रद्धा ?' 'श्रद्धा भी

जीव का ही गुण है।' 'तो वत्स ! मै बुद्धि के उपयोग और श्रद्धा दोनो को आत्म-विकास के साधन मानता हूँ। मेरे भगवान् ने सम्यग् श्रद्धा के समान ही बुद्धि के सम्यक् उपयोग की वात भी कही है। जैसे मिथ्या श्रद्धा से आत्म-विनाश होता है, वैसे ही अतिबुद्धि से भी। बुद्धि-हीनता और बुद्धि की अति दोनो ही वर्जनीय है। जैसे भोंदूनाथ बुद्धि-हीनता (बुद्धि के अनुपयोग) के कारण अध्यापक की वात न समझ सका और बुद्धि की अति (बुद्धि के गलत उपयोग) के कारण अपनी नासमझी उचित ठहराने लगा। वैसे ही जीव बुद्धि-हीनता के कारण सम्यक् ज्ञान पा नही सकता है और अति बुद्धिवाद के कारण मिथ्याज्ञान को उचित ठहराता है। इसलिए बुद्धि का सही उपयोग करना चाहिये—

पण्णा समिक्खए धम्म-तत्तं तत्त-विणिच्छियं।

—उत्तरज्झयण, २३—२५

तत्त्व के विनिश्चयपूर्वक धर्म-तत्त्व को बुद्धि ही समझ सकती है।

'इस प्रकार बुद्धि-हीनता, बुद्धि का मर्यादातिक्रम या दुरुपयोग भी सम्यग्ज्ञान के अवरोधक है।'

२६ अश्व पे लेख लिखो

(सवैया)

निज पुत्र दिखा घुड़साल में, अश्व—
चढ़े उसको लिखते कुछ पाया;
तब बाप यों पूछत—'क्या यह लेखन—
रीति! कहो कहाँ से तुम लाया?'

'कल मास्टर ने कहा—अश्व पे लेख—
लिखो--सो लिखूँ यह हुक्म बजाया',
'मुनिसूर्य' कहे समझे उलटे, तिन—
सीख दिये फल कौन उपाया ? ।।२७।।

नरेश वुद्धिमान लडका था। परन्तु उसमे दुर्गुण था कि वह हर वात मे जल्दी करता था। इसी हडवडी के कारण कभी-कभी वह आधी वात को ही सुन पाता था और फिर अपनी कल्पना से उसे विकृत वना डालता था। इस प्रकार दक्ष होते हुए भी वात को वरावर हृदयगम नही कर पाने के कारण वह हँसी का पात्र वन जाता था।

एक वार कक्षा मे हिन्दी के अध्यापक निवन्ध लिखना सिखा रहे थे। उन्होने कुछ वाते समझाकर आदेश दिया—'कल अश्व पर पच्चीस पक्तियाँ लिखकर लाना।'

दूसरे दिन नरेश के पिता घुडसाल मे अपने प्यारे घोडे की देखभाल करने आये तो वहाँ का दृश्य देखकर, वे आश्चर्यचकित रह गये। उन्होने देखा कि नरेश घोडे पर सवार है और वड़ी कठिनाई से कुछ लिख रहा है। पिता ने कहा--'अरे नरेश! यहाँ क्या कर रहे हो? यह क्या लिखने का ढँग है? और भला तुम लिखने की यह रीति कहाँ से लाये?' नरेश ने घोडे पर बैठे हुए ही निश्चितता से कहा—'मै अपने मास्टर साहव की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ?' पिता—'क्या कहा? यह मास्टर की आज्ञा का पालन कर रहे हो? कौन ऐसा मूर्ख मास्टर आया है, जो ऐसे उलट-पुलट कार्य करने की आज्ञा देता है?' नरेश वडी संजीदगी से वोला—'देखिए पिताजी! हम यह वात नही सुन सकेंगे! आप हमारे मास्टरजी की निन्दा करते है? क्या हमारे मास्टर मूर्ख है? उन्होने हमें घोड़े पे पच्चीस

पक्तियाँ लिखकर लाने को कहा है। इसमे क्या मूर्खता है और हमें क्या मास्टरजी की आज्ञा का पालन नही करना चाहिये ?' पिता ने हँसकर कहा—'ठीक कहते हो तुम। तुम्हारे मास्टर बुद्धिमान है और तुम्हे भी उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। पर तुमने मास्टर की आज्ञा का मर्म समझा ही कहाँ है ?'

नरेश पिता की वात से चौंक गया। वह बोला—'क्या कहा आपने ? क्या मैं मास्टरजी की आज्ञा को नही समझा ? क्या मैं उनकी आज्ञा से उल्टा कार्य कर रहा हूँ ?' पिता ने पुत्र को समझाते हुए कहा—'हाँ वेटा ! मास्टर ने तुम्हे घोडे पर वैठकर लिखने का नही कहा है। परन्तु घोडे के सम्वन्ध से लेख लिखने को कहा है।' नरेश घोडे से कूदता हुआ वोला—'ऐ पिताजी ! ऐसी वात है ?' फिर वह कुछ सोचकर वोला—'नही पिताजी ? मुझे आपकी वात नही जँची। मुझे लगता है कि मै मास्टरजी की वात को ठीक से समझा हूँ ? मै विलकुल सच कह रहा हूँ, पिताजी ! जहाँ तक मै समझता नही हूँ, वहाँ तक मैं किसी की वात नही मानता हूँ—यह तो आप जानते ही है। फिर मै मास्टरजी के हुक्म को न समझ सकूगा ? मै सचाई पर हूँ। मे कभी झूठ समझ ही नही सकता ! आप वहाँ कक्षा मे थे ही कहाँ ? मैंने सही सुना है। यदि घोडे पर वैठकर लिखने का नही होता तो मात्र पच्चीस पक्तियाँ ही लिखने का क्यो कहते ? घोडे के विपय मे तो वहुत कुछ लिखा जा सकता है। यह तो घोडे पर बैठकर लिखने के अभ्यास की वात है ! मनुष्य को विषम स्थिति मे भी लिखने का अभ्यास होना चाहिए।' पिता अपने वुद्धि-अभिमानी और सत्या-भिमानी पुत्र का मुँह ताकते ही रह गये।

ऋषभदासजी ने पूछा—'इस दृष्टान्त से तुमने क्या समझा।'

विनोद—'उतावलापन वावलापन है। वात के आशय को

समझने मे जल्दी करने से पूरी वात समझ मे नही आती है और कल्पना गलत रास्ते मे तर्क के माध्यम से दौड पडती है। जिससे वडे-वडे बुद्धिमान भी सत्य से दूर जा पडते है और वे अनुभवी के अनुभव की भी अवहेलना कर वैठते है।' प्रमोद–'बुद्धि का अहकार ज्ञान की प्राप्ति मे वाधक होता है।' प्रवीण–'सत्यान्वेषण का अभिमान भी मनुष्य को तत्त्व से दूर भटका देता है।' मृदुला ने कुछ सोचकर कहा–'नानाजी! वडे-वडे बुद्धिमान भी चिन्तन-शीलता के नाम पर बुद्धि और सत्यान्वेषण के मिथ्या अहकार मे फँस जाते है। जिससे वे कभी-कभी भगवान जिनेश्वरदेव की आज्ञा का उलटा ही अर्थ समझ जाते है और वे हठाग्रह के कारण उसी आशय पर अडे रहते है।' ऋषभदासजी ने कहा–'तुम सव ठीक समझे हो। गुरुदेव ने कहा है–

मुनिसूर्य' कहे समझे उल्टे, तिन सीख दिये फल कौन उपाया–'

जो इस प्रकार की उलटी समझवाले है, उन्हे सत्य वताने पर, उन सत्याभिमानी बुद्धिमानो की गालियाँ ही खानी पडती है?'

प्रज्ञाभिमान

वर्धनमुनि ने पूछा–'इसे प्रज्ञामद कह सकते है?' भद्रमुनि–'हाँ यह प्रज्ञामद ही है। भगवान फरमाते है–

जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी, पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगढपण्णे सुविभाविअप्पा, अन्न जणं पन्नसा परिहवेज्जा॥
एव ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लोभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिसति वालपन्ने॥

–सूयगड, १-१३-१३, १४

जो साधक शुद्ध भाषावाला, वाणी की लब्धि से सम्पन्न, चार-बुद्धियो से युक्त, विशारद, गहरी बुद्धिवाला और उत्तम भावितात्मा है, ऐसा महान साधक भी अपनी बुद्धि के द्वारा दूसरे का तिरस्कार करता है जो बुद्धिमान साधु बुद्धि का अभिमान करता है, वह समाधि को प्राप्त नही कर सकता है अथवा जो लाभमद से अभिभूत है अन्य मनुष्यो का तिरस्कार करता है, वह बालबुद्धिवाला है—अज्ञानी है।

'यदि ऐसे पहुँचे हुए आत्मा के लिए भी प्रज्ञाभिमान अज्ञान का कारण बनता है, तो जो अभी ज्ञान मार्ग पर चरण बढा ही नही पाये है, उनके लिए प्रज्ञाभिमान कितना भयकर होता होगा ?'

उतावलापन

वर्धनमुनि—'गुरुदेव ! क्या उतावलापन अधैर्य से उत्पन्न होता है और यह बुद्धि की असावधानी और अस्थिरता है ?' भद्रमुनि—'हाँ ! उतावलापन प्रमाद है प्रमादी को सर्वत्र भय रहता है। आचारागसूत्र मे कहा है—**सव्वओ पमत्तस्स भयं**। अर्थात् उतावले व्यक्ति के लिए भी सर्वत्र भय है। उतावलेपन से बुद्धि मे अनवधानता—विषय मे चित्त के न लगने की स्थिति पैदा होती है। जिससे आत्मा ज्ञानादि गुणो से दूर हट जाता है।'

२७. एक गिलास दो और मुझे

—(सवैया)

शब्द गिलास के टूटन का सुन,
मात कहे—'क्या अवाज भया,
क्यो रे ! रमेश ! गिरा ये कैसे ? चुप—
क्यों ? सच बोल, क्यो फूट गया ?'

'एक दो और गिलास मुझे तुम,
फेर बताऊँ जो आज किया',
'सूर्य' कहे समझे नहि भाव,
उन्हें कहा लाभ, सुसीख दिया ॥२८॥

रमेश वडा ही नटखट और उद्दंड लडका था। उसे सारे दिन ऊधम करने मे मजा आता था। स्कूल मे वह लडकों को तग करता था और घर पर माता-पिता, भाई-वहन आदि को। जिस दिन छुट्टी होती, उस दिन वह घर मे कुछ न कुछ उठा-पटक किया ही करता था। जिससे उसकी माँ बडी तग हो जाती थी। क्योकि उसके लिए वह कई नये काम पैदा कर देता था और नुकसान होता था सो अलग।

छुट्टी का दिन था। रमेश सुवह से धमाल कर रहा था। माँ ने समझाते हुए कहा—'बेटा! कुछ काम करो। यो ही क्यो धूम मचा रहे हो!' 'अच्छा माँ!' यह कहकर, रमेश भीतर कमरे में चला गया। कुछ ही देर बाद कमरे मे झनझनाहट की आवाज हुई। तब माँ ने वहाँ से उठते हुए कहा—'अरे रे! यह काहे की आवाज की है?' मा ने अनुमान लगाया कि रमेश ने काँच का गिलास नीचे पटक दिया है और यह आवाज उसके फूटने की है। वह दौडी हुई कमरे मे गई। उसने देखा कि वहाँ काँच के टुकड़े बिखरे पडे है और रमेश उनकी ओर एकटक देख रहा है।

रमेश माँ को देखकर डर गया। वहाँ से भागने का रास्ता था नही। जिससे वह भीगी विल्ली-सा दुवक कर एक ओर खडा हो गया। माँ ने आक्रोश मे कहा—'शैतान! यह क्या किया तुम ने? तुमसे तो मै हार गई हूँ।' रमेश कुछ नही बोला। वह वहाँ से भागने की फिराक मे था। माँ ने गरजकर कहा—'चुप क्यो खडा है? बोलता

क्यों नही है ? सच-सच वता—क्या कर रहा था यहाँ ? कैसे फूटा यह गिलास ?' रमेश उद्दडता से बोला—'अभी वता दू ! सच-सच वता दू !' माँ क्रोध से काँप रही थी। वह होठ फडफडाते हुए बोली—'हाँ, सच-सच वता ? अभी ही वता, मुँहजोर कही के।' वह माँ से कुछ दूर खिसक गया और दरवाजे की ओर ताकता हुआ बोला—'झूठ नही वताऊँगा। सच ही वताऊँगा। पर सच ऐसे ही थोडे ही वताया जा सकता है ? तुम्हे सारी घटना जानना है न ! तो मुझे काँच का एक गिलास और दो। तव विलकुल ठीक ढग से सच वात वता सकूँगा !' यह वात सुनकर माँ आपे से वाहर हो गई। उसने जोर से कहा—'नालायक कही का ! चोरी और ऊपर सिरजोरी !' उसने झपट कर रमेश को पकड लिया और उसने जैसे ही उसे मारने के लिए थप्पड उठाई, वैसे ही वह झटके से उसके हाथ से छूटकर वाहर भाग गया।

माँ लाचार-सी उसे देखती ही रह गई।

चञ्चलता और उद्दण्डता

'जिसका मानसिक विकास ठीक से नही होता है, वह अधिक चञ्चल होता है अर्थात् चञ्चलता मानसिक अस्थिरता की परिचायक है। चञ्चल मनुष्य का चित्त चलनी जेसा होता है। उसमे शिक्षा की वात रूपी जल किञ्चित् काल के लिए भी किञ्चित् मात्र नही ठहर पाता है। और फिर उद्दडता उसे अविनीत वना देती है। इस प्रकार वह ज्ञानग्रहण करने के योग्य पात्र नही रह पाता है। ऐसे व्यक्ति दोष के उत्तरदायित्व से मुक्त होने के लिए सचाई वताने का अभिनय मात्र करते है। परन्तु शिक्षा के मर्म को ग्रहण करना नही चाहते है। यथा

ज्यो लहरीले नीर में, मुखछवि नहि दरसाय।
त्यों 'अणु' चंचल चित्त में, न ज्ञान रवि प्रकटाय ॥

चञ्चल चित्तवाला मनुष्य बालजन है। वह बहुत ही हानिकर और दुःखद कार्य कर डालता है। गुरुदेव कहते हैं–

मन म्हारुं रहे भमतुं, नाथ ! मन०
अनुभव-रस नवि गमतुं-मन०
सुकृत कार्य मां विघ्न करे ते, परनिंदा रहे रटतुं।
बिन अंकुश वारुण जिम मदमां, तेमज मन अनुसरतुं म०
जलधि तरंग, चंचल कपि जेमज, मन मूरख रहे फरतुं
ज्ञानी-ध्यानी क्यारे भानी, निश्चल ए नवि ठरतुं–म०
लिंग नपुंसक कहे जग पण ते, काज विशेषे करतुं
सेर चालीस थी थाय एक मण, ते थी गतिमां वधतुं म०

अधिकांश मनुष्यों का मन चञ्चल ही रहता है। पर उद्दंडता साथ न हो तो उन्हें अगत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यदि उद्दण्डता भी आ जाती है, तो वे ज्ञान, शिक्षा आदि की अवहेलना ही करते हैं–

'सूर्य' कहे समझे नहि भाव, उन्हें कहा लाभ सुसीख दिये'

ज्ञान-प्राप्ति के लिए काया की चञ्चलता को भी रोकना आवश्यक है। यथा–

हत्थसंजए पाय-संजए,
वाय-संजए संजइंदिए।
अज्झप्प-रए सु-समाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥

जो हाथ, पैर, वाणी और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए अध्यात्म-लीन सुसमाधिवान आत्मा सूत्रार्थ को जानता है, वही सच्चा भिक्षु या साधक है।

–दस वेयालिय १०–१५

२८. जिससे हुआ मै फेल

(हरिगीतिका)

'हे लाल! तुम कहते कि मैंने, वहुत ही महनत करी,
फिर फेल कैसे हो गये ?' 'है, भूल मास्टर में खरी।
गत वर्ष के ही प्रश्न पूछे, मूर्ख सर ने थे सभी,
जिससे हुआ मै फेल'—सुनकर, बाप धिक्कारे तभी ॥२९॥

कीर्तिकुमार, घर पर किसी काम के करने के लिए कहे जाने पर—'मुझे पढाई करना है'—यह कहकर सटक जाया करता था। गये साल वह फेल हो गया था। तव उसने कहा था—'साल भर तो 'यह कर, वह कर' कहकर काम करवाते रहे। मुझे वरावर पढने ही नही दिया। फिर विना पढाई के फेल नही होता तो क्या होता!' घर के लोग जानते थे कि कीर्ति ने घर का कितना काम किया था। यह तो उसका अपना वचाव मात्र ही था। पर माँ ने कहा—'अच्छा, भाई! पढ। मत कर काम। तू करेगा तभी काम होगा—ऐसा तो है नही। अभी घर मे रामजी राजी है। कई है काम करने वाले! तू तो मन लगाकर पढ!' वस, उसे कामचोरी का पट्टा मिल गया। अव वह एक लोटा भी उठाकर इधर से उधर नही रखता था और वार-वार दुहाई देता रहता था कि 'मुझे पढाई करना है।' माता-पिता भी देखते थे कि बेटा गये साल की अपेक्षा इस साल खूव मन लगा कर पढ रहा है।

परीक्षा का समय समीप था। माता-पिता की जानकारी के अनुसार लडका आधी-आधी रात तक पढाई करता था और परीक्षा के समय मे तो वह पूरी-पूरी रात जागता रहा। माता-पिता प्रसन्न थे कि वेटा वहुत कडी मेहनत कर रहा है तो प्रावीण्य-सूची मे नाम अवश्य ले आएगा।

चञ्चल चित्तवाला मनुष्य बालजन है। वह बहुत ही हानिकर और दु खद कार्य कर डालता है। गुरुदेव कहते है—

मन म्हारुं रहे भमतुं, नाथ ! मन०
अनुभव-रस नवि गमतुं-मन०
सुकृत कार्य मां विघ्न करे ते, परनिंदा रहे रटतुं।
बिन अंकुश वारुण जिम मदमां, तेमज मन अनुसरतुं म०
जलधि तरंग, चंचल कपि जेमज, मन मूरख रहे फरतुं
ज्ञानी-ध्यानी क्यारे भानी, निश्चल ए नवि ठरतुं—म०
लिंग नपुंसक कहे जग पण ते, काज विशेषे करतुं
सेर चालीस थी थाय एक मण, ते थी गतिमां वधतुं म०

अधिकाश मनुष्यो का मन चचल ही रहता है। पर उद्दडता साथ न हो तो उन्हे अगत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यदि उद्दण्डता भी आ जाती है, तो वे ज्ञान, शिक्षा आदि की अवहेलना ही करते है—

'सूर्य' कहे समझे नहि भाव, उन्हे कहा लाभ सुसीख दिये'

ज्ञान-प्राप्ति के लिए काया की चञ्चलता को भी रोकना आवश्यक है। यथा—

हत्थसंजए पाय—संजए,
वाय-संजए संजइंदिए।
अज्झप्प-रए सु-समाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥

जो हाथ, पैर, वाणी और इन्द्रियो को सयम मे रखते हुए अध्यात्म-लीन सुसमाधिवान आत्मा सूत्रार्थ को जानता है, वही सच्चा भिक्षु या साधक है।

—दस वेयालिय १०—१५

सकता हूं मै ? किन्तु सच को सच कहना ही होगा । कमवख्त परीक्षक ने सभी प्रश्न गये साल के ही पूछ लिये थे । कितना आलसी था वह कि उसने नया प्रश्नपत्र भी नही वनाया और मैंने 'अव ये प्रश्न इस वर्ष आने वाले नही हैं, यह सोचकर उन पर विशेष ध्यान दिया नही था । अव कोई गये वर्ष के ही प्रश्न पूछे और मै फेल हो जाऊ तो इसमें मेरा क्या दोष ?' माँ फटी आँखों से बेटे को देखती रह गई । पिता के मुह से इतना ही निकला–'धन्य हो, मेरे परम निर्दोष बेटे !'

अनवधारणता

ऋषभदासजी ने अभय से पूछा–'बेटा ! अभय तुमने पहले यह कहानी सुन रखी है । इससे तुम क्या आशय समझे ?' 'हाँ, दादाजी ! पहले मैंने यह कहानी सुनी है । मैंने इस पर कई वार विचार भी किया है । केवल पढ़ने मात्र से ही ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है । थोडा समझने का प्रयत्न भी करना चाहिये । पढी हुई वात का अवधारण करना चाहिये । दूसरी वात, किसी भी विषय का सागोपाँग अध्ययन करना चाहिये । अध्ययन पूरा करना चाहिये अधूरा नही । तीसरी वात, ज्ञानार्जन पूरी लगन के विना नही हो सकता है । जो ज्ञानाभ्यास को वेठ-वेगार समझते हो, उन्हे ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? चौथी वात, ज्ञानार्जन मे होने वाली अपनी दुर्बलता को स्वीकार करने पर ही, उसे दूर किया जा सकता है । पाँचवी वात, अपना दोष दूसरे के सिर पर नही डालना चाहिये और छठी वात, अपने पूज्य पुरुषो को मूर्ख वनाने का प्रयास नही करना चाहिये !'

ऋषभदासजी–'ठीक चिन्तन हुआ है तुम्हारा, अभय ! यहाँ इस दृष्टाॅन्त का प्रमुख उद्देश्य है–ज्ञानाभ्यास की न्यूनता वताते हुए, ज्ञान की अनुपस्थिति का कारण वताना । जैसे–छात्रो का मन विद्या-अध्ययन मे नही लगता है, वैसे ही जीव का मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास में नही लगता है । सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के प्रमुख चार अग है–(१)

परीक्षा हो गई। कुछ समय बाद परीक्षा फल आया। परन्तु बेटे का क्रमांक तृतीय श्रेणी मे क्या, कृपांक से उत्तीर्ण छात्रो मे भी न देखकर, माता-पिता के मन मे बडी ठेस पहुँची। जब कीर्ति घर पर आया, तब उसे माता-पिता भरी हुई बंदूक के समान बैठे हुए दिखाई दिये। वह उनके सन्मुख जाने से बचना चाहता था। वह अपने फेल होने का कारण परीक्षा के दिनो से ही जानता था। क्योंकि उसका एक भी पेपर (प्रश्न पत्र) अच्छा नहीं गया था। पर वह यह भी जानता था कि यो टलने से माता-पिता से छुटकारा होने वाला नही है। वह माता-पिता के सन्मुख जाने के लिए मन ही मन अपने को तैयार करने लगा और वह मासूम बच्चे-सा मुह बनाकर, उनके समीप अपने को घसीटता हुआ-सा पहुँच ही गया। अब वह गोली दगने की प्रतीक्षा मे था।

माँ ने रोष से कहा—'क्यो रे कीर्ति! इस साल भी पास न हो सका तू!' पिता जोर से बोले—'तुम कहते थे कि मैं बहुत मेहनत करता हूँ। रात-रात भर जागता हूँ। फिर तुमने क्या किया? फैल कैसे हो गये?' कीर्ति रुआँसा होकर बोला—'मेहनत तो करता ही था। पढ़ाई भी की थी। पिताजी! क्या कहू! अपनी—अपनी किस्मत!' पिता बरस पड़े—'अब किस्मत को रोते हो! ढग से मेहनत करते तो पास नही हो जाते?' कीर्ति कपाल पर हाथ फेरते हुए बोला—'पिताजी! आपने तो आज जाना। परन्तु मुझे तो रिजल्ट पहले से ही मालूम था!' पिता दहाडे'—ऐ! क्या कहते हो?' कीर्ति अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए बोला—'सच कहता हू, पिताजी! पर मेरा इसमे रत्ती भर दोष नही है। दोष है तो परीक्षक का!' पिता ने उसे घूरते हुए कहा—'नालायक कही के! अपने दोष दूसरे के मत्थे मढते तुम्हे लाज नही आती है?' कीर्ति बडी नम्रता से बोला—'पिताजी मैं ऐसी हिमाकत नही कर सकता हूँ, क्या अपने दोष दूसरे के सिर डाल

कहता—'आप कृपा करके शंकर पर ध्यान दे ।' परन्तु अध्यापक लोग उनकी वात सुनकर उपेक्षा से हँस दिया करते थे ।

परीक्षा समीप थी । किन्तु शकर को कुछ परवाह न थी । वह कहा करता था—'मै पढू या न पढू, परीक्षा मे बैठूं या न बैठू, मास्टरो को झख मारके मुझे पास करना होगा ! नही तो फिर उनकी स्कूल ही कैसे चलेगी ?' पिता को दु.ख था । वह उसकी उद्धत्तता से घवरा रहा था । जव एक वडे प्रभावशाली अध्यापक से उसने शकर पर ध्यान देने की प्रार्थना की, तव उन्होने छूटते ही उत्तर दिया—'आपके शूरवीर वेटे पर हम क्या ध्यान दे सकते है ! ऐसे स्वयभू वीर पुत्र पर उसके पिता ही ध्यान दे सकते हो तो दे ।' इस व्यग से पिता तिलमिला उठा । उसे अपने पुत्र पर अति क्रोध आया ।

रात के नौ वजे शकर घर आया । वह सोने की तैयारी कर रहा था । यह देखकर उसके पिता ने कहा—'क्या अभी से सो रहे हो ? तुम्हारा इम्तहान पास आ रहा है । इस समय तो तुम्हे दिन-रात पढना चाहिये । खैर दिन मे पढाई मे मन नही लगता है । दिन यो ही वीत जाता है । कोई वात नहीं, पर तुम रात मे क्या करते हो ? शकर ने वेफिक्री से कहा—'रात मे क्या करता हू ? पिताजी ! आराम से सोता हू और रात है भी किसलिए ? 'पिता ने धैर्य रखते हुए कहा—'देखो, विद्यार्थी को इतना वेपरवाह नही होना चाहिये । तुम्हे रात मे ज्यादा देर तक जागना चाहिये और शान्त वातावरण मे अभ्यास करना चाहिये । उस समय अभ्यास भी अच्छा हो सकता है ।' शकर ने निर्लज्जता से कहा—'वापूजी ! मै तो आपके कहे अनुसार ही कर रहा हू ।' पिता की आवाज तेज हो गई—'क्या कहा ? मेरे कहे अनु-सार कर रहे हो ?'शकर ने कडुआहट से कहा—'हाँ, पिताजी ! आप बूढे हो गये है । सो आप कल की वात आज भूल जाते है?' पिता चीख

विनयपूर्वक गुरुदेव की चरणोपासना करते हुए सूत्रों को ग्रहण करना (२) विविध प्रश्नो को उठाकर, उनका समाधान प्राप्त करना, (३) सीखे हुए ज्ञान की पुन. पुन आवृत्ति करना और (४) प्राप्त ज्ञान पर विविध दृष्टियो से विस्तृत चिन्तन करना। इन चारो क्रियाओ को विधिपूर्वक करने से अवधारणा शक्ति की वृद्धि होती है। अवधारण करने से ज्ञान स्थिर होता है, इन चारो क्रियाओ के अभाव मे ज्ञान का अवधारण नही हो सकता है और अनवधारणता मे ज्ञान स्थायी नही हो पाता है।'

फिर-फिर अभ्यासे न श्रुत, होय न ज्ञान-विहार ।
अवधारण बिन ना खुले, अन्तर्लोचन सार ।।

२९. आप गधे के बाप

(कवित्त)

'देखो पुत्र! इम्तहान आया, दिन-रात पढ़ो'
'पिता ! सारी रात हम नींद मे विताते है',
'भाई ! तुम जागा करो'–सुन पुत्र कहे–'अरे!
बात कल ही की आप आज भूल जाते है।
कल कहा–'सिर्फ उल्लू जागा करे रात भर',
बाप कहे–'गधे बात न समझ पाते है',
'सूर्यमुनि' कहे फिर कपूत ने कहा यो–'मै
गधा हूं ! आप गधे के बाप बन आते है' ।।३०।।

शकर बहुत दुर्मुख और उद्दण्ड लड़का था। उससे अध्यापक भी त्रस्त रहते थे। इसलिए शकर पढे या न पढे, स्कूल का कार्य करके लाये या न लाये, वे उसे कुछ भी नही कहते थे। शकर को छेड़ने का मतलब था–भीड के छत्ते मे हाथ डालना। बेचारा बाप मास्टरो से बार-बार

कहता—'आप कृपा करके शकर पर ध्यान दे।' परन्तु अध्यापक लोग उनकी वात सुनकर उपेक्षा से हँस दिया करते थे।

परीक्षा समीप थी। किन्तु शकर को कुछ परवाह न थी। वह कहा करता था—'मै पढूं या न पढू, परीक्षा मे बैठूं या न बैठू, मास्टरो को झख मारके मुझे पास करना होगा! नही तो फिर उनकी स्कूल ही कैसे चलेगी?' पिता को दु ख था। वह उसकी उद्धत्तता से घवरा रहा था। जव एक वड़े प्रभावशाली अध्यापक से उसने शकर पर ध्यान देने की प्रार्थना की, तव उन्होने छूटते ही उत्तर दिया—'आपके शूरवीर वेटे पर हम क्या ध्यान दे सकते है! ऐसे स्वयभू वीर पुत्र पर उसके पिता ही ध्यान दे सकते हो तो दे।' इस व्यग से पिता तिलमिला उठा। उसे अपने पुत्र पर अति क्रोध आया।

रात के नौ वजे शकर घर आया। वह सोने की तैयारी कर रहा था। यह देखकर उसके पिता ने कहा—'क्या अभी से सो रहे हो? तुम्हारा इम्तहान पास आ रहा है। इस समय तो तुम्हे दिन-रात पढ़ना चाहिये। खैर दिन मे पढाई मे मन नही लगता है। दिन यो ही बीत जाता है। कोई वात नही, पर तुम रात मे क्या करते हो? शकर ने बेफिक्री से कहा—'रात मे क्या करता हू? पिताजी! आराम से सोता हू और रात है भी किसलिए?' पिता ने धैर्य रखते हुए कहा—'देखो, विद्यार्थी को इतना बेपरवाह नही होना चाहिये। तुम्हे रात मे ज्यादा देर तक जागना चाहिये और शान्त वातावरण मे अभ्यास करना चाहिये। उस समय अभ्यास भी अच्छा हो सकता है।' शकर ने निर्लज्जता से कहा—'वापूजी! मै तो आपके कहे अनुसार ही कर रहा हू!' पिता की आवाज तेज हो गई—'क्या कहा? मेरे कहे अनुसार कर रहे हो?' शकर ने कड़ुआहट से कहा—'हाँ, पिताजी! आप बूढे हो गये है। सो आप कल की बात आज भूल जाते है?' पिता चीख

उठा—'नालायक ! क्या कहा था—कल मैंने, जो आज भूल गया है?' शकर—'बिल्कुल, आप बिल्कुल भूल गये ! कल आपने नही कहा था कि रात मे सिर्फ उल्लू जागा करते है ? तो मुझे रात मे जागकर उल्लू नही बनना है ?' बाप ने क्रोध से कहा—'कैसे लडके हो तुम ! बात को समझने का प्रयत्न नही करते हो । निरे गधे हो तुम !' शंकर ठठाकर हस पडा—'अच्छा, पिताजी! मै गधा हू ? तो आप कौन है ? मै आपका लडका हू । फिर आप गधे के बाप हुए न !' पिता—'चुप हो जा, बदमाश कही के !' 'अच्छा, आप बदमाश के भी बाप है ?' शंकर ने हाथ नचाकर, आँखे मटकाकर कहा—'आप भी चुप हो जाइए ! किसी की नीद हराम न कीजिये !'

बेचारा बाप क्या करता-अपने मुहफट बेटे का ?

दुर्मु खता

इस प्रकार दुर्मुख व्यक्ति का मुख ही स्व-पर का अरि होता है । ऐसे दुर्मुख मनुष्य को शिक्षा देने पर ग्लानि ही पल्ले पड़ती है । ऐसे मनुष्य ज्ञान और ज्ञानी का उपघात करते है । अत. उन्हे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है और वे ज्ञान प्राप्त नही कर सकते है—

विणयंपि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई णरो ।
दिव्वं सो सिरि—मिज्जंति, दंडेण पडिसेहए ॥

जो मनुष्य कर्मो के दूर करने के आचार-विनय मे, किसी उपाय से प्रेरित किये जाने पर क्रोध करता है तो वह अपने को वरण करने के लिए आती हुई दिव्य लक्ष्मी को दण्डे मारकर भगाता है ।

—दस वेयालिय ९/२/४

प्रमोद—'नानाजी! गुरुदेव ने अधिकतर इस ज्ञान के विषय मे विद्यार्थियो के ही दृष्टांत क्यों दिये है ?' जैसे विद्यार्थी को

विद्या के अर्जन करने का ही प्रयोजन होता है और यदि वह उस समय प्रमाद करता है तो अर्थ को सिद्ध नही कर सकता है, वैसे ही साधक को अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक ज्ञानार्थी रहना चाहिये और उसे जहाँ तक आत्मार्थ सिद्ध न हो, वहाँ तक ज्ञानाराधना मे प्रमाद से होने वाली स्खलनाओ से विद्यार्थी से भी अधिक सावधान रहना चाहिये—यह वात सूचित करने के लिये गुरुदेव ने ये दृष्टान्त दिये है।'

३०. पुत्र से सवाया बाप

(कवित्त)

एक धनवान-पुत्र, खड़ा-खडा मूत रहा,
देख पुरजन सभी दिल में विचारे है;
जाके कहे सेठ को, न करे पुत्र ऐसा काम,
गये समझाने पर, आश्चर्य निहारे है!
खुद सेठ ही सातवीं मंजिल से मूत रहे,
पुत्र से सवाया बाप, सीख कैसे धारे है,
निज ठाम गये लोक, कहे 'सूर्यमुनि' तव,
जैसी कुल-रीति वैसी करें घरवारे है ॥३१॥

एक वडे नगर मे एक लक्ष्मीवल्लभ सेठ रहते थे। उनके छोटे पुत्र की सात-आठ वर्ष की आयु थी। सेठ की प्रतिष्ठा नागरिकों के हृदय मे विराजमान थी। एक वार सेठ के स्वजातीय एक पंच उनके घर के सामने से निकल रहे थे। उन्होने देखा कि सेठ का लघु पुत्र खडा-खडा पेशाव कर रहा है। पच को यह वात वहुत बुरी लगी। उस जमाने मे खडे-खडे पेशाव करना—अपलक्षण और शिष्टाचार से विरुद्ध व्यवहार माना जाता था। पंच ने सोचा—इतने वड़े घर का वयस्क लड़का सामान्य शिष्टाचार भी नही पालता है। इतने में सेठ

का पडौसी वाहर निकला। सेठ कुछ वुदवुदाये। उसने पच का आशय समझ लिया। उसने अस्पष्ट स्वर से कहा–'यह कोई नई वात नही है।' पच उनकी वात सुनकर विचार मे पड गया–'आज तो इस लड़के की यह हालत है। कल दूसरे लडके भी ऐसा करने लगेगे। क्योकि लोग प्राय एक-दूसरे का अनुसरण करते है और जो समाज में वड़े है–प्रतिष्ठित है, उनकी हीन वाते भी लोगों को गौरवपूर्ण लगती है। पर मै ठहरा जाति का पच। मै अपने सामने ऐसी वात को होते कैसे देख सकता हूँ ? मुझे अपने जातीय सत्सस्कारो की रक्षा करनी चाहिये और असत्सस्कारो का परिमार्जन करना चाहिये।' पच ने उस लडके को समझाया तो उस लड़के ने उपहास करते हुए कहा–'आप कौन है–हमे रोकने वाले! हमारी इच्छा होगी सो करेगे!' यह वात उन पंच महाशय को वडी अखरी।

वे अन्य पचो के पास गये। उन्हें सारी घटना कह सुनाई। मुख्य पच ने कहा–'समझा देते उस वच्चे को। क्यो महत्त्व देते हो जरा-सी वात को?' पच–'आप इसे छोटी वात समझते है ? यह वात अपनी जाति के ही नही, पूरे देश के शिष्टाचार से विरुद्ध है! मैंने उसे समझाया था। पर उसने मेरा उपहास किया और पड़ौसी ने कहा—'यह तो रोजमर्रा की वात है।' दूसरे पच ने कहा—'वात तो इनकी ठीक है और दूसरी वात, एक के देखा देखी दूसरे के संस्कार भी विगडते है। इसलिए कुछ उपाय करना चाहिये।' मुख्य पच–'ठीक, आपकी वाते मै समझ गया। कुसंस्कार को तो अंशमात्र भी नही पनपने देना चाहिये। नही तो गहरी जडें जमाकर वहुत फूलता-फलता है।'

पचो ने सलाह करके, यह निर्णय किया कि हमें सेठ लक्ष्मीवल्लभ के पास जाकर, अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए कहना चाहिये।

क्योकि उनकी बात का ही उनके छोटे पुत्र पर अच्छा असर हो सकता है। वे चार-पाँच जने सेठ के यहाँ पहुँचे। सेठ ऊपर थे। वे सेठ की प्रतीक्षा करने लगे। पर उन्हे देर हो रही थी। वे ऊपर गये और सातवी मजिल पर पहुँच गये। वहाँ उन्होने साश्चर्य देखा कि सेठ स्वय खडे-खडे पेशाब कर रहे है। वे लज्जित-से एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। मुखिया फुसफुसाया—'बेटे से बाप और सवाया निकला। चलो, लौट चले। हम वृथा आये ?' वे वहाँ से लौट गये। रास्ते मे दूसरा पच बोला—'लगता है कि यह तो इनकी कुल-परम्परा का सस्कार है।' तीसरा बोला—'जैसा कार्य घर के मुखिया को करते देखते है, वैसा ही कार्य घरवाले करते है।' मुखिया पच ने कहा—'अच्छा हुआ कि हम लौट आये। खुद बाप ही दोष-ग्रस्त है तो वह अपने लडके को क्या शिक्षा देगा और उसकी शिक्षा का प्रभाव ही क्या हो सकता है ? सेठ से कुछ कहकर, उल्टे हम अपनी बात ही गँवाते। नीतिकार ने ठीक ही कहा है—

क्यों कीजे ऐसा जतन, जाँसे काज न होय।
परबत पे खोदे कुआ, कैसे निकसे तोय ।।'

अन्य पचो ने कहा—'ठीक कहते है आप।'

कुसंस्कार की परम्परा

'स्वस्थ परम्परा—अच्छे सस्कारो की परम्परा विकास मे सहायक होती है, परन्तु कुसस्कारो की परम्परा विकास को अवरुद्ध कर देती है। कई व्यक्ति कुल की रीति के नाम पर गलत परम्परा से चिपके रहते है। सुदेव और सद्गुरु जैसे प्रबल एव उत्तम निमित्त भी उनके मानसिक मल का प्रक्षालन करने मे असमर्थ रहते है।' प्रमोद—'नानाजी! आपकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। मै तो आपको रूढि-चुस्त परम्परावादी समझ रहा था।' 'बेटा! हम

का पड़ौसी वाहर निकला। सेठ कुछ वुदवुदाये। उसने पच का आशय समझ लिया। उसने अस्पष्ट स्वर से कहा–'यह कोई नई वात नही है।' पच उनकी वात सुनकर विचार मे पड़ गया–'आज तो इस लडके की यह हालत है। कल दूसरे लडके भी ऐसा करने लगेगे। क्योंकि लोग प्राय एक-दूसरे का अनुसरण करते है और जो समाज मे वड़े है–प्रतिष्ठित है, उनकी हीन वाते भी लोगों को गौरवपूर्ण लगती है। पर मै ठहरा जाति का पच। मै अपने सामने ऐसी वात को होते कैसे देख सकता हूँ? मुझे अपने जातीय सत्सस्कारो की रक्षा करनी चाहिये और असत्सस्कारो का परिमार्जन करना चाहिये।' पच ने उस लडके को समझाया तो उस लडके ने उपहास करते हुए कहा–'आप कौन है–हमे रोकने वाले! हमारी इच्छा होगी सो करेगे!' यह वात उन पच महाशय को वडी अखरी।

वे अन्य पचो के पास गये। उन्हे सारी घटना कह सुनाई। मुख्य पच ने कहा–'समझा देते उस वच्चे को। क्यो महत्त्व देते हो जरा-सी वात को?' पच–'आप इसे छोटी वात समझते है? यह वात अपनी जाति के ही नही, पूरे देश के शिष्टाचार से विरुद्ध है! मैने उसे समझाया था। पर उसने मेरा उपहास किया और पड़ौसी ने कहा—'यह तो रोजमर्रा की वात है।' दूसरे पच ने कहा—'वात तो इनकी ठीक है और दूसरी वात, एक के देखा देखी दूसरे के सस्कार भी विगडते है। इसलिए कुछ उपाय करना चाहिये।' मुख्य पच–'ठीक, आपकी वातें मै समझ गया। कुसंस्कार को तो अंशमात्र भी नही पनपने देना चाहिये। नही तो गहरी जडे जमाकर वहुत फूलता-फलता है।'

पचो ने सलाह करके, यह निर्णय किया कि हमे सेठ लक्ष्मीवल्लभ के पास जाकर, अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए कहना चाहिये।

'तुम गान गाती उस समय मन, भय मुझे आता बड़ा,
सुन लोग, समझे ना कहीं, पति-पत्नी को मारे कड़ा' ।।३२।।

एक गृहिणी को सगीत का वडा शौक था। परन्तु उसे दु:स्वर नामकर्म का उदय था। उसके कण्ठ मे जरा भी मधुरता नही थी। फिर भी नित्य प्रति गाने का प्रयत्न करती थी। वह सगीत-विद्यालय में जाकर सगीत-कला का शिक्षण लेती थी और घर भी पर गाने का अभ्यास करती थी। किन्तु जव वह गाने लगती थी, तब उसका स्वर वहुत ही भद्दा लगता था—कर्णकटु लगता था। पास-पडौस के लोग भी मन ही मन नाराज थे। पति को भी उसकी यह चेष्टा अच्छी नही लगती। जव उसकी पत्नी गाती, तव उसे लगता कि कोई उसके कान मे गर्म-गर्म सीसा उँडेल रहा है। वह घवरा उठता था। उसने इस विपय मे पत्नी को अपनी अरुचि का सकेत भी कर दिया था। लेकिन उसने इस ओर ध्यान नही दिया। पति ने भी किसी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता छीनना ठीक नही समझा। अत जव उसकी पत्नी गाने की तान छेडती, तव वह उठकर वाहर चला जाता था।

एक वार पत्नी का ध्यान इस ओर गया। उसे पति का व्यवहार अच्छा नही लगा। उसने सोचा—'अरे! और कोई मेरा अपमान करे तो इन्हे उसका प्रतिकार करना चाहिये। परन्तु ये तो स्वय ही मेरा अपमान करते है।' जव एक दिन उसके तान छेड़ने पर पति उठकर जाने लगे, तव उसने उनके वस्त्र पकडकर रोक लिया और कुछ रोप से बोली—'जहाँ तक आप मेरी वात का खुलासा नही करेंगे, वहाँ तक आप वाहर नही जा सकेंगे।' पतिने अनुभव किया कि वह वडी आफत मे फँस गया है। उसने वात टालने के लिए साहस से कहा—'कहो भी तो! क्यो कपडे पकड़ने से क्या होगा? क्या खुलासा चाहिये तुम्हे?' पत्नी ने लड़ने के मूड मे उपहास का पुट मिलाते हुए

अनेकान्तवादी भगवान महावीर देव के अनुयायी है। हमारी दृष्टि मे श्रेष्ठ परम्पराओ का अत्यधिक महत्त्व है। हम प्राणो का उत्सर्ग करके भी उन परम्पराओं की रक्षा करना चाहेगे। परन्तु कुसस्कार की परम्पराओ को विना किसी हिचकिचाहट के परित्याग कर देगे। वेटा! हमारे पूर्वज क्षत्रिय थे। उनमे वलिदान, मद्य-मांस-भक्षण आदि की कई गलत जातीय परम्पराएँ थी। परन्तु जब उन्हे समझ आई तो उन्होने ये परम्पराएं छोड़ दी और सुन्दर श्रेष्ठ परम्पराएँ अपना ली। जिससे आज हम सभ्य और सुसस्कार-सम्पन्न वने हुए है। परन्तु आज भी कई क्षत्रिय गलत कुल-संस्कारो से जकड़े हुए है और उन्ही कुसस्कारों के कारण वे सम्यग्ज्ञान से दूर रहते है।'

जैसी कुल-रीति

'घर के मुखिया को सुसस्कार से सम्पन्न होना चाहिये। क्योंकि छोटे वड़ो का ही अनुसरण करते है–

जैसी कुल-रीति वैसी करे घरवारे है

कुल की उच्चता-निम्नता का पता मनुष्यो के सस्कारो से लग जाता है। यथा–

हंस. श्वेतो बकः श्वेतः, को भेदो बक-हंसयोः।
नीर-क्षीर-विभागेसु, हंसो हंसो वको बकः॥

हस और वगुला दोनो श्वेत है। फिर बक और हस मे क्या भेद है। क्षीर-नीर को अलग करने के समय हस और वक का भेद प्रकट हो जाता है।'

३९. पति पत्नी को मारे कड़ा?

(हरिगीतिका)

'जब गान में गाती तभी घर, छोड़ क्यों जाते चले?
हे नाथ! तुम इसका खुलासा, जब करें तब ही हिलें।'

ज्ञान-प्राप्ति के बाधक कारणों का वर्गीकरण

वर्धनमुनि—'भन्ते ! इस अध्याय मे ज्ञान-प्राप्ति के बाधक कारणो का वर्णन किया गया है। क्या इन कारणो का निम्नलिखित रूप से विभाजन किया जा सकताहै—

१ अविरत की सेवा—१८ वाँ दृष्टान्त
२. ज्ञानी की आशातना—२२, २३ दृष्टान्त
३ ज्ञान की अवहेलना—२१, २४ दृष्टान्त
४ समुचित उपाय का अभाव—१९, २०, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ वाँ दृष्टान्त ।

ज्ञान-प्राप्ति के समुचित उपाय के अभाव मे वाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकार के साधनो के समुचित उपाय के अभाव को गर्भित किया जा सकता है। क्या यह वर्गीकरण ठीक है ?'

भद्रमुनि वर्धनमुनि के इस चिन्तन से वडे प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'तुमने वहुत सुन्दर और व्यवस्थित विभाजन किया है। ऐसा चिन्तन ही ज्ञान-प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। यथा—

दोहिं ठाणेहिं आया केवलं बोधिं बुज्झेज्जा,
तं जहा—सोच्चच्चेव, अभिसमेच्चच्चेव ।

दो उपायो से आत्मा विशुद्ध बोवि को प्राप्त कर सकता है; यथा—सुनकर और विचारपूर्वक जानकर।'

—ठाणग २/१

कहा—'ओ स्वामीनाथ ! जब मै गाने लगती हूं, तब आप घर छोड़कर बाहर क्यो भाग जाते है ? इस बात का मुझे खुलासा चाहिये !' पति ने सकपकाते हुए कहा—'तो इससे क्या हुआ ?' पत्नी घुडककर बोली—'दूसरे का अपमान करते है और ऊपर से भोले बनते है ! अरे ! कोई मेरा अपमान करे तो आपको बुरा नही लगेगा ! पर आप खुद ही मेरा अपमान कर रहे है जो !' पति ने सम्हलकर धीमे से कहा—'देवीजी ! मै तो आपकी शान बनाये रखने के लिए बाहर चला जाता हूँ ?' पत्नी आश्चर्य से पूछने लगी—'क्या कहा ? आप मेरी शान रखने के लिए बाहर चले जाते है ? सो कैसे ?' पति एक-एक शब्द तोलता हुआ बोला—'मै बाहर इसलिए चला जाता हूँ और इसलिए वहाँ घूमता रहता हूँ कि कोई यह शक न करे कि हम झगड रहे है, मै तुम्हे पीट रहा हूँ और तुम रो रही हो। लोग मुझे बाहर देखेगे तो वैसा शक नही करेगे।'

पत्नी पति की बात सुनकर विचार मे पड गई। फिर उस दिन के बाद उसकी हिम्मत गाने की न हुई। पर पति ने उसे समझाया कि 'मै तुम्हारे प्रयत्न का विरोधी नही हूँ। परन्तु अपने को प्रयत्न इस-प्रकार करना चाहिये कि किसी को कष्ट और अरुचि न हो, तुम गुनगुनाकर अपना शौक पूरा कर सकती हो।' पत्नी को यह बात समझ मे आ गई।

योग्यता

'ज्ञान-प्राप्ति मे अपनी योग्यता भी देखना चाहिये। यदि अपनी योग्यता की उपेक्षा करके, ज्ञानार्जन का प्रयत्न किया जाता है, तो सफलता प्राप्त नही होती है। अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञानाभ्यास का उद्यम करने पर ही ज्ञान का विकास हो सकता है। इस प्रकार योग्यता की कसौटी का अभाव भी ज्ञान-प्राप्ति मे बाधक कारण है।'

१ विचार-हीनता, २ बहिर्मुखता—आत्मभान का अभाव, और ३. अनिरीक्षणता अर्थात् अज्ञान के कारण समझ मे आवेश का अश आ मिलता है, जिससे विचार की गति अवरुद्ध हो जाती है या विचार पर को केन्द्र मान कर उनके आसपास ही चक्कर काटते रहते है और स्व-पर का पूरी तरह से निरीक्षण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है।'

पहला धब्बा: विचारहीनता

अज्ञान का पहला रूप 'विचार-हीनता' है। ठीक रूप से यथा-योग्य विचार नही कर पाना या गलत विचार करना विचार-हीनता है। इसके दो रूप हो सकते है—समझ से सम्बन्धित विचार-हीनता और व्यवहार से सम्बन्धित विचार-हीनता। अगले दो दृष्टान्तो मे इनका क्रमश. वर्णन किया जा रहा है।

ज्ञानांश-विचार-हीनता

छद्मस्थ जीव को अश-अश रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। अत· व्यक्ति उन ज्ञानाशो का या तो पूर्ण समझ लेता है या उनका ठीक रूप से समन्वय नही कर पाता है या गलत सन्मवय कर लेता है अथवा क्रिया की उत्सुकता मे ज्ञानांश की उपेक्षा करता है। इस प्रकार ज्ञानाश विचार-हीनता के चार रूप होते हैं–(१) एकान्तवाद, (२) असमन्वय, (३) मिथ्या समन्वय; और (४) क्रिया-उत्सुकता वत्तीसवॉ दृप्टान्त एकान्तवाद और क्रिया उत्सुकता के विपय मे प्रमुख रूप से प्रकाश डालता है।

३२. बिना ज्ञान क्रिया अफल

(कवित्त)

क्षत्रियों को एक सेठ, नोता दिया जीमने का,
खाये, पर दृष्टि एक, घड़े पर डारी है;

९.

अज्ञान के धब्बे

अज्ञान पाप है ?

प्रवीण ने पूछा—'नानाजी ! अज्ञान पाप है, क्या ?' 'वत्स ! अज्ञान के दो अर्थ है—अल्प समझ और विकृत समझ। अल्प समझ रूप अज्ञान पाप का फल है और विपरीत समझ रूप अज्ञान मिथ्यात्व से वासित ज्ञान है। इसे उपचार से पाप कहा जा सकता है। परन्तु अठारह पापस्थानो मे अज्ञान नाम का कोई पाप नही है।' मृदुला—'अज्ञान को पापस्थानो मे अलग क्यो नही गिना गया है ?' 'प्रत्येक पाप के मूल मे अज्ञान रहता है—ज्ञान की मन्दता और विकृतज्ञान रहता है। ज्ञान की मन्दता ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होती है और समझ की प्राप्ति ज्ञानावरणीय कर्म के आशिक नाश से होती है। परन्तु उसकी विपरीतता मिथ्यात्व से प्रेरित होती है। समझ कभी वन्ध का कारण नही होती है। पर वन्ध का हेतु मिथ्यात्व है और अज्ञान उसका सहचारी होता है। इसलिए पाप-वन्ध के कारण रूप अठारह पापस्थानो मे मिथ्यात्व ही गिना गया है—अज्ञान नही।'

अज्ञान के रूप

'अज्ञान के अनेक रूप हो सकते है। अज्ञान के समस्त रूपो को गिनाना सम्भव नही है। यहाँ इस दूसरे वर्ग के दूसरे अध्याय मे अज्ञान के प्रमुख रूप से तीन रूप वतलाये गये है। वे इस प्रकार है—

उसी समय एक क्षत्रिय अपनी भूली हुई वस्तु लाने के वहाने भीतर गया। वस्तुतः वह भीतर कुछ भेद पाने के लिए गया था और वह एकान्त मे सुरक्षित स्थान पर रखे हुए मटके को देखकर वडा प्रसन्न हुआ। उसने सुन रखा था कि सेठ के यहाँ इतने जवाहारत है कि उसे उन्हे हण्डो मे भरकर रखना पडता है। वह वाहर आया। उसकी प्रसन्नता से अनुमान लगा लिया कि अपने कार्य की सिद्धि का सुराग मिल गया है।

क्षत्रियो को विदा करते हुए रात हो गई। सेठ थकावट और समय की कमी के कारण घडे मे रखे हुए सर्प को जगल मे छुडवाना भूल गया। इधर वे क्षत्रिय गॉव के वाहर आये और उन्होने सेठ के घर मे सेध लगाने की योजना वना ली। क्योकि सेठ का घर लूट लेना सरल नही था। मध्य रात्रि के समय कुछ क्षत्रिय गाँव के वाहर ही ठहर गये और कुछ सेठ के घर की ओर रवाना हुए। उनमे से एक किसी उपाय से उस सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया और वहॉ मे मटका उठाकर, अपने साथियो के पास आ गया। विना किसी कठोर परिश्रम के उनके हाथ वहुत वडा खजाना लगा है—यह सोचकर वे सव प्रसन्न थे। आज वे मालामाल हो जाएँगे। प्रत्येक के हिस्से में काफी धन आएगा। मटका वहुत भारी है। जरूर ही इसमे जवाहारत होगे। यह सोचकर उनकी खुशी का पार नही था।

वे गॉव के वाहर अपने साथियो के पास आ गये। मटका मुखिया के सामने रख दिया गया। उसने मटके का मुँह खोला और उसमे हाथ डाला। सॉप ने उसे काट खाया। मुखिया सव कुछ समझ गया। परन्तु उसने वात प्रकट नही होने दी। वह अपने साथियो से वोला—'दोस्तो! इसमे धन तो वहुत है। परन्तु तुम मेरे साथी हो। आज प्रसन्नता का दिन है। इसलिए मै तुम्हारे हाथ से धन वँटवा-

सेठ घर में से सर्प, निकला—सो धरा घट,
क्षत्री यों सोचे-घड़े में जवाहर भारी है ।
चोर बन क्षत्री सब, गये घड़ा लेन रात,
हाथ डाला, काटा सर्प, गये भव हारी है;
कहे 'सूर्यमुनि' क्षत्री, बिना ज्ञान क्रिया करे,
आकाश-कुसुमवत्, अफल विचारी है ।।३३।।

सेठ धनपाल बडा उदार था। वह अतिथि को देवतुल्य मानता था। अतः जो भी उसके द्वार पर आता था, वह उसके आतिथ्य से प्रसन्न होकर ही जाता था।

कुछ क्षत्रिय समीप के ग्राम मे ही रहते थे। उनकी दृष्टि सेठ के धन पर लगी हुई थी। वे सेठ के आतिथ्य की प्रशसा सुन ही चुके थे। अतः वे किसी बहाने से सेठ के यहाँ आ खटके। सेठ ने उनकी बडी आवभगत की। सेठ उनके लिए भोजन तैयार करवाने मे लग गये।

इतने मे घर मे भयकर भुजग निकला। एक सुन्दर बडा मटका पास ही पडा हुआ था। जल्दी मे उस जहरीले साँप को उसी मटके मे डालकर और ऊपर एक कपडा बाँधकर, उसे सुरक्षित एकान्त स्थान पर इसलिए रखवा दिया कि कार्य से निवृत्त होने पर उसे जगल मे छुडवा दिया जाएगा।

सेठ ने क्षत्रियगण को सत्कार-सम्मान से मनुहार करते हुए भोजन करवाया। सेठ स्वय भोजन परोस रहे थे। क्षत्रिय भोजन करते जा रहे थे और अपनी चकोर दृष्टि से टोह भी लेते जा रहे थे। परन्तु वे निराश हो गये। उन्हे सेठ के धन रखने के स्थान का कुछ भी पता नही लगा। सेठ उन्हे बाहर लाकर पान-सुपारी दे रहे थे।

उसी समय एक क्षत्रिय अपनी भूली हुई वस्तु लाने के वहाने भीतर गया। वस्तुतः वह भीतर कुछ भेद पाने के लिए गया था और वह एकान्त मे सुरक्षित स्थान पर रखे हुए मटके को देखकर वडा प्रसन्न हुआ। उसने सुन रखा था कि सेठ के यहाँ इतने जवाहारत है कि उसे उन्हे हण्डो मे भरकर रखना पडता है। वह वाहर आया। उसकी प्रसन्नता से अनुमान लगा लिया कि अपने कार्य की सिद्धि का सुराग मिल गया है।

क्षत्रियो को विदा करते हुए रात हो गई। सेठ थकावट और समय की कमी के कारण घडे मे रखे हुए सर्प को जगल मे छुडवाना भूल गया। इधर वे क्षत्रिय गॉव के वाहर आये और उन्होने सेठ के घर मे सेघ लगाने की योजना वना ली। क्योकि सेठ का घर लूट लेना सरल नही था। मध्य रात्रि के समय कुछ क्षत्रिय गॉव के वाहर ही ठहर गये और कुछ सेठ के घर की ओर रवाना हुए। उनमे से एक किसी उपाय से उस सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया और वहाँ से मटका उठाकर, अपने साथियो के पास आ गया। विना किसी कठोर परिश्रम के उनके हाथ वहुत वडा खजाना लगा है—यह सोचकर वे सव प्रसन्न थे। आज वे मालामाल हो जाएँगे। प्रत्येक के हिस्से मे काफी धन आएगा। मटका वहुत भारी है। जरूर ही इसमे जवाहारत होगे। यह सोचकर उनकी खुशी का पार नही था।

वे गॉव के वाहर अपने साथियो के पास आ गये। मटका मुखिया के सामने रख दिया गया। उसने मटके का मुँह खोला और उसमे हाथ डाला। सॉप ने उसे काट खाया। मुखिया सव कुछ समझ गया। परन्तु उसने वात प्रकट नही होने दी। वह अपने साथियो से बोला—'दोस्तो! इसमे धन तो वहुत है। परन्तु तुम मेरे साथी हो। आज प्रसन्नता का दिन है। इसलिए मै तुम्हारे हाथ से धन वँटवा-

ऊँगा। लो, तुम धन निकालो।' उसके ऐसा कहने पर पास वाले साथी ने हाथ डाला। उसकी भी यही दशा हुई। उसे लगा कि यह गॉव की ओर से आने वाले साथियो का षड्यन्त्र तो नही है। परन्तु उसने कष्ट का कुछ भी आभास न होने देकर, मटका लाने वाले साथियो से कहा—'यार! धन तुम लाये हो। इसलिए तुम्ही बॉटो!' उन लोगो ने जैसे ही मटके की ओर हाथ वढया, साँप फुँफकारता हुआ उठा। वह घवराया हुआ था ही और कुपित भी हो रहा था। क्षत्रिय सभी किंकर्त्तव्य-मूढ हो गये। साँप ने कइयो को काट लिया। परन्तु वे उस सॉप का कुछ नही विगाड सके।

ज्ञान-बिना-क्रिया

'इस दृष्टान्त की प्रमुख शिक्षा यह है कि ज्ञान के विना सही क्रिया होना असम्भव है। उन क्षत्रियो को यह पता नही था कि मटके मे क्या है? वे यही समझते रहे कि मटके मे धन है और उन्हे इस अज्ञान के कारण की गई क्रिया का कडा दण्ड मिला। वस्तुत सही ज्ञान के विना सही क्रिया हो ही नही सकती है—

'बिना ज्ञान क्रिया करे,
आकाश—कुसुमवत् अफलविचारी है।'

जिनेन्द्र देव का कथन है—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व-संजए।

—पहले ज्ञान है और वाद मे दया अर्थात् चारित्र है। सर्वसयत इसी प्रकार स्थित रहते है। —दसवेयालिय ४/१०

ज्ञान बिना करणी विफल, क्रिया बिना हत ज्ञान।
अंध-पगु दोनों मरे, बिछड़ अनल दरम्यान॥

ज्ञान के विना क्रिया अँधी है और क्रिया के विना ज्ञान पगु है। अत. परस्पर विरोधी होने पर दोनो ही विनाश के कारण होते है।

मिथ्याज्ञान से प्रेरित क्रिया

मिथ्याज्ञान से प्रेरित होने पर क्रिया भी मिथ्या हो जाती है। जिस प्रकार ज्ञान-विहीन-क्रिया दु खद होती है, उसी प्रकार मिथ्या-ज्ञान से प्रेरित क्रिया भी दुःखद होती है। क्षत्रियो को सर्प मे धन का ज्ञान हुआ था। जिससे उनकी सभी क्रियाएँ भी उनके न चाहते हुए भी दु ख की हेतु वनी। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान से प्रेरित तप, जप,व्रत आदि भी, न चाहते-हुए भी जीव के लिए, मुक्ति के हेतु न वनकर, संसार के हेतु वन जाते है।

मिथ्या-ज्ञान

एकान्त, असमन्वित, मिथ्या-समन्वित और क्रिया-उत्सुकता से प्रेरित समझ मिथ्याज्ञान है।

एकान्तवाद--वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। किसी एक धर्म को मानकर अन्य धर्म का विरोध करना--एकान्तवाद है। यथा--

जमणेग धम्मणो वत्थुणो, तदंसे च सव्व-पडिवत्ती।
अंधव्व गयावयवे, तो मिच्छादिट्ठिणो वीसु॥

--जैसे किन्ही जन्मान्धो के द्वारा हाथी के एक अवयव को जानने पर, उन्ही एक-एक अवयवो को पूरा हाथी मानना मिथ्या है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक वस्तु के एकाश ज्ञान को भी पूरे पदार्थ की जानकारी मानना मिथ्या है।

वस्तुत सभी दृष्टियाँ अपनी-अपनी सीमा मे सत्य होती है। परन्तु जव वे अपने विपय की मर्यादा का अतिक्रमण करती है, तव वे सभी मिथ्या हो जाती है। आचार्यप्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकर कहते है--

णियय-वयणिज्ज सच्चा, सव्व नया पर-वियालणो मोहा ।
ते उण ण दिट्ठ-समयो, विभयइ सच्चे व अलिए वा ।।

सन्मति १।२८

सभी नय अपने-अपने कथन मे सच्चे है। परन्तु दूसरे नयो की विचारणा मे असत्य है । इसलिए सिद्धान्त के रहस्य का पारगामी 'अमुक नय=अभिप्राय सच्चे है' और 'अमुक नय झूठे है'—ऐसा विभाजन नही करता है ।

असमन्वय—वस्तु के विभिन्न धर्मों को विपय करनेवाली विभिन्न दृष्टियाँ होती है । उनके विभिन्न आशयो को समझकर, जब तक उन्हे ठीक रूप से नियोजित नही किया जाता है, तब तक उन्हे सत्य मान लेने पर भी वे दृष्टियाँ सम्यक् नही हो सकती है । जैसे एक ही स्थान पर रखी हुई मकान की सामग्री मकान नही होती है ।

गेहन मिट्टी आदि हो, भले रखे इक ठाम ।
सम्यक् हो नहि दृष्टियाँ, पाये बिन निज धाम ।।

'अणु'

नय या दृष्टियाँ परस्पर विरोधिनी होती है । जब तक वे उनके विरोध को शमन करने वाले समर्थ पुरुप के आश्रय को प्राप्त न करती है, तब तक वे असन्वित ही रहती है । जैसा कि समर्थ श्रुत पारगामी कहते हैं—

न समेंति न य समेया, सम्मत्त नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थु-विधायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ।।

निरपेक्ष मत सामुदायिकता प्राप्त नही करते है । उन्हे समुदाय में कर देने पर भी वे सम्यक नही होते है और न वे वस्तु के गमक=ज्ञाता ही होते है । क्योकि वे पृथक्-पृथक् भी वस्तु के गमक नही होते हैं । इसका कारण यह है कि वे वैरी के समान परस्पर विरोधी होते हैं ।

मिथ्या समन्वय–दृष्टि या मत का गलत संयोजन या एक ही दृष्टि से विरोधी धर्मो को स्वीकार कर लेना मिथ्या समन्वय है। जैसे हिसा भी धर्म है, अहिसा भी धर्म है–यह मानना। अथवा कारण से विरुद्ध कार्य का कथन करना भी मिथ्या समन्वय है–

हिंसा कारण, कारज धर्म,
कहते जरा न आवे शर्म।
जाने नहीं धर्म का मर्म,
नाहक अनहद जीव सतावे ..

–आचार्य श्री माधवमुनि जी

क्रिया-उत्सुकता–मनुष्य के हृदय मे क्रिया करने की जव तीव्र उत्सुकना होती है, तव वह वस्तु-स्वरूप के ज्ञान के प्रति लापरवाही कर देता है। जिससे जानकारी मे गडवड पैदा होती है अथवा अपनी क्रियावृत्ति को आलस्य, प्रमाद के कारण दवा देने पर ज्ञान मिथ्या रूप में परिणत हो जाता।

३३ व्यवहार सम्बन्धी विचार-हीनता

व्यक्ति का व्यवहार स्व और पर दोनो के प्रति प्रवाहित होता है। उस व्यवहार मे किसी के विचार व्यक्ति केन्द्रित होते है तो किसी के समूह-केन्द्रित। अत. जव किसी के अस्वस्थ विचार होते है, तव विचार-हीनता पैदा होती है। यह विचार-हीनता अज्ञान का दूसरा रूप है। इस व्यवहार-विचार-हीनता के तीन अश है (१) अतिवैयक्तिकता, (१) अति सामूहिकता; और (३) उत्तरदायित्वहीनता। व्यक्ति और समूह का सांसारिक अवस्था मे अन्योन्य आश्रित सम्वन्ध है। जितना व्यक्ति और समूह का पारस्परिक सम्बन्ध है, उनका उससे अधिक या कम महत्त्व आकने से वैचारिक दरिद्रता उत्पन्न होती है और व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझ नही पाता है।

ऐसे ही सभी ने सोचा

(कवित्त)

'सारे ही गाँव के लोक, एक कुड बीच डालो–
दूध घड़ा रात में--यों शाह फरमाया है;
एक ने सोचा कि--'एक घड़ा पानी डाल देवें,
पता क्या लगेगा ? एते दूध में समाया है।'
ऐसे ही सभी ने सोच, पानी-घड़ा तामें डाला,
प्रात होते शाह देखा अचरज लाया है,
कहे "सूर्य" मेरे अकेलेके न करे क्या हानि ?
ऐसा सब सोचे तव कौन सिद्धि पाया है ? ।।३४।।

'मनुष्य मे स्वार्थ वृत्ति प्रधान होती है। उनमे और वातो मे विचार समान हो या न हो, परन्तु स्वार्थ मे उनके विचार एक समान हो जाते है। इसलिए व्यक्ति सामुहिक कार्यो, सम्पत्ति आदि की अवहेलना करता है।'–मत्री सुदत्त ने किसी प्रसग मे यह वात कही। राजा शाहजी का विचार था कि यदि छोटी-छोटी चीटिया हिल-मिलकर कण सञ्चय कर सकती है, मधुमक्खियाँ सामूहिक रूप से छत्ता वनाकर, मधु निर्माण कर सकती है, तो मनुष्य समस्त नगर को एक घर मान कर, या सारे राज्य को एक नीड मानकर, हिलमिल कर कार्य क्यो नही कर सकता है ? मत्री ने कहा–'राजन् ! सामूहिक रूप से कार्य करने से मै इकार नही कर रहा हूँ। मनुष्य का वहुत कुछ विकास सामूहिक रूप से कार्य करने पर ही हुआ है। परन्तु साधारण मनुष्य समूह को अधिक महत्त्व नही दे पाता है। वह अवसर ढूढता ही रहता है–सामूहिकता से व्यक्तिगत लाभ उठाने का और थोडा-सा अवसर मिलते ही पूरा का पूरा समूह अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए लालायित हो उठता है और वह लाभ उठा ही लेता है। यदि आपको विश्वास न हो, तो इस वात की परीक्षा करके देख लीजिये।'

राजा ने कुछ सोचकर, नगरजनो मे आदेश प्रसारित करवा दिया कि रात मे वगीचे के कुण्ड मे प्रत्येक घर से एक-एक घड़ा दूध डाल दिया जाय। फिर उसका जो भी उपयोग करना है, उसकी सूचना कल दी जाएगी। लोगो ने आदेश सुना और दूसरे दिन सूर्योदय के पहले ही आदेश का पालन कर दिया।

राजा का दूसरा आदेश था—'प्रात.काल सभी लोग वगीचे मे उपस्थित हो जाएँ!' राजा और मत्री वगीचे मे पहुँचे, तव बगीचे मे उषाकालीन उजेला सूर्य के आगमन की सूचना दे रहा था। लोग भी वगीचे के वाहर जमा हो गये थे। लोगो ने राजा को नमस्कार किया। राजा ने कहा—'चलो, हम दुग्ध-कुण्ड देख आएँ। फिर उसके उपयोग की व्यवस्था करे।' उस समय सूर्य पूर्व दिशा मे झाँकने लगा था।

राजा और लोग कुण्ड के पास पहुँचे, तव वहाँ कुण्ड मे लवालव जल भरा हुआ दिखाई दिया। राजा के आश्चर्य का पार नही रहा। लोगो का मुँह सूर्य-किरण की लाली से सुशोभित होने के वजाय भय से पीला पड गया। राजा ने कहा—'क्या कारण है कि यह दूध जल हो गया?' राजा ने लोगो की ओर देखा। वे भय से काँप रहे थे। राजा ने उनका भय दूर करते हुए कहा—'डरो मत! जो वात हो, वह सच-सच कह दो। तुमने कुण्ड मे दूध डाला था या पानी?' लोगो को लगा कि बुरे फँसे है और अब सही वात वताये विना छुटकारा नही है। लोगो ने एक स्वर से कहा—'पानी।' राजा ने आगेवान से पूछा—'क्या आप सवने मिलकर, राजाज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का निर्णय किया था?' सभी बोले—'नही, राजन्!' राजा—'तो फिर आपने पानी कैसे डाला?' मुखिया ने उत्तर दिया—'राजन्! राजाज्ञा का विरोव करने की इच्छा नही थी। परन्तु थोडा-सा लोभ आ गया था। मैने सोचा कि हजारो घडे दूध के

पडेगे। उसमे मेरा पानी का एक घडा कही भी खप जाएगा।' राजा ने मुस्कराते हुए दूसरे लोगो की ओर देखकर पूछा—'आप लोगो ने भी ऐसा ही सोचा होगा ?' सवका उत्तर था—'जी, हॉ।'

राजा ने सुदत्त से कहा—'मन्त्रिवर! देखो, दूध मे नही तो पानी मे ही सही—'सौ सयाने एक मत'—यह लोकोक्ति चरितार्थ हो ही गई।' मत्री—'राजन्! पापकार्य मे प्राय. अधिकाश जीव एकमत ही होते है। परन्तु लोगो की सत्कार्य मे विपरीत दशा होती है। सत्कार्य लोगो के अपने उत्तरदायित्व को न समझने के कारण और स्वार्थ के कारण प्राय. विनष्ट हो जाते है।'

मेरे अकेले के न करे क्या हानि ?

ऋपभदासजी ने इस दृष्टान्त का सार वताते हुए कहा—'इस प्रकार विचार-हीनता के कारण लोग पापकार्य करने और सत्कार्य नही करने मे एकमत होते है। वहुत वडे समूह मे व्यक्ति अपने को उत्तरदायित्व से मुक्त समझने लग जाता है और वह स्वय कार्य से जी चुराने लग जाता है। वह समझता है कि यह कार्य करने का मैंने ठेका थोडे ही ले रखा है ? और भी इतने सारे लोग है, करेगे वे! मै अकेला नही करूँगा तो ऐसी कौन-सी हानि हो जाएगी ? तुम कल्पना कर सकते हो कि यदि सव ऐसा ही सोचते रहे तो कार्य की क्या हालत होगी ?

कई व्यक्ति घोर व्यक्तिवादी होते है, जिससे वे अत्यन्त स्वार्थी हो जाते है। वे वात-वात मे समाज को, समाज के प्रमुखो को और समाज की रीति-नीति को कोसते ही रहते है। सघ के सम्वन्ध मे भी उनका यही रवैया रहता है और वे समाज और धर्मसघ की मर्यादाओ को तोड़ने मे गौरव अनुभव करते है—क्रान्ति समझते है।

इसमे विपरीत कई व्यक्ति घोर समाजवादी वनकर आत्मतत्त्व को भुला देते है। वे स्वार्थ त्याग की वाते करते है। परन्तु लोकेषणा मे उलझ जाते है। उन्हे आत्म-साधना मे भी स्वार्थ की बू आती है। अतः वे वीतरागता को साधने की प्रक्रिया के घोर विरोधी वन जाते है, और साधुओ की, धर्म की, धर्मसव की और धर्मसघ के नायको की अति कटु आलोचना करते है। इन्हे अति स्वार्थी सिद्ध करते है और अपने को श्रेष्ठ लोकोपकारी बताते है।

दूसरा धब्बा : बहिर्मुखता

अज्ञान का दूसरा रूप है—वहिर्मुख विचार। वहिर्मुखता की दो स्थितियाँ है—अपनी और अपने से सम्वन्धित वर्ग की अच्छाइयो को भी वुराइयाँ समझते हुए, दूसरे की और उनसे सम्वन्धित वर्ग की अच्छाइयाँ या वुराइयाँ सभी को अच्छाई-मानना और उनकी नकल करने के लिये प्रवृत्त होना यह वहिर्मुखता की प्रथम स्थिति है और दूसरे की अच्छाइयो को न देखते हुए, अपने और अपने वर्ग मे अच्छाइयाँ न होते हुए भी अच्छाइयों का आरोपण करना—यह वहिर्मुखता की दूसरी स्थिति है। अगले दो दृष्टान्त प्रथम स्थिति को स्पष्ट करते है .

३४. कोट-पतलून डाटे

एक बाबू महाशय, कोट-पतलून डाटे
टाई-कालर लगाये, संग कुत्ता लाय के,
स्टेशन पे पहुँच के, मास्टर से पूछा ऐसे—
'नौ बजे पैतालीस की गाड़ी कब जायके ?'
'जाती पौने दस बजे—'सुन बाबू बिगड़े कि—
'टुम लोग वक्त कैसे देते बदलाय के,—

नौ पैंतालीस की गाड़ी पौने दस वजे जाती ?
'सूर्य' ऐसे समझे न, वुद्धि जड़ पाय के ।।३५।।

कान्ति को उसके मित्र 'पण्डितजी' कहा करते थे। क्योंकि उनके वीच में एक वही धोती पहनता था और सस्कृत-प्राकृत भाषा के अध्ययन का पक्षपाती था। उसके मित्र उसकी मजाक करने के लिए—'संस्कृति के उन्नायक', 'आर्यनेता', 'धर्म-धुरन्धर' आदि शब्दों से उस पर फब्तियाँ कसा करते थे और वह भी कभी-कभी उन्हे ऐसी खरी-खरी सुनाता था कि वे तिलमिला उठते थे।

एक वार काति किसी की वारात मे गया। साथ मे उसके कुछ मित्र भी थे। परन्तु अधिकाश युवक वाहर से आये हुए रिश्तेदार थे। और सभी आधुनिक वेशभूषा मे सुसज्जित थे। वे अपने को नये विचार वाले-नई रोशनी वाले मानते थे। सिनेमा के स्टार उनके आदर्श थे। उनके नये विचार का मतलव-वैषयिकता की ओर अन्धी दौड ही लगता था। वे धोतीधारी कान्ति को अपने वीच मे देखकर उस पर व्यग करने लगे।

एक वोला—'इन सस्कृति के ठेकेदारो को पुराने से वहुत मोह है। पर ये नही जानते है कि जो जीर्ण है—पुराना है, वह नष्ट होने को ही है।' दूसरा वोला—ऐसे लोग ही ज्ञान के द्वार वन्द कर देते है। नई रोशनी का उजेला समाज मे नही फैलने देते है।' थोड़ी देर पहले इसी युवक ने जव वारात मे नवयुवको के डाँस का प्रस्ताव रखा था, तव काति ने उसका विरोध किया था, उसी ओर उसका व्यंग था। तीसरा वोला—'यार! इन धोतीवालो का ज्ञान ही कितना है ? इनकी सस्कृति धोती मे ही अटक गई है ?'

कान्ति कभी से चुपचाप सुन रहा था। क्योकि वह वृथा वात वढाना नही चाहता था। लेकिन अव वह चुप न रह सका। उसने

व्यंग से कहना प्रारम्भ किया—'हाँ, दोस्तो ? सचमुच मे धोतीवाले गँवार होते है । वे मौका पढने पर धोती को ओढ भी लेते है—बिछा भी लेते है. उसमे कुछ बाँध भी लेते है और उसके फटने पर उसके रुमाल भी बना लेते है । ये सब गँवारो के ही तो काम है ! आप पेटवाले कितने सभ्य है ! आपकी हर छटा, हर अदा, यहाँ तक कि भाषा भी निराली है ! आपकी शान के क्या कहने ? और आपका ज्ञान तो सात समुद्र के पार से मजकर आया है। मुझे एक घटना याद आ गई है। आप भी उसे सुनिये—

एक बाबूजी आशिखनख आधुनिकता मे डूबे हुए थे। यह उस समय की बात है, जब भारत देश अंग्रेजो की दासता की बेडी से जकडा हुआ था । लोग पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल करने मे ही आधुनिकता और शान समझते थे । वे बाबूजी कोट-पेंट डाटे हुए थे । उन्होने बाकायदा टाई-कालर लगा रखे थे। हाथ मे छडी थी और साथ मे पालतू कुत्ता था । वे कुत्ते की जजीर हाथ मे पकडे हुए प्लेटफार्म पर घूम रहे थे । वे गाडी की प्रतीक्षा कर रहे थे । उन्हे असभ्य लोगो मे घूमना बुरा लग रहा था । वे आकुल-व्याकुल हो रहे थे । वे गाडी की प्रतीक्षा मे थे । पर अभी तक गाडी नही आई थी । जब उनकी आतुरता बढ गई, तब वे स्टेशन मास्टर के पास पहुँचे । उन्होने मास्टर से पूछा—क्यो जी ! नौ पैंटालीस की गाडी कब जाती है ?' स्टेशन मास्टर ने आश्चर्य से उन्हे सिर से लगाकर पैर तक देखा । उसे उन बाबू की हिंदी का अंग्रेजी लहजा अच्छा नही लगा था और वह खुद ही गाडी का समय जान रहा है, फिर क्या पूछना चाहता है—यह मास्टर समझ न पाया । पर उसे चुहल करने की सूझी । अत उसने कहा—'आप इतने व्याकुल क्यो हो रहे है ? गाडी पौने दस बजे जाती है ?' यह बात सुनकर वे अंग्रेज के बच्चे

भड़क उठे। वे बिगड़ते हुए बोले—'टुम लोग कैसा हो? बार-बार गाड़ी का टाइम बदल देता हो? ट्रेवलर को कितना ट्रबल होता है? टुमने नौ पैंटालीस की गाडी को पौने डस की कर डिया ....'

कान्ति की मुग्ध मुद्रा, उसका उच्चारण और हाव-भाव देखकर, सभी 'हो-हो' करके हँस पड़े। एक नवयुवक बोला—'आप भी कैसी बातें गढ़ रहे हो। क्या आज का शिक्षित नौ पैंतालीस और पौने दस का अन्तर भी नहीं जानता है। कांति दृढ़ता से बोला—'हाँ! अन्तर भले ही जानता होगा। परन्तु इनमें कुछ भी अन्तर नहीं है—यह नहीं जानता है। यदि आप यह जानते होते तो वेशभूषा के कारण न तो मुझे पुरातन मानते और न अपने को अत्यधिक सभ्य और आधुनिक ही मानते। क्या पश्चिम की सिर्फ बाहरी नकल करने से ही पश्चिम के सभी सद्गुण आप में आ जाएंगे और भारतीय वेशभूषा का परित्याग करने मात्र से ही आपके या आपके समाज के सभी दुर्गुण चले जाएँगे। वस्तुतः यह तो वस्त्रों की पूर्वी और पश्चिमी शैली मात्र है। न तो इनमें पुरातनता है और न नूतनता ही है!' सब कान्ति की बात से अभिभूत होते जा रहे थे। वे मन्त्र मुग्ध से कान्ति की ओर देख रहे थे। कान्ति का मुख आवेश से उद्दीप्त हो उठा था। वह कुछ क्षण चुप रहा। फिर उनकी ओर तीव्र दृष्टि डालते हुए वह वेग से बोलने लगा—'आज आप अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने भाव, अपने धर्म आदि से अज्ञात रहकर, पठित मूर्ख बनते जा रहे हैं। आपकी स्थिति त्रिशंकु जैसी हो रही है। क्योंकि आप जिस देश में, जिस समाज में, जिस कुल में जन्मे हैं, वहाँ से न तो पूरे कट सकते हैं, न पूर्णतः उन संस्कारों को छोड़ सकते है और न पूरे पश्चिमी ही बन सकते हैं! वैज्ञानिकता के नाम पर अपनी भाषा अपना धर्म, अपनी संस्कृति,—आप सब कुछ छोड़ते

जा रहे है !' उसकी वात का उत्तर देने का किसी को साहस न हुआ।'

'सूर्य' ऐसे समझे न, बुद्धि जड़ पाय के'

इस प्रकार वहिर्मुखता के कारण मनुष्य की बुद्धि जड हो जाती है। वह ज्ञानार्जन भी करता है। ज्ञानियो जैसी चर्या भी करता है और ज्ञान का जोश भी वहुत दिखलाता है। परन्तु वह तत्त्व के मर्म को पहचान नही पाता है और विवेक से शून्य अनुकरण ही करता रहता है। 'दूसरी वात, वहिर्मुख व्यक्ति सभ्यता, सस्कृति, खान-पान आदि बाहरी वातो पर जोर देते रहते है। परन्तु अपनी भीतरी मलिन वृत्तियो को सुधारने की ओर ध्यान नही देते हैं। धर्म के नाम पर भी वाहरी कर्मकाण्ड मे उलझ जाते है। परन्तु अपने आत्म-स्वरूप की निर्मलता की उपेक्षा करता है—भाव-साधना की ओर ध्यान नही देता है और धर्म मे भी नये-पुराने के झगड़े खडे कर देता है।'

३५. पहले था हृदय आगे

वैद्य से बीमार कहे—'कलेजा धड़क रहा'
पीठ दबा-दबाकर, देखे वैद्य तब ही;
'अजी वैद्यराज ! क्यों हृदय छोड़ पीठ देखो ?'
'नहीं, नहीं पीठ मैं तो, हृदै देखूं सब ही !'
'पीठ क्या हृदय है ?' 'भाई ! ना तुम जानते हो !'
पहले था हृदै आगे, नहीं रहा अब ही—
'लोगों का हृदय अब पश्चिम की ओर गया'
कहे 'सूर्य' सम्पत्ति से हाथ धोये जब ही ॥३६॥

वैद्यराज रामचन्द्रजी सिद्धाहस्त वैद्य थे। सर्वत्र निराश हुए रोगी भी उनके यहाँ से प्राय· नीरोग होकर जाते थे। उनके हाथ

मे यश था। उन्हे कभी असफलता नही मिली थी। इसलिए लोग उन्हे इस युग के धन्वतरी मानते थे।

एक वार वे अपने किसी अति निकट के सम्वन्धी के यहाँ, उनका अत्यधिक आग्रह होने के कारण, लग्न-प्रसग पर आये। उनके वे सम्वन्धी पाश्चात्य सस्कृति के रग मे पूरे रगे हुए थे। वे वात-वात मे विज्ञान की—पश्चिम के साहित्य की—पश्चिम के विद्वानो की दुहाई देते रहते थे। वे एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति से वहुत प्रभावित थे। वे इस चिकित्सा-पद्धति को आधुनिक युग की अनूठी उपलब्धि मानते थे और आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली को आदिम युग की जंगली और अशुद्ध कहते थे और कहते थे—'अव नया जमाना है—नई रोशनी है। नये को स्वीकार करो। पुराना छोडो। भूत तो भूत है। भूत से अभिभूत मत वनो। पुराने को पकडकर कव तक वेठे रहोगे?' उनकी दृष्टि में पश्चिम की फिलॉसफी के सामने भारतीय दर्शन वचकाने थे। वैद्यजी उनके विचार सुनते रहते थे। न वैद्यराज उत्तर देना चाहते थे और न उन्हे वैद्यजी से उत्तर पाने की अपेक्षा ही थी। लग्न-प्रसग के निवटने के वाद वैद्यराज लौट आये।

कुछ समय वाद वैद्यराज के वे सम्वन्धी किसी रोग से पीडित हो गये। डाक्टरो ने उसे 'हृदय-रोग' करार दिया। डाक्टरो की चिकित्सा का क्रम चला। उनका उठना बैठना-वन्द कर दिया। वे दिन-रात शय्या पर ही रहते थे। शारीरिक काम भी शय्या पर करवाये जाते थे। परन्तु उन्हे वरावर आराम नही हो रहा था। वे दिन पर दिन दुर्वल होते जा रहे थे। दवाइयाँ लेते-लेते घवरा गये। अव उनकी दृष्टि वैद्यराज की ओर गई। वे रोग की व्याकुलता मे यह भूल गये कि मै उनके हृदय को पहले वहुत दग्ध कर चुका हूँ। डॉक्टरो की ओर से उन्हे हिलने की भी मनाई थी। परन्तु वे साहस करके, वैद्यजी के पास पहुँच गये।

वैद्यराज ने उनका स्वागत किया। उनका मुख देखते ही वे उनके रोग को भाँप गये। उन्होने वैद्यजी से कहा—'वैद्यराज! मेरे हृदय की घडकन अचानक ही तेज हो जाया करती है और छाती मे दर्द होता है।' वैद्यराज मुसकाये। फिर गम्भीर होकर, उनके रोग का निदान करने के लिए प्रवृत्त हुए। वे उनकी पीठ दवा-दवाकर देखने लगे। तव रोगी को आश्चय हुआ। वे वोल उठे—'अजी वैद्यराज! आप यह क्या कर रहे है! आप हृदय देखने के वदले पीट देख रहे है!' वैद्यजी ने शान्ति से कहा—'मै हृदय ही देख रहा हूँ।' तब रोगी दुगने आश्चर्य से बोला—'यह आपकी आयुर्वेदिक पद्धति कैसी है? क्या पीठ मे हृदय होता है?' वैद्यजी ने ठडे स्वर से कहा—'भाई! मेरी आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति जहाँ हृदय है, वही उसे मानती है। परन्तु आप जैसे लोगो का हृदय पहले आगे—छाती मे था और अव वह पीछे अर्थात् पश्चिम मे चला गया है। इसलिए मै आपकी पीठ टटोल रहा हूँ। और मेरे आयुर्वेद के विपय मे आप क्या कहते है? इसमे हाथ की नाडी देखकर, सारे शरीर को देखने की विधि भी वताई है।'

यह वात सुनकर वे सम्वन्धी वैद्यजी के व्यग को समझ गये। उन्होने लज्जा से सिर नीचा कर लिया। वैद्यजी कह रहे थे—'मै किसी चिकित्सा-पद्धति की बुराई नही कर रहा हूँ। अच्छाइयाँ-बुराइयाँ सव मे होती है। परन्तु वात है, आप जैसे लोगो की मनोवृत्ति की! पश्चिम के विचारक ने कहा—धर्म ढोग है—अफीम है, तव आप लोगों ने भी कहा—यस, यस, ऐसा ही है। पश्चिम ने कहा—मरण के वाद जीव नाम के पदार्थ की सत्ता नही रहती है, तव आप जैसे लोगो ने कहा—विलकुल सही! क्वाइट राइट! पश्चिम ने कहा—भूत-प्रेत होते है, उन्हे प्लॉन्चेटसे वुलाया जा सकता है, यह वात भी आप लोगो के गले उत्तर गई। पश्चिम ने कहा—वानर से मानव विकसित

हुआ है और हमारे बन्धु इस विकास-दर्शन को पाकर निहाल हो गये.' रोगी अशान्ति से बोला—'वैद्यजी ! अब बस कीजिये ! मै समझ गया हूँ। क्या आज के लिए ही अपने ये सब बाते इकट्ठी कर रखी थी।'

वैद्यजी को ध्यान आया कि मै आवेश मे कुछ अति कर गया हूँ। अभी तो इनकी परिचर्या का समय है। वैद्यजी ने रोगी को ढाढस बँधाते हुए कहा—'घबराइये नही। आपकी चिकित्सा प्रारम्भ हो गई है। आपको हृदय रोग नही है। निदान मे कुछ गडबडी हो गई है। क्योकि चिह्न हृदयरोग जैसे दिखाई दे रहे है। पर कुछ ही दिन मे सब कुछ ठीक हो जाएगा।' वैद्यजी ने उन्हे अपने यहाँ प्रेम-पूर्वक रखा और उनके परिश्रम से वे कुछ ही दिन मे बहुत कुछ स्वस्थ हो गये।

सम्पत्ति से हाथ धोये

'कहे 'सूर्य' सम्पत्ति से हाथ धोये जब ही'

गुरुदेव फरमाते है—'नये के नाम पर किसी का अन्धानुकरण करने के कारण अपनी सास्कृतिक सम्पत्ति को, विचार-वैभव को, सामाजिक गौरव को और धार्मिक ऐश्वर्य को खो दिया है—खोते जा रहे है।

जैसे पुरातनता का अन्ध मोह रूढिवाद है, वैसे ही नवीनता का अन्ध मोह भी रूढिवाद ही है। यह बहिर्मुखता ही है। दूसरो के सद्गुण ग्राह्य होते है—सन्मान के योग्य होते है, दुर्गुण नही। वैसे ही अपने और अपने वर्ग के सद्गुण भी द्रष्टव्य और वरेण्य है। वे अपने भीतर दबे हुए है। उन्हें अन्यत्र खोजना अज्ञान है। इस प्रकार आत्म-ऐश्वर्य की उपलब्धि नही होती है। समाधि तन्त्र मे कहा है—**त्यागादाने बहिर्मूढ** अर्थात् मूढ, बहिर्मुख आत्मा दोष-गुण बाहर ही मानकर

वाह्य त्याग और ग्रहण को प्रवृत्त होता है।' विनोद—'नानाजी ! आज आपका चित्त स्वस्थ नही है क्या ?' 'क्यों बेटा ?'

बाह्य-आभ्यन्तरता के स्तर

'आज विषय इधर-उधर चला जा रहा है।' 'बेटा। मेरा चित्त तो स्वस्थ ही है। परन्तु कुछ प्रमाद के कारण मै विषय को व्यवस्थित नही वता सका, इसलिए तुम्हे ऐसा लग रहा होगा। वस्तुत 'वाह्य और आभ्यन्तर' दोनो शब्द विभिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हो सकते है। मैंने उन अर्थो का विश्लेषण नही किया है। अव विश्लेषण करके वतलाता हूँ। राष्ट्र, समाज, सभ्यता, सस्कृति, सघ, गुण-धर्म, आत्मा आदि को केन्द्र मानकर उपयुक्त वाते वतलाई है। जिनराष्ट्र आदि मे हम स्थित है, वे आभ्यन्तर है और उनसे इतर वाह्य हैं। हमारा प्रमुख विषय आध्यात्मिक है। इसलिए अन्य पक्ष दृष्टान्त मे वर्णित होने के कारण उनका विशेष वर्णन न करते हुए, अव मै सघ, गुण-धर्म और आत्मा के विषय मे ही वतलाऊँगा।

जिन सघ के दोष ही दोष देखना और अन्य तैर्थिक सघो मे गुण ही गुण देखना—यह सघ से सम्वन्धित वहिर्मुखता है। जैसा कि कहा है—

> **धर्म-संघ मे दोष ही, देखे अज्ञ महान ।**
> **सुव्यवस्था धिक्कारता, बन्धन कह नादान ।।**
> **स्वच्छंदता के रागवश, मर्यादा से ऊब ।**
> **सरागियो के संघ की, करे प्रशंसा खूब ।।**

धर्म और सद्गुणो की ओर मन का नही रमना, किन्तु धर्म के नाम पर होने वाले वाह्य आडम्वरो और गुणो के नाम पर वाहरी चमक-दमक, प्रचार आदि की ओर आकर्षित होना—गुण-धर्म से

सम्वन्धित वहिर्मुखता है। ऐसे मनुष्य विकल हैं। वे धर्म और गुणानुराग के नाम पर वहुत ही ठगे जाते हैं—

धर्म-साधना में अरुचि, आडंबर में राग ।
चमत्कार-प्रेमी-विकल, धरे न गुण-अनुराग ।।
पुद्गल-रुचि छूटे नहीं, अन्तर धधके आग ।
ठगे उन्हें गुरु पक्षधर, खोटे उनके भाग ।।

आत्मा की तीन प्रकार की स्थितियाँ वतलाई है—१. वहिरात्मा, २ अन्तरात्मा, और ३. परमात्मा । पूज्यपाद स्वामी ने इनके लक्षण इस प्रकार वतलाये हैं—

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्माभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्त-दोषात्म-विभ्रान्तिः, परमात्मातिनिर्मलः ।।

शरीर आदि मे आत्मा की भ्रान्ति धारण करने वाला वहिरात्मा है चित्त के रागादि दोषो और आत्मा के विषय में भ्रान्त से रहित अन्तरात्मा है और सर्व कर्म रूपी मल से मुक्त परमात्मा है ।

—समाधितन्त्र ५

अर्थात् वहिरात्मा कुटुम्व-परिवार, धन-वैभव, यश—कीर्ति, शरीर-इन्द्रियाँ, कर्म आदि मे आत्मभाव रखता है ।

देह, कर्म, निज वृत्तियाँ, माने आत्म-स्वरूप ।
'अणु' बहिरात्मा मूढ हो, पडता है भव-कूप ।।

तीसरा धब्बा : अनिरीक्षणता

अज्ञान का तीसरा रूप—'निरीक्षण का अभाव' है । निरीक्षण का अर्थ है—दृष्टि डालना, देखना । परन्तु यहाँ निरीक्षण शब्द शोध-पूर्वक देखने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । इसलिए यहाँ निरीक्षण क्रिया

मे किसी पदार्थ की कसौटी करना और सद्-असद् गुणो का विवेक करना दोनों ही भाव गर्भित है। इन वृत्तियो का न होना अनिरीक्षणता है। मूढता के कारण आत्मा न तो वाह्य-आभ्यन्तर भावो की कसौटी ही कर सकता है और न उनके गुण-अवगुण की समालोचना ही कर पाता है। यह विषय अगले दो दृष्टान्तो मे स्पष्ट किया गया है।

३६. मिला राग सब सुना दीजिये

(कवित्त)

एक गानेवाला नृप पास जाय कहे ऐसे–
'हजूर ! हमारा गाना आप सुन लीजिये',
नृप राग जाने नहीं, नाम कुछ जाने, पूछे–
'भैरव-दीपक आदि, सु-राग पतीजिये।'
'क्या तुम जानते हो ?' 'हाँ, जी सब जानता हूँ'
'तो इकट्ठे मिला सब राग सुना दीजिये'
क्योंकि मुझे जल्दी है' सितारची झुंझलाया,
कहे 'सूर्य' ऐसे से न, आस कुछ कीजिये ।।३७।।

रामानुज को वचपन से ही सगीत की रुचि थी। इसलिए उसके पिता ने अपने सगीतज्ञ मित्र की राय से उस समय के प्रसिद्ध सगीताचार्य के पास उसे इस कला के अभ्यास केलिए भेज दिया और रामानुज ने विनयपूर्वक कलाचार्य की चरणोपासना करते हुए, वडी लगन से इस कला की साधना की। उसके गुरु भी परिश्रमी और योग्य शिष्य को पाकर वडे प्रसन्न हुए। उन्होंने दिल खोलकर उसे सगीत की शिक्षा दी और विविध वाद्य-यन्त्रो के वादन मे उसे पूरी दक्षता प्राप्त करवा दी थी। परन्तु सितार वजाने मे उसे विशेष रस आता था। जब वह सितार वजाते हुए, अपनी मधुर और मादक स्वर-लहरी को छेड़ता था, तब श्रोता सुध-बुध भूलकर मस्ती मे लीन हो जाते थे।

एक दिन गुरुजी ने उससे कहा—'रामानुज ! मेरे पास जितना ज्ञान था, वह सब मैं तुम्हे दे चुका हूँ। अब तुम अपने घर जा सकते हो।' आँसू भरे नयनों से विदा होने के लिए उद्यत और चरणो मे प्रणत रामानुज को, गुरुजी ने आशीर्वाद देते हुए गद्गद् कण्ठ से शिक्षा दी—'जाओ बेटा, ! तुम्हारा कल्याण हो। यह याद रखना कि सगीत जीवित जादू है। इसका दुरुपयोग मत करना। इससे अधिक से अधिक लोक कल्याण हो—यह ध्यान रखना। तुम्हे पहले किसी राजसभा मे जाकर अपनी कला का जादू दिखाना है। क्योंकि विशाल जन समूह में ही कला की परीक्षा होती है। परन्तु महत्त्वाकाक्षा मे मत फँसना।'

रामानुज गुरु के चरणो मे प्रणाम करके, वहाँ से विदा हुआ। वह अपने घर की ओर जाते हुए, एक राजधानी मे पहुँच गया। उसने सोचा—'अच्छा अवसर है। यहाँ से परीक्षा देकर ही आगे बढ़ूँ।' वह राजसभा मे पहुँचा। राजा ने उसे कलाविद् जानकर, यथोचित सत्कार सम्मान दिया। वह भी प्रसन्न हो गया।

राजा सगीत-कला का न तो जानकार ही था और न शौकीन ही था। परन्तु उसने कुछ रागो के नाम और उनकी महिमा के विषय मे दन्त कथाएँ सुन रखी थी। वह अपना अज्ञान प्रकट होने देना नही चाहता था। अत. अपने को सगीतज्ञ सिद्ध करने के लिए, उसने रामानुज से कहा—'हे विज्ञवर ! पुराने समय मे सगीत की कैसी महिमा थी ! क्या दीपक, मेघमल्हार, भैरवी आदि रागो मे समाँ बँधती थी। आज तो राग के नाम मात्र रह गये है। क्या आपको ये राग आते है ?' रामानुज मन ही मन प्रसन्न हुआ कि राजा कुछ न कुछ संगीत कला के जानकार है। चलो यहाँ मेरी सगीत-कला का अवश्य आदर होगा। वह बोला—'राजन ! ये राग तो सभी जानता हूँ। परन्तु ऐसा कला-अधिकार पाने के लिए अभी और कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता है। परन्तु मै इन रागो के सिवाय

मालकोश, ईमन, कल्याण आदि रोगो को भी जानता हूँ और गुरुकृपा से सितार बजाने मे विशेष कुशलता प्राप्त की है। आपकी जिस राग को सुनने की इच्छा हो, वह राग मैं आपको सुना सकता हूँ।

राजा ने रुचि दिखलाते हुए कहा—'हाँ, हाँ सुनाइये।' रामानुज—'जो आपको पसन्द हो, वह राग सुनाऊँ। आज्ञा दीजिये।' राजा के मुँह से अनायास ही निकल गया—'मुझे सभी राग पसन्द हैं'—परन्तु रामानुज को अपनी ओर ताकते हुए देखकर, राजा कुछ विचार में पड गया। फिर वह क्षण भर वाद बोला—'देखो, मुझे इतना समय नही है कि मैं सभी राग सुन सकूं! पर एक रास्ता है ' राजा ने रामानुज की ओर देखा। रामानुज उत्सुकता से राजा की ओर देख रहा था। राजा ने कहा—'देखिये, ऐसा कीजिये कि सभी रागों को एक साथ मिलाकर सुना दीजिये!' रामानुज यह वात सुनकर, आश्चर्य चकित रह गया। उसने सोचा—'यह कैसा परीक्षक है? यह मेरी क्या परीक्षा लेगा? और यहाँ परीक्षा देकर, मैं पाऊँगा ही क्या? यह तो भैस के आगे भगवत् बाँचने जैसा है।' उसने राजा से कहा—'राजन! क्षमा कीजिये.' राजा ने उसकी बात काटते हुए कहा—'विज्ञवर! इसमे क्षमा की वात ही क्या है? देखो, चाँवल और दाल मिलते है तो खीचडी वनती है। उसमे मसाले डाल दिये जाते है तो वह और स्वादिष्ट वन जाती है। इसी प्रकार आप भी राग मे राग मिला दीजिये। खूब रस आयेगा!' रामानुज झुँझलाता हुआ बोला—'वस, राजन! यहाँ तो मेरी परीक्षा हो चुकी.' और रामानुज सभा के वाहर निकल गया।

कसौटी का अभाव

किसी पदार्थ की परीक्षा नही कर पाना, यह एक असमर्थता है—अज्ञान की सूचक बात है। इसी प्रकार तत्त्व

परीक्षा न कर पाना भी अविकसित वुद्धि का सूचक है अथवा वुद्धि क प्रमाद की निशानी है। इससे वहुत वड़ी हानि होती है। पुण्योदय से मनुष्य भव पाया और धर्मसाधना के योग्य सामग्री पाई। किन्तु तत्त्व-परीक्षा को किए विना सभी यो ही हार गये–

छोटी हाडी मोलतां, ठोल्या मार्या चार ।
धर्म-परीक्षा नां करी, गया जमारो हार ।।

धर्म-तत्त्व को कसौटी पर कसे विना व्यक्ति, धर्म-क्रिया करते हुए भी, धर्म का वास्तविक अधिकारी नही वन सकता है–

ज्ञान बिना जाने नहीं, धर्म-तत्त्व-गुण-ध्यान ।
हीरा आया हाथ में, फेंका बिन पहचान ।।
बिना कसौटी पे कसे, हो न वस्तु पहचान ।
'अणु' परखे बिन धर्म को, होय न धर्म-निधान ।।

कोई मनुष्य विकसित वुद्धि के अभाव मे राजा के समान तत्त्व-परीक्षा का दावा करता है, वह उसका हठ भरा अज्ञान ही है। क्योंकि वह ऐसा यश पाने के लिए करता है। परन्तु इस प्रकार यश प्राप्त नही हो सकता है–

जाने ना 'अणु' परखना, करता फिर भी डौल ।
पोल खुले बिन ना रहे, लेओ दिल में तौल ।।

३७. मौन धर्यो बरसात में

(सवैया)

अरी कोकिल ! मौन धर्यो वरसात में,
उत्तम काम कियो तुमने,
जहाँ कर्दम को रस पान करी अति,
मेंढ़क टर्र वदे धुन में।

तहां कौन सुने तुमरो स्वर उत्तम?
मेंढक आदर है जनमें;
'मूनिसूर्य' सुसज्जन मौन, धरे लख–
मूर्ख सभा, जनके गनमें ॥३८॥

भूपति माधवराज की सभा मे, जव से उनके साले कुशलदेव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ, तव से विज्ञजनो की मुश्किल हो गई। उसका मानना था कि पण्डितो को वृथा सिर पर चढ़ाना अच्छा नही है। इसलिए वहाँ पण्डितो का वात-वात मे अपमान होने लगा। राजा भी अपने साले का पक्ष लेता था। अव राजसभा मे दुर्जन लोगो की वृद्धि होने लगी। कुशलदेव अपनी लाग लपेट से, अपने पक्ष के लोगों को, उनकी योग्यता देखे विना ही, उच्च पदो पर स्थापित करता जा रहा था। मंत्री सारी परिस्थिति से परिचित था। परन्तु मन्त्री यदि अपना कर्त्तव्य वजाने के लिए तत्पर होता तो राजा उसकी वात पर ध्यान ही नही देता था। मन्त्री ने अनुमान कर लिया कि मेरे विरुद्ध भी राजा के कान भरे जा रहे है। अवसर के आने तक मौन रखना ही उचित समझा। क्योकि दुर्जनो की विशिष्टता दुःखदायिका ही होती है–

दुर्जनस्य विशिष्टत्वं, परोपद्रव-कारणम् ।
व्याघ्रस्य चोपवासेन, पारण पशु-मारणम् ॥

दुर्जनो का विशिष्टत्व दूसरो के लिए उपद्रव-कारक ही होता है। जैसे व्याघ्र के उपवास के पारणे मे पशुओ की मृत्यु ही होती है।

पण्डितों और सज्जन पुरुषो ने विशिष्ट प्रसगो के सिवाय सभा मे आना ही वन्द कर दिया। उन्होने सोचा कि दुष्ट मनुष्य सर्प से भी भययर है।

सर्पः क्रूरः खलः क्रूर, सर्पात् क्रूरतर खलः ।
मंत्रेण शाम्यते सर्प, न खल. शाम्यते कदा ।।

साँप और दुष्ट दोनो ही क्रूर है। परन्तु सॉप से दुष्ट क्रूरतर है। मन्त्र के द्वारा सॉप शान्त हो जाता है। पर दुष्ट मनुष्य कभी शान्त नही हो सकता है इसलिए वह दूर से ही वर्जनीय है।

धीरे-धीरे राजा की वृत्तियॉ भी वदलने लगी। प्रायः सग के अनुसार बुद्धि का रग भी वदलता रहता है। फिर भी राजा मत्री के मौन और विज्ञ एव योग्यजनो की उदासीनता से अवगत हो ही गया। परन्तु उसने इस ओर ध्यान ही नही दिया। मत्री इस स्थिति से वहुत ही खिन्न था। वह राजा को प्रतिबोध देने के लिए अवसर ढूढ रहा था।

वरसात का समय आ गया था। अभी-अभी वादल वरसे थे। गड्ढो मे पानी भर गया था। उनमे मेढक टर्र-टर्र कर रहे थे। उस समय राजा उद्यान मे विहार करने के लिए आया था। उसने मत्री को भी अपने सग आमन्त्रित कर लिया था। मत्री समझ गया था कि आज कुछ मतलव से राजाजी ने उसे साथ लिया है। वस्तुतः राजा किसी उलझन को सुलझाने मे मत्री की सहायता चाहता था। उसने योग्य समय मे मत्री के समक्ष अपनी समस्या रखी और उस विषय मे मत्री से समाधान चाहा। उस समस्या का एक पक्ष राजा के साले कुशलदेव से सम्वन्धित था। इसलिये मत्री चुप रहा। मत्री को चुप देखकर, राजा ने कहा—'मत्रीवर! तुम मौन क्यो हो?' उस समय मत्री को एक वृक्ष पर कोयल वैठी हुई दिखाई दी। उसने उसे सबोधन करके कहा—'अरी कोकिल! मौन क्यों.

भद्रं भद्र ! कृतं मौनं, कोकिलैर्जलदागमे ।
वक्तारो दर्दुरा यत्र, तत्र मौन हि शोभते ।।

'हे कोकिल ! तुमने अच्छा किया कि इस समय तुमने मौन धारण कर लिया है । यह वरसाद का समय है । इस समय तुम्हारे बोलने मे लाभ ही क्या है ? देखो तो सही कीचड का रस पीकर ये मेंढक कितने उन्मत्त हो रहे है ? अव इन्ही का राज्य है भद्र ! ये कितने जोर-शोर से टर्र-टर्र की ताने छेड रहे है ! अव इन्ही के स्वरो का आदर है इन्हीं की पूछ है । अव तुम्हारा उत्तम स्वर यहाँ कौन सुनेगा? अच्छा किया तुमने मौन करके । अव मत वोलना ,

राजा मत्री की अन्योक्ति समझ गया । उसने मत्री के ही स्वर मे कहा—'नही, पक्षी श्रेप्ठ ! विल्कुल मौन मत करो । आखिर मेंढक का स्वर और है और तुम्हारा स्वर और है ।' फिर राजाने मत्री की ओर देखकर कहा—'हे पुरुप कोकिल ! तुम्हारे अनुकूल ऋतु आ रही है । यदि तुम इस समय मौन रखोगे तो तुम्हारी ही हानि होगी ।' मत्री राजा का रुख पहचान गया । उसने राजा को कुछ सकेत किया और वे वहाँ से उठकर गुप्त स्थान पर चले गये । वहाँ मत्री न राजा को सारी स्थिति वताकर, समस्या का सही समाधान दिया । परन्तु इस गुप्त मत्रणा का रानी ने किसी प्रकार पता लगा लिया । उसने कुशलदेव को सावधान कर दिया । रानी ने मत्री के विरुद्ध राजा को भडकाया और राजा रानी के छल को नही समझ सका । उसे रानी और साला स्वजन और अपने हितैषी लगे और मत्री परजन और सत्ता लोलुप लगा । उसने कुपित होकर, मत्री को देश-निकाले की सजा सुना दी । तव मत्री ने इतना ही कहा—'राजन् ! मैंने मेरा कर्त्तव्य वजाया यह सव भाग्य का ही खेल है । पर मेरे लिये यह अच्छा ही हुआ है । क्योंकि—

> **शकटं पच-हस्तेन, दशहस्तेन वाजिनम् ।**
> **गजं हस्त-सहस्रेण, देश-त्यागेन दुर्जनम् ।।**

सर्प क्रूरः खलः क्रूर., सर्पात् क्रूरतर खलः ।
मंत्रेण शाम्यते सर्प , न खल शाम्यते कदा ।।

सॉप और दुष्ट दोनो ही क्रूर है । परन्तु सॉप से दुष्ट क्रूरतर है । मन्त्र के द्वारा सॉप शान्त हो जाता है । पर दुष्ट मनुष्य कभी शान्त नही हो सकता है इसलिए वह दूर से ही वर्जनीय है ।

धीरे-धीरे राजा की वृत्तियॉ भी वदलने लगी । प्रायः सग के अनुसार बुद्धि का रग भी वदलता रहता है । फिर भी राजा मत्री के मौन और विज्ञ एव योग्यजनो की उदासीनता से अवगत हो ही गया । परन्तु उसने इस ओर ध्यान ही नही दिया । मत्री इस स्थिति से वहुत ही खिन्न था । वह राजा को प्रतिवोध देने के लिए अवमर ढूढ रहा था ।

वरसात का समय आ गया था । अभी-अभी वादल व रसे थे । गड्ढो मे पानी भर गया था । उनमे मेढक टर्र-टर्र कर रहे थे । उस समय राजा उद्यान मे विहार करने के लिए आया था । उसने मत्री को भी अपने सग आमन्त्रित कर लिया था । मत्री समझ गया था कि आज कुछ मतलव से राजाजी ने उसे साथ लिया है। वस्तुत राजा किसी उलझन को सुलझाने मे मत्री की सहायता चाहता था । उसने योग्य समय मे मत्री के समक्ष अपनी समम्या रखी और उस विषय मे मत्री से समाधान चाहा । उस समस्या का एक पक्ष राजा के साले कुशलदेव से सम्वन्धित था । इसलिये मत्री चुप रहा । मत्री को चुप देखकर, राजा ने कहा—'मत्रीवर ! तुम मौन क्यो हो ?' उस समय मत्री को एक वृक्ष पर कोयल बैठी हुई दिखाई दी । उसने उसे सवोधन करके कहा—'अरी कोकिल ! मौन क्यों. .

भद्रं भद्र ! कृतं मौनं, कोकिलैर्जलदागमे ।
वक्तारो दर्दु रा यत्र, तत्र मौन हि शोभते ।।

बुद्धि के गुणों की अनुपलब्धि

सम्यक् निरीक्षण के अभाव मे आत्मा को सम्यक् श्रुत की प्राप्ति कराने वाले बुद्धि के आठ गुणो की प्राप्ति नही होती है–

१ सुश्रुषा–गुरु उपासना या आगम श्रवण की इच्छा–जिज्ञासा २. प्रतिपृच्छना–मका समाधान करने की वृत्ति, ३ श्रवण–आगमो का सुनना, ४ ग्रहण–आगमो को हृदयगम करना–स्मरण रखना, ५ ईहा–सूत्रार्थ का चिन्तन करना, ६ अपोह–सारासार या तत्त्वा-तत्त्व की छानबीन करना, ७. धारण–निर्णीत तत्त्व को धारण करके रखना और ८ सम्यक् कार्य-परिणति–हेय को छोडना और उपादेय को ग्रहण करना ।

लौकिक दृष्टि से पाण्डित्य के ये आठ गुण भी उन्हे प्राप्त नही हो सकते है–

गर्वं नोदवहते, न निन्दति परं, नो भाषते निष्ठुरं,
प्रोक्त केनचिदप्रियाणि सहते, क्रोधं च नालम्बते ।
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं संतिष्ठते मूकवत्,
दोषांश्छादयति स्वयं न कुरुते, पाण्डित्यमष्टौ गुणा ।।

पाण्डित्य के निम्नलिखित आठ गुण है- पण्डित १ गर्व नही करते है, २ दूसरो की निन्दा नही करते है, ३ निष्ठुर वचन नही कहते है, ३ किसी के अप्रिय कथन को सहते है, ५ क्रोध का महारा नही लेते है, ६ दूसरो के द्वारा रचित लक्षण रहित काव्य को सुनकर मूक के समान स्थित रहते है, ७ दूसरो के दोषो को ढँकते है और ८ स्वय दोष नही करते है ।

अज्ञान कब जाता है ?

'आत्म-विकास के क्रम मे अज्ञान का अभाव होना यह वहुत वडी उपलब्धि है ।' विनोद–'नानाजी ! अज्ञान कव जाता है ?' 'वेटा ! भव्य

पाँच हाथ दूर से गाडी, दश हाथ दूर से घोडा, हजार हाथ दूर से हाथी और देश-त्याग से दुर्जन को छोड देना चाहिये । धन्यवाद, राजन् !'

आलोचना का अभाव

'मुनिसूर्य' सुसज्जन मौन वरे, लख मूर्ख सभा जनके गण मे'

(१) जिनमे सद्-असद् का निर्णय करने की शक्ति नही होती है, वह दूसरो के द्वारा भ्रमित किया जा सकता है और जहाँ ऐसा अधिकारी होता है, वहाँ दुष्टो की--मुर्खो की वन आती है। इस-लिए मनुष्यो के समूह मे--ऐसे मूर्खो की सभा को देखकर, उत्तम पुरुप सज्जन मनुष्य मौन धारण कर लेते है ।

(२) इसी प्रकार जिसमे तत्त्व-निर्णय की बुद्धि नही है और जो मिथ्यात्वियो के चगुल मे फसा हुआ है, उसे उपदेश देना निरर्थक होता है। ऐसा व्यक्ति तत्त्वोपदेश से द्वेषी वनकर, तत्त्वोपदेष्टा को हानि पहुँचा देता है। कहा है–

यथा परोपकारेषु, नित्यं जागर्ति सज्जनः ।
तथा परापकारेषु जागर्ति सततं खलः ।।

जैसे सज्जन मनुष्य परोपकार मे सतत जाग्रत रहता है, वैसे ही दुष्ट मनुष्य दूसरो का अपकार करने मे जाग्रत रहता है ।

(३) आलोचना दो प्रकार की होती है–आत्मालोचना और परालोचना। प्रत्येक के लौकिक और लोकोत्तर ये दो-दो भेद होते है। इन विषयों मे सम्यक् आलोचना के अभाव मे सम्यक् निर्णय का अभाव रहता है। सम्यक् निर्णय के अभाव मे व्यक्ति दृढता पूर्वक कार्य मे प्रवृत्त नही हो सकता है। जिससे उसके कार्य ठीक रूप से नही वन पाते है ।

बुद्धि के गुणों की अनुपलब्धि

सम्यक् निरीक्षण के अभाव मे आत्मा को सम्यक् श्रुत की प्राप्ति कराने वाले बुद्धि के आठ गुणो की प्राप्ति नही होती है—

१ सुश्रुषा—गुरु उपासना या आगम श्रवण की इच्छा—जिज्ञासा २ प्रतिपृच्छना—मका समाधान करने की वृत्ति, ३ श्रवण—आगमो का सुनना, ४ ग्रहण—आगमो को हृदयगम करना—स्मरण रखना, ५ ईहा—सूत्रार्थ का चिन्तन करना, ६ अपोह—सारासार या तत्त्वा-तत्त्व की छानबीन करना, ७ धारण—निर्णीत तत्त्व को धारण करके रखना और ८ सम्यक् कार्य-परिणति—हेय को छोडना और उपादेय को ग्रहण करना ।

लौकिक दृष्टि से पाण्डित्य के ये आठ गुण भी उन्हे प्राप्त नही हो सकते हैं—

गर्वं नोदवहते, न निन्दति परं, नो भाषते निष्ठुरं,
प्रोक्त. केनचिदप्रियाणि सहते, क्रोधं च नालम्बते ।
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं संतिष्ठते मूकवत्,
दोषांश्छादयति स्वयं न कुरुते, पाण्डित्यमष्टौ गुणा ॥

पाण्डित्य के निम्नलिखित आठ गुण है- पण्डित १ गर्व नही करते है, २ दूसरो की निन्दा नही करते है, ३ . निष्ठुर वचन नही कहते है, ३ किसी के अप्रिय कथन को सहते है, ५ क्रोध का सहारा नही लेते है, ६ दूसरो के द्वारा रचित लक्षण रहित काव्य को सुनकर मूक के समान स्थित रहते है, ७ दूसरो के दोषो को ढँकते है और ८ स्वय दोष नही करते है ।

अज्ञान कब जाता है ?

'आत्म-विकास के क्रम मे अज्ञान का अभाव होना यह वहुत वडी उपलब्धि है ।' विनोद—'नानाजी ! अज्ञान कव जाता है ?' 'वेटा ! भव्य

जीव का ही अज्ञान नष्ट होता है...' प्रवीण—'भव्य जीव किसे कहते है ?' 'जिस जीव मे मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता होती है, उसे भव्य कहते है और जिसमे मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता नही होती है, उसे अभव्य कहते है। हाँ, तो भव्य जीव के कर्मो की जब अल्पता होती है, तब उसे विशिष्ट पुरुषार्थ करने की शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह राग-द्वेष की सघन ग्रन्थि का छेदन कर डालता है। उस समय आत्मा के परिणाम बहुत निर्मल हो जाते है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। तब उसे ज्ञान की किरण उपलब्ध होती है। अज्ञान का अधेरा दूर होता है।'

ज्ञान-स्कन्धः

ज्ञान वर्ग

(ज्ञान का उजेला)

अबोहिं परियाणामि,
बोहिं उवसंपवज्जामि ।

—मै अबोधि को जानकर छोडता हूँ और बोधि=ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उत्कर्ष को साधने वाली बुद्धि को स्वीकार करता हूँ

—आवस्सयसुत्त

'मिलती है मुक्ति ज्ञान से'
यों जैन शास्त्र फरमावे ।
ज्ञान-दीप जिनके कर मांही,
प्रकट चराचर तत्व दिखाई,
रहे गुप्त जिनसे कछु नाही,

सब सिद्ध होय आसान से,
जग में नर पूज्य कहावे...

—गुरुदेव

वर्ग-परिचय

भद्र मुनि ने कहा—'तीसरे वर्ग का नाम है—ज्ञान का उजेला। इस वर्ग में चार अध्याय या अर्थाधिकार है। प्रथम अध्याय मे 'ज्ञान का स्वरूप', दूसरे अध्याय मे—'ज्ञान के विकल्प', तीसरे अध्याय मे—'अर्थ की खोज' और चौथे अध्याय मे 'ज्ञान का फल'—वतलाया गया है।'

जीव का विकास क्रम

वर्धनमुनि—'जीव का विकास-क्रम कैसा है?'

भद्रमुनि—'जीव का जव चरम पुद्गलपरावर्त होता है, तभी उसे मोक्ष की इच्छा होती है, इससे पहले नही—

मुक्खासओ वि नन्नत्थ होइ गुरुभाव लम पहावेण।
जह गुरुवाहि विगारे, न जाउ पत्थासओं सम्मं॥

जैसे महान् व्याधि के विकार मे मनुष्य पथ्य आहार सम्यक् रूप से ग्रहण नही करता है, वैसे ही अत्यधिक भाव मल के प्रभाव से जीव को चरमावर्त के सिवाय मोक्ष की इच्छा नही होती है।'

—श्री हरिभद्राचार्य

वर्धनमुनि—'पुद्गल-परावर्त किसे कहते है?'

भद्रमुनि—'जीव के द्वारा समस्त पुद्गलो को औदारिक शरीर आदि के रूप मे लेकर छोडा जाना, पुद्गल-परावर्त्त कहलाता है। अनादि ससार मे परिभ्रमण करते हुए जीव अनन्त पुद्गल परावर्त करता है। 'जीव इन पुद्गलो को क्यो ग्रहण करता है?' 'पुद्गल जीव के द्वारा

ग्रहण करने योग्य स्थिति मे परिणित होते है और जीव अपनी ग्रहण शक्ति के द्वारा उन्हे ग्रहण करता है। क्योकि देहधारी जीवो का जीवनव्यवहार पुद्गलो के द्वारा ही चलता है।'

वर्धनमुनि–'जव पुद्गल ग्राह्य रूप मे परिवर्तित होते हैं और जीव मे ग्रहण शक्ति है, तव यह क्रम सदा-सदा के लिए चलता रह सकता है। इसमे चरम-पुद्गल-परावर्त जैसी स्थिति पैदा होने का कोई कारण नही दीखता है।' भद्रमुनि–'भव्य जीव का तद्-तद् रूप मे परिणत पुद्गलो का ग्रहण-स्वभाव, वास्तविक स्वभाव नही है। यह सहज मल है, जो जीव के भव्यत्व भाव को दवाये रहता है। कालादि समवाय कारणो से सहजमल का क्षय होना प्रारभ होता है। जव सहजमल किञ्चित शेष रह जाता है, तव जीव का चरम पुद्गल परावर्त होता है। इसी काल मे जीव शुक्ल पाक्षिक होता है अर्थात् शुक्ल पक्ष की चन्द्रकला के समान जीव के गुणो का विकास प्रारम्भ होता है। तव जीव के धर्म-यौवन काल का आगमन होता है। फिर क्रमश यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और अज्ञान-मल की निवृत्ति होती है।

वर्धनमुनि–'यथा प्रवृत्तिकरण किसे कहते है? भद्र- **'करण ति परिणामो** अर्थात् जीव के परिणाम विशेष को करण कहते है। कर्म आठ है। जिनमे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की, मोहनीय कर्म की, सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की, नामकर्म तथा गोत्र कर्म की वीस कोडाकोडी सागरोपम की और आयुष्य कर्म की तैतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। आयुष्यकर्म के सिवाय शेप सात कर्मो की एक कोडाकोडी से भीतर की स्थिति प्राप्त होना यथा प्रवृतिकरण, राग-

द्वेष की घन ग्रन्थि के छेदक परिणाम को अपूर्वकरण और सम्यक्त्व प्राप्ति तक रहने वाले परिणाम को अनिवृत्तिकरण कहते है । हरिभद्राचार्य कहते है—

जा गंठी ता पढमं, गंठि समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टी करणं पुण, सम्मत्त-पुरक्खड़े जीवे ।।

—सद्धर्मविंशिका ८

१०.

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान का महत्त्व

प्रमोद—'कई धार्मिक मनुष्य ज्ञान-ज्ञान पुकारते रहते है ! पर ज्ञान का क्या महत्त्व है ?' 'बेटा ! भगवान जिनेन्द्र देव ने मोक्ष प्राप्ति के चार कारण बताये है—

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं ।।

—श्रेष्ठ द्रष्टा जिनेश्वर देवो ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप को मोक्ष मार्ग कहा है । —उत्तर २८/२

'ज्ञान मोक्ष मार्ग का पहला कारण है । गुरुदेव ने भी ज्ञान की महिमा गाते हुए कहा है—

मिलती है मुक्ति ज्ञान से,
यो जैनशास्त्र फरमावे

प्रथम ज्ञान फिर दया बतावे,
ज्ञान बिना समकित नहि पावे ।
क्रिया अफल बिन ज्ञान दिखावे,
ज्ञान-सुधा विन पान से, नर यों ही जन्म गमावे. .यों०

'वस्तुतः ज्ञान अनन्त सुख का द्वार है।' मृदुला—'पहले आपने कहा था कि सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान नही होता है और गुरुदेव ने तो ज्ञान के विना सम्यग्दर्शन होना नही माना है, तो सत्य क्या है?' 'मृदुला! तुमने वहुत अच्छा प्रश्न किया है। दोनो वाते भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सत्य है। गुरुदेव ने वस्तु-स्वरूप-भास रूप समझ को ज्ञान कहा है और ऐसे ज्ञान के विना सम्यग्दर्शन नही होता है। स्थानाग की टीका मे अभयदेवसूरिजी ने भी इस वात का प्रतिपादन किया है। जैसे—

यतो नाज्ञातं श्रद्धीयते । नाश्रद्धत्तं सम्यगनुष्ठीयत इति ।

अज्ञात की श्रद्धा नही की जाती है और जिसकी श्रद्धा नही है, उसका सम्यग्अनुष्ठान नही किया जाता है।

—स्थानाग १/४३

इसीलिए ज्ञान के अभाव मे समस्त क्रियाएं निरर्थक होती है। कहा है—

किं क्लिष्टेन्द्रियरोधेन, किं सदा पठनादिभिः ।
किं सर्वस्व-प्रदानेन, तत्त्व नोन्मीलितं यदि ॥

यदि हृदय मे तत्त्व स्फुरित नही हुआ तो इन्द्रियो के निरोध, सदा पठन-पाठन आदि और सर्वस्व प्रदान से कौनसा फल प्राप्त होता है? कुछ नही।

इसी भाव की ओर सकेत करते हुए आचार्य श्री माधवमुनिजी महाराज ने कहा है—'**ज्ञान क्रिया दोऊ सदरिस पै, लागे ज्ञान गरीठो** अर्थात् जिनेन्द्र-शासन मे ज्ञान और क्रिया का समान स्थान है। परन्तु ज्ञान का पलड़ा भारी लगता है।'

ज्ञान किसे कहते है ?

प्रमोद—'नानाजी ! ज्ञान कहते किसे है ? 'बेटा ! ज्ञान की अनेक परिभाषाएँ है। '**णाणेण जाणई भावे**' अर्थात् ज्ञान वह गुण है, जिससे पदार्थो को जाना जाता है।

एयं पंचविहं णाण, दव्वाण गुणाणाय।
पज्जवाण य सव्वेसिं, णाणं णाणीहि देसियं।।

—ज्ञानियो ने द्रव्य, गुण और पर्यायो (द्रव्य और गुणो की अवस्थाओं) को जानने वाले ये पाँच ज्ञान बतलाये हैं।'

—उत्तर २८/५

प्रमोद—'बस केवल पदार्थो को जानना ही ज्ञान है?' 'हाँ, पदार्थो के सही स्वरूप को जानना ही ज्ञान है। जानकारी मे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही होना चाहिये—

संसय-विमोह-विब्भम-विवज्जियं अप्प-पर-सरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं, सायार-मणेय-भेयं तु।।

सशय, विपर्यय और विभ्रम=अनध्यवसाय से रहित अपने और दूसरे के स्वरूप का सम्यक् रूप से ग्रहण करना ही ज्ञान है। उसे साकार उपयोग=भेदयुक्त ज्ञान भी कहते है। उसके अनेक भेद है।'

विनोद—'नानाजी ! यदि पदार्थो की जानकारी मात्र को ही ज्ञान कहा जाता है तो पदार्थो को तो सभी किसी न किसी रूप मे

जानते ही हैं। फिर किसी को ज्ञानी और किसी को अज्ञानी क्यों कहते हैं ? और शास्त्रों के अध्ययन की निंदा क्यों की जाती है ? अभी यहाँ मैंने यह श्लोक पढ़ा था, जिसमें यही बात कही गई है–

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरतः ।
एकमप्यक्षरं सम्यक्, शिक्षितं निष्फलं न हि ॥

ऋषभदास मुसकाये और फिर कहा–'बेटा ! तुम्हारी बात तो ठीक है। परन्तु इस श्लोक का अर्थ समझने में तुम्हें भ्रान्ति हो गई है। इसमें ज्ञान की महिमा बताई गई है। इसका आशय यह है कि सम्यक् रूप से सीखा हुआ एक अक्षर भी निष्फल नहीं जाता है, तो रहस्य सहित समस्त शास्त्रों के ज्ञान की तो बात ही दूर रही। अस्तु, पर तुम्हारा प्रश्न ठीक है ? इस विषय में आचार्य प्रवर माधवमुनिजी म. ने भी कहा है–

पढ़े को' पूर्व दशधारी, कदाचित् बुद्धिबल सेती ।
बिना सरधान के आये, ज्ञान आना न मुमकिन है ॥

कोई बुद्धिबल से कितना भी ज्ञानार्जन करले, परन्तु सही प्रतीति के अभाव में वह समझ या जानकारी ज्ञान कहलाने की अधिकारिणी नहीं बनती है। इसलिए ज्ञान की साधनापरक की परिभाषा दूसरे रूप में बताई गई है–इस परिभाषा में ज्ञान से प्रभावित संवेदन और निर्वेद दोनों अंशों को ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे–

ज्ञान बिना जाने ना प्राणी, निज-पर, ईठ-अनीठो

–श्री माधवाचार्यजी

है ज्ञान वही जो आतम गुण उजियाले। –गुरुदेव

अर्थात्, जिस जानकारी से स्व और पर का तथा इष्ट और अनिष्ट का निर्णय होता है और अनिष्ट से निवृत्ति और इष्ट में

प्रवृत्ति होती है अथवा जिससे आत्मा के गुण प्रकट होते है और दुर्गुण दूर होते है, वही समझ ज्ञान है। दूसरे शब्दो मे जिस जानकारी से हेय-उपादेय का निश्चल विवेक प्राप्त होता है, वही ज्ञान है।

प्रमाण-स्वरूप

'ऐसे ज्ञान को प्रमाण भी कहा जाता है। वादी देवसूरिजी ने प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार बताई है–

स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्

ज्ञान और ज्ञानेतर पदार्थो को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। –प्रमाण नय तत्त्वालोक १/२

अभिमतानभिमतवस्तु-स्वीकार-तिरस्कार-क्षमं हि प्रमाणं, अतो ज्ञानमेवेदम् ।

ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण करने मे और छोडने योग्य वस्तु को त्याग करने में प्रमाण निश्चय ही समर्थ होता है। इसलिए वह ज्ञान ही है।' –प्रमाणनय० १/३

प्रमाण के भेद

प्रमोद–'नानाजी ! प्रमाण आदि न्यायशास्त्र का विषय है।' 'हाँ, यह न्यायशास्त्र का ही विषय है। परन्तु जैन दृष्टि से न्याय-शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र आदि भिन्न नही है । मात्र उद्देश्य की किञ्चित् भिन्नता के कारण उनकी शैली मे भिन्नता आ जाती है, परन्तु विषय मे खास भिन्नता नही रहती है ।' विनोद–'प्रमाण कितने है ?' 'शास्त्रो मे विविध दृष्टि से कई प्रकार से प्रमाणो का विभाजन किया गया है। वाद मे ज्ञान को ही प्रमाण मानकर, आगम-

गत ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों को ही प्रमाण के भेद रूप में स्वीकार कर लिया गया। यथा–

तद् द्विभेदं-प्रत्यक्षं च परोक्षं च

प्रमाण के दो भेद है–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

–प्रमाण नय २/१

प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद हैं। सावव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रियनिवन्धन और अनिन्द्रियनिवन्वन अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होने वाला और मन के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान ये सांवव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के सकलप्रत्यक्ष (केवलज्ञान) और विकल प्रत्यक्ष (अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान) ये दो भेद है।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद है–१. स्मरण (पहले जाने हुए पदार्थ की याद), २. प्रत्यभिज्ञान (संकलनात्मक या जोड़ रूप ज्ञान), ३. तर्क (लिंग के सद्भाव से साध्य के सद्भाव का ज्ञान और साध्य के असद्भाव से लिंग के असद्भाव का ज्ञान), ४. अनुमान (तर्क के द्वारा होने वाला ज्ञान); और ५. आगम (आप्त पुरुषों के वचनो से होने वाला ज्ञान या उनके वचन)।

ज्ञान के भेद

मृदुला–'ज्ञान के पाँच भेद है न?' 'हाँ, ज्ञान के पाँच भेद है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञन, मन.पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान।' मृदुला–'संक्षेप मे इनकी क्या परिभाषा है?' 'जो मन और इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञान प्राप्त होता है, उसे मतिज्ञान या आभिनिबोधिकज्ञान कहते है।

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिणिबोहियं ।।

—नंदीसुत्त

ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा—यह सब आभिनिबोधिक ज्ञान है। ईहा आदि विचार की विविध स्थितियाँ है । विविध सकेतो के द्वारा या शब्दो के द्वारा होने वाला पदार्थ ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है ।

अत्थाओ अत्थंतर-मुवलंभे तं भणंति सुयणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं, नियमेण सद्दयं मूलं ।।

(शब्द, संकेत या लिग के) अर्थ से अर्थान्तर (शब्दादि के द्वारा वताये जाने वाले पदार्थ) का ज्ञान होना—श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है और श्रुतज्ञान के मूल मे अवश्य ही शब्दादि रहते है । —समणसुत्त ६७८

मन और इन्द्रियो की सहायता के विना ही आत्मा के द्वारा रूपी पदार्थों का मर्यादित रूप से होने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते है—

अवहीयदित्ति ओही, सीमाणाणेत्ति वण्णियं समए ।
भवगुण पच्चय-विहियं, तमोहिणाणं ति णं बिंति ।।

सिद्धान्त में द्रव्यादि की मर्यादा से होने वाले आत्म प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधिज्ञान या सीमाज्ञान कहा गया है । इसके भव प्रत्यय (देव-नारक के भव के निमित्त से होने वाला) और गुणप्रत्यय (तप आदि के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला) ये दो भेद है ।

—समणसुत्त ६८०

मनुष्य क्षेत्र मे स्थित पर्याप्त सज्ञिजीवो के मन की अवस्थाओं को जानने वाले ज्ञान को मन पर्याय ज्ञान कहते है ।

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतिय अणेग भेयगयं ।
मण-पज्जव त्ति णाणं, जं जाणइ तं तु णारलोए ।।

मनुष्य लोक के जीव के चिंतित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित आदि अनेक प्रकार के मन के पर्यायो को जानना मन.पर्यवज्ञान ज्ञान है ।

—समणसुत्त ६८१

समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावो को जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान, सम्पूर्णज्ञान या अनतज्ञान है ।

अह सव्व-दव्व-परिणाम-भाव-विणत्ति-कारण-मणंत ।
सासय-सप्पडिवाइ, एगविहं केवलं णाणं ।।

सभी द्रव्यो, उनके परिणामो और भावो को जानने मे कारण रूप अनन्त, शाश्वत्, अप्रतिपाती=नष्ट नही होने वाला और एक ही प्रकार का केवलज्ञान है ।'

—नदीसुत्त

साधना की दृष्टि से प्रधान ज्ञान

'केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान-ये—साधना के द्वारा उपलब्ध ज्ञान है—साधना के फल है और मतिज्ञान भी आत्मगत विचारणा रूप रहता है अर्थात् ये चारो ही ज्ञान मूक है । साधना के लिए अवलम्बन और कारण रूप श्रुतज्ञान ही है। इसलिए हमारे लिए श्रुतज्ञान परमोपकारी है और साधना की दृष्टि से किसी विचारक ने उसे ही ज्ञान कहा है—

पूर्वापर-विरोधेन, वर्जितं यच्च निर्मलम् ।
तदेव भुवने ज्ञानं, भव्यानां लोचनं परम् ।।

जो पूर्वापर विरोध से रहित और निर्मल है, त्रिभुवन मे एक वही ज्ञान है। वह भव्य जीवो का दिव्य लोचन है।' प्रवीण—'नानाजी ! श्रुतज्ञान मतलव आगमप्रमाण ही न !' 'हाँ, आगमप्रमाण ही श्रुतज्ञान है। पर यह बात स्थूल दृष्टि से ठीक है।' 'परन्तु नानाजी ! आगमप्रमाण में वहुत मतभेद है। परन्तु आप इसे ही प्रधान वतलाते है ?' 'हाँ, बेटा ! आगमप्रमाण के विषय में वहुत मतभेद है। परन्तु तुम्हे ऐसा नही लगता है कि यह मतभेद ही उसकी प्रधानता को वतलाता है। जिस वस्तु की जितनी अधिक महत्ता होती है, उतनी ही अधिक उसकी नकल होती है, और उन नकली पदार्थों के कारण असली को पहचानना कठिन हो जाता है। परन्तु इस कारण उस असली वस्तु का महत्त्व तो घट नही सकता है। इसी प्रकार आगमप्रमाण के विषय मे समझना चाहिये। आप्तकथित वचन ही निर्दोष हो सकते है और जो राग-द्वेष से मुक्त हो और वस्तु का यथावस्थित ज्ञाता हो, वह पुरुष ही प्रामाणिक हो सकता है—आप्त हो सकता है तथा आप्त पुरुष के वचन ही अविसवादी होने के कारण आगमप्रमाण की कोटि मे आ सकते है। ऐसे आप्त जिनेश्वर भगवान है और उनके द्वारा प्रज्ञप्त तत्त्व ही आगमप्रमाण है। आगम की महिमा को वतलाते हुए कोई विलक्षण पुरुष यह घोषणा करते है—

न देवं नादेवं, न शुभगुरुमेवं, न कुगुरुं;
न धर्मं नाधर्मं न गुण-परिणद्धं, न विगुणं।

न कृत्यं नाकृत्य, न हितमहितं, नापि निपुणं;
विलोकन्ते लोका, जिन वचन चक्षुर्विरहिताः।

जिनवचन रूपी चक्षु से रहित लोक न देव, न अदेव, न सुगुरु, न कुगुरु, न धर्म, न अधर्म, न गुणी, न दुर्गुणी, न कृत्य, न अकृत्य, न हित, न अहित और न निपुण पुरुष को ही जानते है। क्योंकि—

ये द्वेष-रागाश्रय-लोभ-मोह–
प्रमाद-निद्रा-मद-खेद-हीनाः ।
विज्ञात-निःशेष-पदार्थ-तत्त्वाः,
तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम् ।।

जो राग-द्वेष और उनके आश्रित लोभ, मोह, प्रमाद, निद्रा, मद और खेद से रहित है और जो समस्त पदार्थो एव तत्त्वो के ज्ञाता है, उनके वचन ही प्रमाण समझने चाहिये ।'

लोक-व्यवहार का मूल

'बेटा ! मुझे तो लगता है कि लोक-व्यवहार का मूल श्रुतज्ञान ही है।' 'सो कैसे, नानाजी ?' 'बेटा ! नियम ऐसा है कि श्रुतज्ञान के पहले मतिज्ञान अवश्य होता है । परन्तु मतिज्ञान स्वय तक ही सीमित रहता है । मतिज्ञान जब अत्यधिक परिपुष्ट हो जाता है, तब श्रुतज्ञान होता है। इस विषय मे जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा है कि मन और इन्द्रियो से पैदा होनेवाला वही ज्ञान श्रुतज्ञान है, जो वाचक (लिंग, सकेत और शब्द) और वाच्य (=पदार्थ) की परम्परा का अनुसरण करता हो, और नियत अर्थ को दूसरो को समझाने की शक्ति रखता हो पर मन और इन्द्रियो के निमित्त से होने वाला शेष ज्ञान मतिज्ञान है–

इंदिय-मणो-निमित्तं, ज विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
निययत्थुत्ति समत्थं, तं भावसुय मई इयरा ।।

–विशेषावश्यक भाष्य

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुतज्ञान के द्वारा ही हम अपने भावो को व्यक्त कर सकते है । हमारे द्वारा अभिव्यक्त भाव द्रव्यश्रुत है । जो सामने वाले के भावश्रुत का कारण बनता है । इस प्रकार संकेतों

से की जाने वाली बात, नृत्यादि में भावाभिव्यक्ति के लिए प्र
मुद्राएँ आदि से लगाकर, कहानी, नाटक, काव्य, चित्र, चल
शिल्प, शास्त्र, लिपि, पत्र-व्यवहार, पत्र-पत्रिकाएँ, इतिहास अ
सब द्रव्यश्रुत है। जिस किसी ने भी अपने अनुभवों को अभिव्य
करने के लिए उन्हे लिपि-बद्ध किया हो, वह सब द्रव्यश्रुत है
उसी से तद्रूप भावश्रुत की निष्पत्ति होती है। यह बात अलग है
आध्यात्मिक दृष्टि से उसमे अधिकाश मिथ्याश्रुत होता है। प
होता है वह श्रुत ही। इससे विचार किया जा सकता है कि व्यव
का मूल श्रुतज्ञान है।

शासन का मूल

'अब आगे विचार करे तो दिखाई देगा कि धर्म शासन का
भी श्रुतज्ञान है। जिनेन्द्रदेव केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद
उपदेश देते है, वह द्रव्यश्रुत है और गणधरादि उसने प्रतिबोध पाक
भावश्रुत को उपलब्ध करके दीक्षित होते है। जिससे तीर्थ की प्रवृ
होती है। फिर वे भगवान के आशय को सूत्र-निबद्ध करते है।
अन्य जीवो के लिए भावश्रुत का कारण बनाता है। इस प्रकार स्प
रूप से यह निर्णय होता है कि आगम ही जिन शासन के मूल है
उन आगमों के माध्यम से ही हम साधना कर सकते है। यदि क
आगमो पर प्रहार करता है, उनकी आशातना करता है और उन
स्वयं अश्रद्धा करते हुए, दूसरे के हृदय मे उनके प्रति अश्रद्धा पै
करता है तो वह जिन शासन के मूल पर ही प्रहार करता है।' विनोद
'तो नानाजी! हम जो यह कहते आये है कि ये पुराने जमाने
शास्त्र है। अब इनकी आवश्यकता नही है। अब तो नया जमाना है
इसलिए नये शास्त्रो की रचना होनी चाहिये। आदि बाते आग
की आशातना है!' 'हाँ, बेटा! बहुत बड़ी आशातना है। ये स
अज्ञानजनित बातें है जो हम 'अमुक का ज्ञान अच्छा है, अमुक का बु

हैं' 'ज्ञान तो वह है....' आदि वाते करते है, वे श्रुतज्ञान के विषय में ही होती हैं जैसे कि–

तमो धुनीते कुरुते प्रकाश,
शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम् ।
तनोति धर्मं विधुनोति पापं,
ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ।।

ज्ञान अन्धकार का नष्ट करता है। प्रकाश फैलाता है। क्रोध का नाश करता है। समभाव को जगाता है। धर्म का प्रसार करता है और पाप का क्षय करता है। ज्ञान मनुष्यो के लिए क्या-क्या नही करता है ?

यह ज्ञान-महिमा आगमो की—श्रुतज्ञान की ही महिमा है।

प्रवीण –'क्या श्रुतज्ञान और आगम प्रमाण एक ही है ?' 'नही। सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्याश्रुत आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह भी श्रुतज्ञान कहलाता है। परन्तु वह आगम-प्रमाण की कोटी मे नही आता है। जिनवचनानुसारी ज्ञान ही आगम प्रमाण है।'

ज्ञान-स्वरूप के दृष्टान्त

प्रवीण–'गुरुदेव ने ज्ञान-स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टान्त नहीं वताये क्या ?' 'अगले दो दृष्टान्त ज्ञान-स्वरूप को ही दरसाते है। प्राय: ज्ञान से श्रुतज्ञान का ही आशय समझना चाहिये। गुरुदेव ने इन दृष्टान्तो मे स्थूल रूप से ज्ञानी के कर्त्तव्य और ज्ञान के लक्षण दरसाये है। ज्ञानी के अन्य के प्रति दो कर्त्तव्य है–१. सारणा–हितकार्यों का स्मरण कराना; और २. वारणा–अहित कार्यों को रोकना। ज्ञान के लक्षण है–हित मे प्रवृत्त होना, अहित से निवृत्त

होना, अन्याय का प्रतिकार करना और न्याय का समर्थन करना। इन्ही वातों का दृष्टान्तो मे प्रतिपादन किया गया है।

३८. दारिद्र इंधन करो छार

(कवित्त)

एक मूर्ख विप्र, नृप भोज को रिझाने काज,
दोय ईख लेय साथ, जाता था विचार मे,
धूर्त एक इक्षु लिया, काष्ठ तासें धर दिया,
खबर न पड़ी, आया सीधा दरबार में ।
भेंट लकड़ी जो कीनी, अशकुन जाना नृप,
तभी कालीदास बोला, पर-उपकार में
'दारिद्र इंधन करो, आग सम आप छार'
बिगड़ी बनावे 'सूर्य' विरले संसार में ।।३९।।

एक ब्राह्मण था—निरक्षर भट्टाचार्य। दरिद्रता ने उसे वरण कर रखा था। उसका पूरा परिवार अभावो से पीडित रहता था। ब्राह्मण अपने परिवार को दरिद्रता से उत्पन्न पीड़ा मे विलविलाते हुए देखकर, मन ही मन वहुत दु.खी होता था। उसे कई वार विचार होता था—'देखो, चिड़िया भी अपने वच्चों को कितने यत्न से पालती है। क्या सामर्थ्य है उस वेचारी की। मै मनुष्य हुआ— ब्रह्मा की सृष्टि का सिरमौर ! पर कितना बेवस हूँ मै ! अपने परिवार को भी मै सुखी न वना सका। यह मेरे लिए कितनी हीनता की वात है—लज्जा की वात है।' उसे कभी-कभी वहुत अनर्थकारी विचार पैदा होते थे—

किं करोमि क्व गच्छामि, कमुपैमि दुरात्मना ।
दुर्भरेणोदरेणाहं,, प्राणैरपि विडम्बितम् ।।

क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसके पास जाऊँ—इस मुश्किल से भरे जाने वाले पेट को लेकर? अरे! मेरे प्राण भी नही निकलते है। उनसे भी मैं ठगा गया हूँ।

घृतं न श्रूयते कर्णे, दधि स्वप्ने न दृश्यते।
मुग्धे! दुग्धस्य का वार्ता, तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्॥

घी का तो नाम ही नही सुनाई देता है। दही स्वप्न में भी दिखाई नही देता है। दूध की बात ही क्या है? अरे! मैं तो यह समझता हूँ कि छाछ इन्द्र को भी दुर्लभ है।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं, दिगःशून्यास्त्वबान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं, सर्वशून्या दरिद्रता॥

जिनके पुत्र नहीं होते हैं, उनका घर सूना होता है। जिनके भाई-बन्धु नही होते हैं उनके लिए दिशाएँ शून्य होती है और जो मूर्ख होते हैं, उनका हृदय शून्य होता है। परन्तु गरीब के लिए तो सर्वत्र ही शून्यता होती है।

दुःखं-दुःखमिति ब्रूयान् मानवो नरकं प्रति।
दारिद्र्याद्धिकं दुखं, न भूतं न भविष्यति॥

मनुष्य नरक को दुःख कहते है। परन्तु दरिद्रता से बढकर दुःख न कभी हुआ है और न कभी होगा।'

ऐसे विचारों से वह बड़ा दुःखी रहता था। कभी-कभी वह आत्मघात तक करने का विचार कर लेता था। उसने ऐसी मनोदशा में राजा भोज के दान की प्रशंसा सुनी। उसे विचार हुआ—'मै वहाँ जाऊँ तो भी क्या होने वाला है? राजा भोज विद्वानों का आदर करते हैं और मै हूँ विद्याहीन! वहाँ मेरी कौन सुनेगा?' पर उसके विचार पलटे—'चलूँ तो सही! सुना है—राजा भोज बड़े ज्ञानी हैं।

ज्ञानी तो दयालु होते है। वे अवश्य ही मुझ पर कुछ न कुछ करुणा करेंगे ही।' वह धारा नगरी की ओर चल दिया।

उसे रास्ते मे विचार हुआ कि राजा के पास खाली हाथ नही जाना चाहिए। उसने एक गन्ने का खेत देखा। वह किसान के पास गया और उससे गन्ना मागा। किसान ने उसे ब्राह्मण समझकर, एक गन्ना भेट मे दे दिया। उसने गन्ने के दो टुकडे करके, वस्त्र मे रख लिये। वह धारा नगरी की ओर बढता जा रहा था। वह थक गया था। इसलिए एक वृक्ष के नीचे सो गया। उसे नीद आ गई। उस समय वहाँ एक पथिक आया। उसने ब्राह्मण की पोटली खोली। उसने गन्ने का एक टुकडा ले लिया और अपने पास का लकडी का टुकडा पोटली मे रखकर, उसे वहाँ ज्यो की त्यो रखकर, वह आगे बढ गया। ब्राह्मण की नीद खुली और वह भी अपने लक्ष्य की ओर रवाना हो गया।

वह यथा समय राजसभा मे पहुँचा। उसने राजा के सामने गन्ने का टुकड़ा और लकडी भेंट-स्वरूप रख दी। राजा उसकी मूर्खता पर बड़ा अप्रसन्न हुआ। राजा ने समझा कि किसी से प्रेरित होकर, यह ब्राह्मण मेरा अपमान और अपकुशन करने के लिए जानबूझ कर ऐसा कर रहा है। राजा ने क्रुद्ध स्वर मे आदेश दिया—'इन्हे सभा से बाहर निकाल दो!' कालीदास ने समझ लिया कि बेचारा ब्राह्मण निरपराध है और किसी के द्वारा छला गया है। राजा का आदेश सुनकर कालीदास मुसकाया। यह बात राजा ने देख ली। राजा का क्रोध काफूर हो गया। राजा को लगा कि इसमे कुछ न कुछ भेद है। उसने आश्चर्य से कालीदास से पूछा—'कवि श्रेष्ठ! इस बात में क्या रहस्य है?' कालीदास—'आप इस दीन विप्र पर इतने अप्रसन्न क्यो हो रहे है?' 'कविवर! तुम देख नही रहे हो! मुझे यह लकड़ी भेट करके,

अपकुशन कर रहा है।' ब्राह्मण ने जब राजा की अप्रसन्नता का कारण जाना, तब उसे आश्चर्य भी हुआ और उसकी घिग्घी बध गई। कालीदास ने बात सम्हालते हुए कहा—'राजन् ! आप विद्वान है ! और आप ऐसा सोचते है ! इस ब्राह्मण ने ठीक ही किया है। यह दरिद्रता से पीडित है। इसीलिए यह आपके पास आया है और आपके सामने लकडी रखकर कह रहा है—

मा कुरु भूपते ! कोपं, त्वाँ हि वदति भूसुरः।
इंधनं मम दारिध्रं, त्वं राजन् ! भव पावकः ।।

हे राजन् ! आप क्रोध मत करो। यह ब्राह्मण आपसे कह रहा है—मेरा दारिद्र ईंधन के तुल्य है। अत हे राजन् ! आप अग्नि बन जाइए। अर्थात् आप इसके दारिद्र रूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर दीजिये।'

राजा कालीदास की बात समझ गये और उन्होने ब्राह्मण की दरिद्रता को नष्ट कर दिया।

ज्ञान के लक्षण

'बिगडी बनावे 'सूर्य' बिरले ससार मे'

गुरुदेव कहते है—'ऐसे बुद्धिमान ससार मे बिरले ही है कि जो किसी की बिगडी हुई बात को सुधार दे। वस्तुत: ऐसे विद्वानो का ज्ञान ही ज्ञान है और उन्ही की बुद्धि श्रेष्ठ है।'

इस दृष्टान्त से ज्ञान के स्वरूप के विषय मे इतनी बाते फलित होती है—

१ ज्ञान सावधानी—अप्रमत्तता सिखाता है—अज्ञान नही।

२ ज्ञान किसी की भूल सुधारने के लिए प्रेरित करता है।

३. ज्ञान किसी का अहित निवारण करने के लिए प्रवृत्त करता है।

४. ज्ञान किसी का हित करने के लिए प्रेरणा देता है।

५. ज्ञान आत्मा के परिणामो को कोमल वनाता है–जीव को दयामय वना देता है। जैसा कि भगवान ने कहा है–

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ।।

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नही करता है। यह वात समझ लेना चाहिए कि सिद्धात का सार अहिंसा है।

– सूयगड १।१।४।१०

६. ज्ञान सद् विचार करने का अभ्यास डालता है।

किसी विचारक ने ज्ञान के दशलक्षण वताये है–

अक्रोध-वैराग्य-जितेन्द्रियत्व,
क्षमा दया सर्वजन-प्रियत्वम्।
निर्लोभ-दानं भय-शोक-हान,
ज्ञानस्य चिह्न दशलक्षण च ।।

ज्ञान के दश चिन्ह और लक्षण है–१ अक्रोध, २. वैराग्य, ३. जितेन्द्रियता, ४. क्षमा, ५ दया, ६. सर्वजन-प्रियत्व, ७. निर्लोभता, ८. दान, ९. अभय और १० अशोक-शोक रहित अवस्था।

जिन शासन मे मान्य ज्ञान का, एक मनीषी इस प्रकार परिचय देते है–

जेण तच्च विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।

जिससे तत्त्व का ज्ञान हो, जिससे चित्त का निरोध हो और जिससे आत्मा विशुद्ध हो वही ज्ञान जिन शासन मे मान्य है । जिससे राग से विरक्ति हो, जिससे श्रेय मे अनुरक्ति हो और जिससे मैत्री भाव की वृद्धि हो, उसे ही जिन शासन मे ज्ञान कहा गया है ।

—समणसुत्त २५२-२५३

आचाराग सूत्र मे ज्ञान को बाह्याभ्यन्तर प्रकाशक कहा है--

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थ जाणइ ।।

जो अध्यात्म को जानता है, वह वाह्य को जानता है और जो वाह्य (जगत) को जानता है वह अध्यात्म को जानता है ।

३९. न्याय दिया इस भाँति

(कवित्त)

किसी ने शर्त की कि--'मै आध सेर कलेजा का—
मॉस लूंगा यदि जीत जाऊंगा जो बात से';
जीता तब माँस मांगा, देने में अधीर हुआ,
गये राजा पास, न्याय दिया इस भांत से—
'आध सेर मांस एक बार में ही काटो, फाँसी—
होगी यदि ज्यादा-कम काटा तिल मात से',
सुन के यो चुप रहे, कहे 'सूर्यमुनि' ऐसे—
राजा न्याय दिया श्रेष्ठ, बुद्धिकरामात से ।।४०।।

एक नगरसेठ का व्यापार वहुत ही लम्वा-चौड़ा था । वह वडा उदार और न्याय-नीति सम्पन्न था । और उनकी पेढ़ी का काम पुराने

समय से व्यवस्थित ढंग से चल रहा था। कई नगरो मे उसकी आढत चलती थी। उसी नगर में एक और सम्पन्न सेठ रहता था। वह भी वड़ा व्यापारी था। परन्तु उसका हृदय वहुत ही काला था। वह व्यापार में झूठ-सच करने मे और कूट लेख लिखने मे दक्ष था। उसके हृदय में दया का तो अश ही नही था। उसे नगर सेठ की वृद्धि से वहुत जलन होती थी। वह चाहता था कि किसी प्रकार नगर सेठ मटिया-मेट हो जाय। परन्तु नगर सेठ इतने दयालु, सरल, प्रेमी और कुशल थे कि प्रकट रूप मे वह उनकी कुछ भी हानि नही कर सकता था। एक समय उनके पेढी पर एक साथ पाँच लाख की हुडिया आई। जिनके रुपये दो दिन मे ही चुकाने थे। यद्यपि पाँच लाख की हुंडियों का चुकारा करना, उनके लिए कोई वडी वात नही थी। परन्तु इस समय अधिकाँश रुपये व्यापार मे रुके पडे थे और इतने कम समय मे इतनी रकम जमा करना सरल नही था। आभूषण आदि बेचने मे इज्जत जाने का भय था। इसलिए नगरसेठ विचार मे पड गये। उनकी दृष्टि अपने प्रतिस्पर्द्धी सेठ पर गई। उन्होने सोचा—'वह मुझे रुपए दे सकता है। परन्तु वह वहुत ही जालसाज है। कूटलेख करने मे अग्रगण्य है। परन्तु करू क्या ? किसी दूसरे के पास इतने नगद रुपये नही मिल सकते है ! मुझे उसी के पास जाना होगा। किसी भी भाँति मुझे अपना व्यवहार रखना है। यदि मेरा पुण्य प्रवल होगा तो वह मेरा कुछ भी नही कर सकेगा। यह विचार करके नगरसेठ सेठ रामेश्वर के घर पहुचे। रामेश्वर ने नगर सेठ का यथोचित सत्कार किया।

नगरसेठ ने अपने आने का प्रयोजन वताते हुए कहा—'मुझे अभी पाँच लाख रुपयो की आवश्यकता है। मै तुम्हे एक सप्ताह मे व्याज समेत रुपये लौटा दूंगा।' रामेश्वर ने देखा कि अच्छा दाँव हाथ लग रहा है। उसने हंसते हुए कहा—'आप नगरसेठ मेरे घर पधारे। मेरा आँगन पवित्र हो गया। आप जैसे महान् सेठ से मै व्याज लेना नहीं

चाहता हूँ ।'नगरसेठ—'तो भाई ! आपको रुपये देने की इच्छा नही है ।' अपनी मूछो मे हसता हुआ रामेश्वर सेठ बोला—'नही-नही । ऐसी वात नही है । आप पहली ही वार मेरे यहाँ पधारे है । आपको मै खाली हाथ लौटाना नही चाहता । आप विना ब्याज के रुपये ले जाइये । पर एक शर्त है· ·' उसने अपनी तीव्र दृष्टि नगरसेठ पर डाली । उसकी काली कीकियो के पीछे क्रूरता नृत्य कर रही थी । नगर सेठ ने पूछा—'क्या शर्त है ?'

'शर्त तो यही है कि यदि आप मुद्दत पर रुपये नही दे सके तो'—यह कहते हुए रामेश्वर ने पुन नगरसेठ पर दृष्टि डाली—'आपको अपने कलेजे का आधा सेर मॉस देना होगा । बोलो, आपको यह शर्त मजूर हो तो अभी रुपये गिनवा देता हू ।' यह वात सुनकर नगरसेठ कुछ विचार मे पड गये—'इसने तो मुझे मारने का उपाय सोचा है । परन्तु यह बेचारा क्या जानता है कि मै सात दिन मे पाँच लाख क्या पन्द्रह लाख रुपयो की व्यवस्था कर सकता हू । पर यह शर्त अच्छी नही है । पर 'जाको राखे साइयाँ, ताको मार सके नही कोय' । इस उक्ति के अनुसार इसकी बुरी इच्छा पूरी होने की नही है । मै मुद्दत के पहले ही इसके रुपये चुका दूँगा और दूसरी वात ब्याज भी नही लगेगा । रामेश्वर सेठ ने फिर पूछा —'तो आपका क्या विचार है ?' नगर सेठ ने कहा—'मुझे तुम्हारी शर्त मंजूर है ।' रामेश्वर सेठ ने कहा—'इस वात का लेख भी हो जाना चाहिये । नगरसेठ विवश थे । उन्होने अपने व्यवहार की रक्षा के लिए ऐसे भयकर लेख पर हस्ताक्षर भी कर दिये और रुपये ले गये ।

दिन वीत रहे थे । नगरसेठ की तवियत खराव हो गई । सात दिन के भीतर वे रुपयो का प्रवन्ध नही कर सके । वे वडे चिन्तित हो गये । फिर भी ज्यो-त्यो करके आँठवे दिन उन्होने ब्याज समेत रुपये रामेश्वर सेठ के यहाँ भेजे । परन्तु उनसे यह कहकर रुपये लौटा दिये कि

मुद्दत पूरी हो गई है मुझे रुपये नही चाहिये । मै शर्त के अनुसार कलेजे का मॉस ही लूंगा ! 'नगर सेठ भयभीत हो गये । उनकी तबीयत और विगड गई । इधर रामेश्वर सेठ शर्त पूरी करवाने के लिये जल्दी मचा रहा था । बेचारे नगरसेठ कि कर्त्तव्य विमूढ हो रहे थे । रामेश्वर सेठ ने न्यायाधिकारी के सामने अपनी शिकायत रखी । न्यायाधिकारी ने नगर सेठ को बुलवाया । उन्हे विवश होकर, रुग्णावस्था मे न्यायाधिकारी के समक्ष उपस्थित होना पड़ा ।

न्यायाधिकारी नगरसेठ की उदारता और सदाशयता से परिचित थे । उन्हें रुग्ण स्थिति में उपस्थित हुए देखकर, उन्हे वडी दया आई । उन्होने नगरसेठ से पूछा—'क्या आपने ऐसी शर्त की थी?' 'हाँ, की थी । परंतु मैंने आठवे दिन इनके रुपये व्याज समेत भेज दिये थे । पर इन्होने नही लिये ।' रामेश्वर सेठ ने गुस्से से कहा—'मुद्दत जो बीत गई थी । मै रुपये कैसे लेता । ये व्यवहार रखने मे कुशल लोग ही, जव शर्त पूरी नही करे तो अन्य से क्या आशा रखी जा सकती है ?' न्यायाधिकारी ने नगरसेठ से कहा—'आपने ऐसी शर्त पर रुपये ही क्यों लिये ?' अपने व्यवहार की रक्षा के लिए । ये किसी प्रकार से रुपये देने को तैयार ही न थे और मै भी समझता था कि सात दिन में रुपयो का प्रवन्ध हो जायगा । पर शरीर लथड गया । फिर भी आठवें दिन इनके रुपये पहुंचा दिये ।' न्यायाधिकारी ने रामेश्वर सेठ को समझाने का प्रयत्न किया । परन्तु रामेश्वर सेठ ने कहा—'आप न्यायासन पर विराजमान है । मै न्याय पाने आया हू—समझौता करने नही । आप मुझे न्याय दीजिये ।' न्यायाधिकारी रामेश्वर की कुटिल भावना जान गये । उन्होने कई वार लेखपत्र पढा । पर नगर सेठ का वचाव हो सके, ऐसी कोई राह उनकी समझ में नही आई । रामेश्वर सेठ-जल्दी कर रहा था । अन्त मे न्यायाधिकारी ने कहा—'यह न्याय उलझन भरा

है। रामेश्वर सेठ ! जल्दी मत करो। कल इस वात का न्याय राज-सभा मे होगा।' फिर उसने नगर सेठ से कहा—'आप शान्ति से जाइये और अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दीजिये।' दोनो सेठ वहाँ से चले गये।

न्यायाधिकारी ने यह समस्या राजा के सामने रखी। राजा रामेश्वर सेठ की दुष्टता को समझ गये। उन्होने न्यायधिकारी को राज-सभा मे इस न्याय-प्रकरण को प्रस्तुत करने के विषय मे कुछ सूचनाएँ दे दी। दूसरे दिन राजसभा मे दोनो सेठ उपस्थित हुए। न्यायाधिकारी ने न्याय प्रकरण प्रस्तुत करके कहा—'राजन् ! नगर सेठ ने आठवे दिन रुपये भेजे। तव दो घडी ही दिन चढा था। इतनी देर कोई खास देर नही है। मै कहता हू कि रामेश्वर सेठ को रुपए ले लेना चाहिये। क्यो रामेश्वर सेठ ! तुम्हे रुपये लेना है ?' रामेश्वर सेठ—'राजन् ! मुझे रुपये नही चाहिये। मै चाहता हूं कि लेखपत्र की शर्त का अक्षरशः पालन होना चाहिये। उसमें सात दिन के भीतर ही ऋण चुकाने की वात है। आठवे दिन की वात है ही नही।' राजा—'न्यायाधीश ! रामेश्वर सेठ ठीक कहते है। ये रुपये नही ले सकते है। क्योकि मुद्दत वीत गई है। इनकी शर्त का अक्षरश. पालन होना चाहिये।' फिर राजा ने नगर सेठ की ओर देखकर कहा—'श्रेष्ठिवर्य ! तुम्हे अपने वचन का पालन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिये। व्यवहार की रक्षा के लिए जव आपने इतनी कड़क शर्त को मजूर किया, तव इस शर्त का पालन होना भी तो व्यवहार की रक्षा है। चलो श्रेष्ठिवर ! तैयार हो जाओ !' रामेश्वर राजा की वात से वडा प्रसन्न हो गया। उसने जोर से जयनाद किया—'धर्मावतार की जय हो !' राजा ने गभीरता से कहा 'शान्त हो श्रेष्ठि !' नगरसेठ सूखे मुह से इतना ही बोल सके—'जैसी राजाज्ञा। प्रस्तुत हूं राजन् !'

राजा ने छुरी मंगवाई। रामेश्वर ने हाथ म छुरी ली और वह नगर श्रेष्ठि की छाती पर उसे चलाने के लिए जैसे ही तैयार हुआ, वैसे ही राजा ने कडककर कहा—'ठहरो! सुनो! तुम्हारी शर्त का अक्षरशः पालन होना चाहिये न!' 'जी राजन्!' 'तो श्रेष्ठि! सुनो! शर्त मे कलेजे के आधा सेर माँस के लेने का ही विधान है न!' 'हाँ राजन्!' 'बस तुम्हें कलेजे को ही काटने का अधिकार है। अन्य अग को नही। दूसरी बात, तुम्हे आधा सेर माँस लेना है। वह न तो तिल भर कम होना चाहिए और न तिल भर ज्यादा। तीसरी बात तुम्हारी शर्त मे माँस लेने की ही बात लिखी है, रक्त बहाने की नही। इसलिए एक बूँद भी रक्त नही बहना चाहिये। यदि इनमे से एक बात भी विपरीत होगी तो तुम्हे कड़ा दण्ड दिया जाएगा। अब तुम कलेजे का माँस ले सकते हो।' रामेश्वर के प्राण सूख गए—राजा की बात सुनकर। वह जहाँ का तहाँ ठिठक गया। राजा ने गरजकर कहा—'देर क्यो करते हो! चलो अपना कार्य करो।' रामेश्वर सेठ ने हाथ जोडकर कहा—'राजन् मुझे कलेजे का माँस नही चाहिए। मुझे रुपये ही दिलवा दीजिए।' राजा ने उसे डाँटते हुए कहा—'अब रुपये नही मिल सकते है तुम्हे! अवधि जो बीत गई है! चलो, राजाज्ञा का पालन करो। यदि राजाज्ञा की अवहेलना करोगे तो दस लाख रुपये दण्ड के भरने होगे!'

रामेश्वरसेठ की आँखो में आँसू भर आये। वह राजा के चरणो मे लौटता हुआ बोला—'राजन्! मेरा अपराध हुआ। मुझे क्षमा करो।' राजा ने क्रोध से कहा—'दुष्ट अब तुम्हें क्षमा माँगते लज्जा नहीं आती। किसी सज्जन पुरुष को तुम मारना चाहते हो!...' नगर श्रेष्ठि ने हाथ जोडते हुए कहा—क्षमा, क्षमा, राजन्!' राजा ने कहा—'श्रेष्ठिवर! आप मौन रहिये! राजा का यह कर्त्तव्य है कि सज्जनों की रक्षा करे और दुष्टों को दण्ड दे...'

आखिर में राजा ने रामेश्वर सेठ को देश त्याग का दण्ड दिया।

निग्रह और अनुग्रह

१. 'राजा न्याय दिया श्रेष्ठ, बुद्धि करामात से' अर्थात् ज्ञान से परिमार्जित श्रेष्ठ बुद्धि वही है कि जिसके द्वारा न्याय और अन्याय को पहचानकर, अन्याय का निवारण हो और न्याय का सरक्षण हो

२. ज्ञान से दोषी और गुणी दोनो ही जाने जाते है। लौकिक नेता का जैसे यह कर्त्तव्य है कि दोषी का निग्रह करे और गुणी पर अनुग्रह, वैसे ही लोकोत्तर नायक का भी यह कर्त्तव्य है कि वे अपने धर्म-अनुशासन से दोषी के दोषो का—अपराधों का निग्रह करे और गुणी पर अनुग्रह करे। यदि वे दोषी पर अनुग्रह करते है और गुणी को दण्डित, तो अपने ज्ञानमार्ग से पतित हो जाते है और सघ मे ज्ञानादि आराधना के ह्रास के हेतु बनते है।

३. ज्ञानी समर्थ होते हुए भी यदि गुणीजनो और दुर्जनो के प्रति समुचित व्यवहार नही करता है तो यह उस ज्ञानी का ही दोष है—

अधः करोषि यद्रत्न, मूर्ध्ना धारयसे तृणम्।
दोषास्तवैव जलधे! रत्नं रत्नं तृणन्तृणम् ॥

हे सागर! यदि तुम रत्नो को नीचे डाल देते हो और तृण को सिरपर धारण करके रखते हो, इसमे तुम्हारा ही दोष है।' वस्तुतः रत्न तो रत्न ही है, और तृण तृण ही है।

सम्यग्ज्ञान के कुछ अंश

इस दृष्टान्त से सम्यग्ज्ञान के विषय मे कुछ बाते इस प्रकार फलित होती है,—१. सम्पूर्ण रूप से दोषो का परित्याग करना, २. बड़े दोष से बचने के लिए छोटे दोष का सेवन करना, ३. अवसावधानी और परिस्थितिवश उस छोटे दोष का उग्र हो जाना,

४. फिर भी साधना को सतत चालू रखना, और ५ दोषो का परिमार्जन करना। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्ज्ञान के साधको के लिए ये निम्नलिखित विधान बनते है–

१. उत्सर्ग मार्ग, २. अपवाद मार्ग, ३. अपवाद मार्ग के भय-स्थान, ४. स्खलना मे धैर्य, और ५. प्रायश्चित ।

१. बुद्धि के दो अश है अर्थात् त्याज्य और ग्राह्य भावो के विषय मे बुद्धि के दो-दो अंश है। त्याज्य भावो को जानना और परित्याग करना; जिन्हे शास्त्रीय भाषा मे ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा कहते है और ग्राह्य भावो को भी जानना और ग्रहण करना, जिनकी शास्त्रीय सज्ञा ज्ञपरिज्ञा और उपादेय परिज्ञा है। आप्त-आगमो के द्वारा बुद्धि के इन आध्यात्मिक अशो का आविर्भाव, परि-वर्धन और संरक्षण होता है। अत ज्ञपरिज्ञा से असयम को जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करना, यह जिन आगमो के द्वारा प्रतिपादित उत्सर्ग मार्ग है।

२ 'साधक के लिए कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो जाती है कि उसे दोष-स्थान सेवन करने पड जाते है। साधक को लगता है कि 'यदि मै इस सामान्य दोषस्थान को स्वीकार न करूगा तो सयम की पूर्णत: हानि हो जाएगी या आराधना की पेठ ही न रहेगी'–ऐसा जानकर, वह उत्सर्ग मार्ग से किञ्चित् हटकर, अन्य मार्ग का सेवन करता है, उसे अपवाद मार्ग कहते है।

३ परन्तु अपवाद मार्ग मे अनेक भयस्थान है। जरासी चूक हुई कि साधना का हार्द भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् जैसे मनुष्य का कलेजा निकाल लेने पर वह प्राण रहित हो जाता है, इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्रादि की प्रतिकूलता होने पर और मर्यादा का अतिक्रमण कर जाने

पर, साधना का ध्येय विनष्ट हो जाता है और साधना भी निष्प्राण हो जाती है।

४. जहाँ तक मोहकर्म का उदय रहता है और प्रमाद की स्थिति रहती है, वहाँ तक चारित्र मे स्खलना होने की सभावना रहती है। ऐसे समय मे धैर्य का परित्याग नही करना चाहिये। संयम की दृष्टि रखना चाहिये। अनायास दोषसेवन हो जाय तो उसमें ही रमण नहीं करते रहना चाहिये। उस भाव को सहन करते हुए, काययोग से तद्रूप प्रवृत्ति को रोककर, सयम भाव का अनुसंधान करना चाहिये। और स्खलना से ऊपर उठने का उद्यम करना चाहिये।

५. जिस ज्ञान मे दोषों के परित्याग का आदेश तो हो, परन्तु दोष-परित्याग के वाद हुई भूलों के परिमार्जन का विधान न हो—वह ज्ञान अपूर्ण है। अतः दोषो के प्रायश्चित का विधान भी होना चाहिये। अर्थात् गुरु के समक्ष दोषो की आलोचना करके प्रायश्चित लेना चाहिये।

जिस ज्ञान मे इस प्रकार सभी व्यवस्थाएँ होती है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है—श्रेष्ठ ज्ञान है और ऐसे ज्ञानस्वामी महान् है।

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्म शत कोटिभि.।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्त र्मुहूर्त के।।

अज्ञानी जितने कर्म सैकड़ो-करोड़ो भव मे क्षय करता है, तीनो गुप्ति से गुप्तात्मा ज्ञानी उतने कर्म अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

११.

ज्ञान के बिकल्प

नयवाद

'छद्‌मस्थ मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान अश-अश रूप में होता है। क्योंकि उसकी बुद्धि जिस समय जिस अश की ओर ढली हुई रहती है, उस समय वह उसी अश का ज्ञान करता है और वह पदार्थों को इतने ही रूप मे जानता है, अन्य अशों की ओर उसकी दृष्टि जाती ही नही है। परन्तु अन्य मनुष्य अन्य अश को ज़ानता है और वह पदार्थ को उसी रूप मे मानता है। दोनो अपनी-अपनी बाते सत्य मानते है और एक-दूसरे की वात असत्य और फिर दोनों मे टकराहट शुरू हो जाती है। प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म है और दृष्टि मात्र एक-एक धर्म को ही जानती है। अत पदार्थ भी उसी रूप मे प्रतीत होता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियाँ हो जाती है जिससे उतने ही मत वन जाते है—

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति णयवाया ।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥

जितने वचन मार्ग है, उतने ही नयवाद है और जितने ही नयवाद है, उतने ही पर समय=सिद्धान्त है।

—सन्मति ३/४७

'अतः उन मतों के विरोध का परिहार करने के लिये प्रत्येक कथन के पीछे रही हुई अपेक्षा को ढूंढने की आवश्यकता रहती है।

पर, साधना का ध्येय विनष्ट हो जाता है और साधना भी निष्प्राण हो जाती है।

४. जहाँ तक मोहकर्म का उदय रहता है और प्रमाद की स्थिति रहती है, वहाँ तक चारित्र में स्खलना होने की सभावना रहती है। ऐसे समय मे धैर्य का परित्याग नही करना चाहिये। संयम की दृष्टि रखना चाहिये। अनायास दोषसेवन हो जाय तो उसमे ही रमण नही करते रहना चाहिये। उस भाव को सहन करते हुए, काययोग से तद्रूप प्रवृत्ति को रोककर, सयम भाव का अनुसधान करना चाहिये। और स्खलना से ऊपर उठने का उद्यम करना चाहिये।

५. जिस ज्ञान मे दोषो के परित्याग का आदेश तो हो, परन्तु दोष-परित्याग के वाद हुई भूलो के परिमार्जन का विधान न हो—वह ज्ञान अपूर्ण है। अतः दोषो के प्रायश्चित का विधान भी होना चाहिये। अर्थात् गुरु के समक्ष दोपो की आलोचना करके प्रायश्चित लेना चाहिये।

जिस ज्ञान मे इस प्रकार सभी व्यवस्थाएँ होती है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है—श्रेष्ठ ज्ञान है और ऐसे ज्ञानस्वामी महान् है।

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्म शत कोटिभि·।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्त र्मुहूर्त के ॥

अज्ञानी जितने कर्म सैकड़ो-करोडो भव मे क्षय करता है, तीनो गुप्ति से गुप्तात्मा ज्ञानी उतने कर्म अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

मे ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है, ३. प्रमाण से गृहीत वस्तु के अंश की ग्राहिका दृष्टि नय है, ४. श्रुतज्ञान का विकल्प नय है आदि। अर्थात् पदार्थगत विविध धर्मों के कारण, जो विविध अभिप्राय वनते है, उन अभिप्रायो में से किसी एक को व्यक्त करना नय है। पहले यह वात कही जा चुकी है। यह भी कहा जा चुका है कि नय अनेक है। परन्तु उन्हे भगवान ने सात की संख्या मे गर्भित कर दिये है। उन्हे मूल नय कहा गया है। फिर प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद की अपेक्षा से सात सौ नय होते है। गुरुदेव ने सात नयो का ही वर्णन किया है। अगले चार दृष्टान्त नयो के विषय मे है।

४०. राजा कौन ?

हाथ-पग-लक्षण को देख, पेलो राजा कहे,
दूजो-राजवंश जाया को राजा बतावे है,
तीजो-युवराज हुआ, चौथो राज-काज कियां।
पाँचवों अभिषेक कियां राजा जतावे है।
राज-अवस्था को पर्याय रूप हो-मान छट्ठो,
सर्व-सत्ता रूप नृप सातवों सुनावे है;
अविरुद्ध सातो मानों, भूप-भाव 'सूर्यमुनि'
एक रूप माने सो तो मिथ्यात्वी कहावे है ।।४१।।

राजा विजयेन्द्र आनन्द से राज्य कर रहा था। उसके राज्य मे अमन-चैन की बशी बज रही थी। प्रजा सभी प्रकार से सम्पन्न थी। राजा सदैव जन-कल्याण की चिन्ता मे लीन रहता था। प्रजा न्यायी राजा को पाकर प्रसन्न थी। किन्तु पड़ौसी राजा को यह सव पसद नही था। वह प्रजा के हित कार्यों को करना, प्रजा को सिर पर चढाने जैसा समझता था। दोनो राज्यो मे पीढी दर पीढ़ी वैर चला

उन अपेक्षाओं को खोजने की विधि का ही नाम नयवाद है। नय श्रुतज्ञान के वचन विकल्प है। तीसरे वर्ग के दूसरे अध्याय मे इसी विषय का विचार किया गया है।

नयवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद

विनोद–'हमने भगवान महावीर के अनेकान्तवाद का नाम बहुत सुना है। नयवाद और अनेकान्तवाद एक ही है या अलग-अलग?' प्रवीण–'नानाजी! हमने स्याद्वाद का भी नाम सुना है। तो स्याद्वाद भी अनेकान्तवाद है?' 'बेटा! स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनो शब्द पर्यायवाची रूप मे भी प्रयुक्त होते है और कभी-कभी भिन्न अर्थ मे भी। एक ही पदार्थ मे अनन्त धर्मों को विविध अपेक्षा से घटित करके वतलाना अनेकान्तवाद है और पदार्थ या पदार्थ के धर्म का विधि और निषेध की अपेक्षा से विचार करना स्याद्वाद है। नयवाद अनेकान्तवाद को फलित करने की शैली है। स्याद्वाद किसी नय के एक विषय को या प्रमाण के विषय को लेकर भी विधि-निषेध का विचार करता है। अर्थात् नयवाद विविधमतो को संग्रह करने वाला वाद है। जिससे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद फलित होते है। यथा–

जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवाय-पडिवत्ती।
तम्हा सो वोहव्वो, एयंतं हंतुकामेणं॥

नय के विना स्याद्वाद का ज्ञान नही होता है। इसलिये एकान्तवाद का परिहार करने के लिये नय को जानना चाहिये।

नय किसे कहते है? और कितने है?

मृदुला–'नय किसे कहते है?' 'नय की अनेक परिभाषाएँ है– १. पदार्थ के किसी एक धर्म को जानना नय है, २. पदार्थ के विषय

को जँच गई। अब यह विचार-विमर्श होना प्रारम्भ हुआ कि इस कार्य के लिये कौन योग्य है। राजा ने यह कार्य पुरोहितजी, नगर-श्रेष्ठि धनद, मंत्रीपुत्र प्रबुद्ध, सेनापतिपुत्र प्रभञ्जन, कौटुम्बिक शोभन, कुलवृद्धा तिलका, दासी वर्धना और कुछ दास को सौंपने का निर्णय किया और सभी ने इसका अनुमोदन किया। अर्धरात्रि बीतने पर वे सभी लोग किले से गुप्त मार्ग के द्वारा निकलकर, गहन जगल मे सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये।

इधर प्रातःकाल मे राजा विजयेन्द्र युद्ध के लिये रवाना हुए और स्त्रियों ने धधकती हुई चिता मे प्रवेश किया। शत्रुराजा विजयेन्द्र के एक भी व्यक्ति के जीवित रहते हुए किले मे प्रवेश न कर सके। जब शत्रुसेना ने किले में प्रवेश किया, तब तक चिताएँ जलकर भस्म हो चुकी थीं। शत्रुराजा को एक भी व्यक्ति जीवित न मिला। शून्य महलो को देखकर वह भी व्यथित हो गया।

महारानी शीलादेवी ने योग्य समय मे पुत्ररत्न को जन्म दिया। सभी महारानी की और सद्य जात राजकुमार की रक्षा करते हुए जगल मे ही रहने लगे। एक बार उन सब मे विचार-विमर्श हुआ कि किसी भी प्रकार साधनों की वृद्धि होना चाहिये। इसी हेतु से धनद श्रेष्ठि ने किसी समृद्ध नगर में जाकर व्यापार का ठाठ जमाया। उसने थोड़े ही दिनों मे वैभव की वृद्धि कर ली और महारानीजी आदि को नगर मे बुला लिया। परन्तु पुरोहितजी और मत्री पुत्र प्रबुद्ध को कई दृष्टियो से नगर मे रहना उचित नही लगा। राजकुमार सयाना होता जा रहा था। उसे प्रशिक्षण भी देना था। सेनापति को पुरुषो को जमा करके उन्हे भी तैयार करना और राज्य की प्रजा में गुप्त रूप से प्रचार करना था। इसलिये उन्हें जगल ही निरापद लगा। वे जंगल मे लौट गये और सब अपने-अपने कार्य मे लग गये। पुत्र समेत धनदश्रेष्ठि धन संग्रह कर रहा था। इसलिये

आ रहा था। राजा विजयेन्द्र ने सिंहासन पर बैठते ही वैर-परिहार का प्रयत्न किया और वह अशतः सफल भी रहा। वर्षो तक दोनों राज्यो मे सुलह शान्ति रही। राजा विजयेन्द्र ने इस अवसर का लाभ उठाकर, राज्य की चतुर्दिक् उन्नति की ओर ध्यान दिया। वह यह वात भूल ही गया कि पडौसी राजा उसका शत्रु है। पड़ौसी राजा को राजा विजयेन्द्र के राज्य की उन्नति कॉटे के समान खटकती थी। उसने गुपचुप तैयारी की और राजा विजयेन्द्र को असाववान पाकर, उस पर अचानक ही हमला कर दिया।

राजा विजयेन्द्र आश्चर्य-चकित रह गया। उसे अपने पड़ौसी राजा की खलवृत्ति से वडा दु ख हुआ। परन्तु अव उसे युद्ध करने के सिवाय और कोई चारा नही दिखाई दिया। उसने तत्काल युद्ध की तैयारी की और वह समर-भूमि मेंउतर पड़ा। राजा और उसके साथी शौर्य-पूर्वक युद्ध कर रहे थे। परन्तु शत्रु-सेना का पार नही था। सैनिक कट-कटकर गिर रहे थे। राजा विजयेन्द्र की सेना कम होती जा रही थी। किले की रसद भी समाप्त-प्राय: थी। फिर भी युद्ध वरावर चल रहा था। राजा विजयेन्द्र पराधीन होकर जीना नही चाहता था। परन्तु स्थिति विषम थी। सेना मे मुट्ठी भर सैनिक रह गये थे। रात्रि मे उन लोगो की सभा हुई। सभी के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ थीं। परस्पर विचार-विमर्श के वाद यह निर्णय हुआ कि स्त्रियां जौहर करे और पुरुष केशरिया वस्त्र पहनकर, किले के दरवाजे खोलकर युद्ध करे।

इस निर्णय के वाद सभा में एक विचारणीय प्रश्न उठ खडा हुआ—'महारानी शीलादेवी गर्भवती है। अत: उनका संरक्षण होना चाहिये।' राजपुरोहित अनिरुद्ध ने कहा—'राजवंश की रक्षा के लिये महारानीजी के गर्भ की रक्षा करना अत्यावश्यक है। लक्षणो से लगता है कि उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।' वृद्ध पुरोहित जी की वात सभी

को जँच गई। अव यह विचार-विमर्श होना प्रारम्भ हुआ कि इस कार्य के लिये कौन योग्य है। राजा ने यह कार्य पुरोहितजी, नगर-श्रेष्ठि धनद, मंत्रीपुत्र प्रवुद्ध, सेनापतिपुत्र प्रभञ्जन, कौटुम्बिक शोभन, कुलवृद्धा तिलका, दासी वर्धना और कुछ दास को सौपने का निर्णय किया और सभी ने इसका अनुमोदन किया। अर्धरात्रि बीतने पर वे सभी लोग किले से गुप्त मार्ग के द्वारा निकलकर, गहन जगल मे सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये।

इधर प्रातःकाल मे राजा विजयेन्द्र युद्ध के लिये रवाना हुए और स्त्रियो ने धधकती हुई चिता मे प्रवेश किया। शत्रुराजा विजयेन्द्र के एक भी व्यक्ति के जीवित रहते हुए किले मे प्रवेश न कर सके। जव शत्रुसेना ने किले में प्रवेश किया, तव तक चिताएँ जलकर भस्म हो चुकी थी। शत्रुराजा को एक भी व्यक्ति जीवित न मिला। शून्य महलो को देखकर वह भी व्यथित हो गया।

महारानी शीलादेवी ने योग्य समय मे पुत्ररत्न को जन्म दिया। सभी महारानी की और सद्य जात राजकुमार की रक्षा करते हुए जगल मे ही रहने लगे। एक वार उन सब मे विचार-विमर्श हुआ कि किसी भी प्रकार साधनों की वृद्धि होना चाहिये। इसी हेतु से धनद श्रेष्ठि ने किसी समृद्ध नगर में जाकर व्यापार का ठाठ जमाया। उसने थोड़े ही दिनो में वैभव की वृद्धि कर ली और महारानीजी आदि को नगर मे बुला लिया। परन्तु पुरोहितजी और मत्री पुत्र प्रवुद्ध को कई दृष्टियो से नगर में रहना उचित नही लगा। राजकुमार सयाना होता जा रहा था। उसे प्रशिक्षण भी देना था। सेनापति को पुरुषो को जमा करके उन्हे भी तैयार करना और राज्य की प्रजा में गुप्त रूप से प्रचार करना था। इसलिये उन्हें जगल ही निरापद लगा। वे जगल में लौट गये और सव अपने-अपने कार्य मे लग गये। पुत्र समेत धनदश्रेष्ठि धन संग्रह कर रहा था। इसलिये

उसके लिये वह नगर ही योग्य स्थान था। पुरोहितजी राजकुमार को शिक्षा देने लगे। मंत्रीपुत्र गुप्त रूप से राज्य की प्रजा में विश्वास जगा रहा था और स्थान-स्थान पर संगठन के कार्य कर रहा था। सैनिक-पुत्र इधर-उधर से सैनिकों को जमा कर रहा था। कुलवृद्धा तिलका सबके भोजन-पानी का प्रबन्ध करती थी और महारानी सूक्ष्म दृष्टि से सबका निरीक्षण करती रहती थी तथा उचित समय पर उचित राय देती रहती थी। धनदश्रेष्ठि कुछ-कुछ दिन के अन्तर से सार-संभाल कर जाया करता था और जिस पदार्थ की आवश्यकता रहती उसकी पूर्ति कर दिया करता था। राजकुमार कुमारअवस्था को पार कर रहा था। उसमें क्षत्रियोचित सभी गुण जागृत हो चुके थे। उसका मन पैतृक राज्य को प्राप्त करने को लालायित हो रहा था। लगता था कि अब थोड़े ही दिनों मे कार्य सिद्ध होने वाला है।

एक बार धनदश्रेष्ठि जंगल में गया। प्रसन्नता से भरा हुआ वातावरण था। वार्ता-विनोद होने लगा। प्रसंगवशात् विचित्र चर्चा छिड़ गई। पुरोहितजी ने कहा—'राजकुमार के हाथ-पैर आदि के लक्षण बहुत ही उच्च कोटि के है। राजकुमार बहुत प्रभावशाली छत्रपति होंगे। अरे! मै तो अभी ही देख रहा हूँ कि वे श्रेष्ठ राजा है।' कुलवृद्धा तिलका ने मुसकाते हुए कहा—'अरे पुरोहितजी! आप लोगों की तो बात ही न्यारी है। थोड़ी-सी टेढ़ी-मेढी रेखाओ से ही किसी को राजा मान लेते हो। परन्तु ये जन्मे है राजवंश मे। राजवंशी राजा ही होते है।' मंत्रीपुत्र प्रबुद्ध ने अपना मत बताया—'लक्षणमात्र से या राजवश मे जन्म लेने मात्र से कोई राजा कैसे माना जा सकता है। व्यवहार की बात तो यह है कि युवराज होने पर ही राजा होते है।' प्रभंजन उनकी बाते चुपचाप सुन रहा था। परन्तु जब प्रबुद्ध ने अपनी बात समाप्त करते हुए उसकी ओर देखा, तब उसने जोश के साथ अपनी बात कही—'देखोजी! मै हूँ

शस्त्रजीवी। सीधी और साफ बात मानने वाला। मुझे आप लोगों की इन ढीली-ढाली वातो मे विश्वास नही है। मेरी दृष्टि मे तो जो राजकार्य करे वही राजा है।' दासी वर्धना से अव नही रहा गया। वह भी बोली—'अरे सेनापतिजी! राजकार्य तो कोई भी कर सकता है। राजा छोटे हो तो उनके सरक्षक भी राजकार्य करते है। परन्तु इतने मात्र से उन्हें कोई राजा नही मानता है। जहाँ तक किसी का राज्याभिषेक नही होता, वहाँ तक उसे कोई राजा कैसे मान सकता है?' कौटुम्बिक शोभन प्रगल्भता से वोला—'वर्धने! तुम भूल रही हो! जब तक छत्र, चँवर, कोश, सेना आदि ऋद्धि न हो, तब तक किसी का राज्याभिषेक हो जाने मात्र से उसे राजा कैसे माना जा सकता है?' महारानीजी को इन लोगो की वाते प्रेरणा-स्रोत से शून्य लगी। उन्होने सभी को चौकाते हुए और उनकी वातो को काटते हुए कहा—'शोभन! इन सब वातो के होने से कोई राजा हो जाय, यह मै नही मान सकती। इन सब ऋद्धि के साथ ही जो सब पर सत्ता चला सकता हो, उसे ही मै राजा मान सकती हूँ।' अब परस्पर विवाद होने लगा। सभी अपने-अपने पक्ष मे तर्क देने लगे।

धनदश्रेष्ठि उनके तर्क-वितर्क सुनकर मुसकरा रहा था। धनदश्रेष्ठि को मुसकाते हुए देखकर, सभी को आश्चर्य हुआ। पुरोहितजी ने भेदभरी दृष्टि डालते हुए धनदश्रेष्ठि से पूछा—'श्रेष्ठिवर्य! आप हमारी वाते सुनकर हँस रहे है! तो आप ही अपनी राय वताइये! स्पष्ट कहना। किसी की नाराजी का भय मत रखना!' धनदश्रेष्ठिने कहा—'मै आप किसी को नाराज नही कर सकता! मै और आपको नाराज करूँ?' प्रभंजन वेग से बोल उठा—'अच्छा तो सेठजी! आपकी कोई राय नही है।' धनदश्रेष्ठि ने दृढ स्वर मे कहा—'क्यो नही? मेरी भी कोई राय है और स्पष्ट राय है।' पुरोहित नगरश्रेष्ठि से भलीभाँति परिचित था। वह उसकी बुद्धि की गहराई और

उदारता से खूब प्रभावित था । महारानी भी उत्सुकता से उसकी बात सुन रही थी। क्योंकि उसे अच्छी तरह से ज्ञात था कि आज राजवंश के लिए वही परमाधार है और उसका बहुत बड़ा त्याग पुनः राज्य प्राप्ति मे सहायक हो रहा है। धनदश्रेष्ठि ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—'आप लोग यह बात जानते है कि मै आर्हत धर्म का—भगवान महावीर देव का अनुयायी हूँ। मै उन विशालप्रज्ञ की अमृत वाणी के प्रकाश मे देखता हूँ तो मुझे लगता है कि आप सभी की बाते अपने-अपने स्थान पर सत्य है। पुरोहितजीने दुनिया देख रखी है। ये संकल्प के महात्व को जानते है और ये ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता भी है, अतः इनकी दृष्टि मे तीनों काल की बाते रहती है। लोकरूढि, संकल्प आदि के कारण इनका राजकुमार को राजा मानना सत्य ही है। यदि ये राजकुमार को राजा मानकर नही चलते तो वे उन्हे उस रूप मे घड़ ही नही सकते। तिलकादेवी कुल की वृद्धा है। इनके लिए वश का गौरव बड़ी चीज है। इसलिए ये राजवश शब्द से तीनो काल के राजाओ का संग्रहकर लेती है, तो यह असत्य नही है। प्रवुद्ध बुद्धि का धनी है। यह लोक-व्यवहार को प्रधानता देता है। अतः यह शासक रूप मे कार्य करनेवाले को ही राजा जितना मान दे सकता है। प्रभजन सेनापति है। इसे वर्तमान से ही मतलब रहता है। इसलिए यह युवराज को ही राजा माने—इसमे कोई आश्चर्य नही है। वर्धना महारानी की सेविका है। इस-लिए यह राज्याभिषेक को ही महत्त्व देगी। विना ऋद्धि के कौटु-म्बिक का कोई स्थान नही रहता है। इसलिए शोभन की दृष्टि मे राज-ऋद्धि से सम्पन्न ही राजा हो सकता है। महारानीजी को पुनः राज्य-प्राप्ति की महत्त्वाकाक्षा है। इसलिए जब तक राजकुमार सिंहासन पर विराजमान होकर, अपनी सत्ता का प्रवर्तन न करे, तब तक वे उन्हे राजा कैसे मान सकती है?

प्रभंजन–'यह तो आपने सातो का अभिप्राय स्पष्ट किया। परन्तु इसमे आपकी राय कहाँ आई ?' धनद–'मेरी राय भी मेरी वात से स्पष्ट हो जाती है। मै तुमसे पूछूँ कि यदि आप पुरोहितजी की वात नही मानते हो, तो आप सेनापति, मंत्री आदि किसके हो और मै पुरोहितजी से पूछता हूँ कि आप राजकुमार को राजा ही मानते है तो उन्हे राजा वनाने का उद्यम क्यो कर रहे हो ? अर्थात्–

'अविरुद्ध सातों मानों भूपभाव 'सूर्यमुनि' ।
एकरूप मानें सो तो मिथ्यात्वी कहावे है ।।

मेरा अभिप्राय आप सातो की दृष्टि के समन्वय रूप है।' श्रेष्ठि की वात से सभी प्रसन्न हो गये और अपने-अपने कार्य मे संलग्न हो गये।

नयों का स्वरूप

प्रमोद–'इस दृष्टान्त मे राजा के विषय मे सात नयो को घटाया गया है। अत. हमे यह उत्सुकता हो रही है कि उन नयो के नाम क्या है ?' 'वत्स ! सातो नयो के नाम क्रमश. वताता हूँ। नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय।' 'नानाजी ! कृपा करके, इनका स्वरूप भी वताइये।' 'नैगमनय लोक में प्रचलित विविध लोकरूढियों को ग्रहण करता है। इसलिए नैगमनय का विषय वहुत ही विशाल है। यथा–

(१) लोकरूढि नैगम गहे, धर्मादि गौण–प्रधान ।
अंश, भाव, आरोप को, लहे विवधगम मान ।।

नैगमनय लोकरूढियों को ग्रहण करता है। दो धर्मों, धर्म और धर्मी और दो धर्मियो को गौण और प्रधान भाव से वतलाता है। अशमात्र वस्तु को पूर्ण, कार्य के अभिप्राय मात्र को कार्य और कालादि के पारस्परिक आरोपण को मानता है। अर्थात् जिसका एक गम–मार्ग नही है, अनेक मार्ग है, वह नैगम नय है।

उदारता से खूव प्रभावित था । महारानी भी उत्सुकता से उसकी बात सुन रही थी । क्योंकि उसे अच्छी तरह से ज्ञात था कि आज राजवंश के लिए वही परमाधार है और उसका वहुत वड़ा त्याग पुनः राज्य प्राप्ति मे सहायक हो रहा है । धनदश्रेष्ठि ने अपनी वात को स्पष्ट करते हुए कहा–'आप लोग यह वात जानते है कि मै आर्हत धर्म का–भगवान महावीर देव का अनुयायी हूँ । मै उन विशालप्रज्ञ की अमृत वाणी के प्रकाश मे देखता हूँ तो मुझे लगता है कि आप सभी की वाते अपने-अपने स्थान पर सत्य है । पुरोहितजीने दुनिया देख रखी है । ये सकल्प के महात्व को जानते है और ये ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता भी है, अतः इनकी दृष्टि मे तीनो काल की वातें रहती है । लोकरूढि, संकल्प आदि के कारण इनका राजकुमार को राजा मानना सत्य ही है । यदि ये राजकुमार को राजा मानकर नही चलते तो वे उन्हे उस रूप मे घड़ ही नही सकते । तिलकादेवी कुल की वृद्धा है । इनके लिए वश का गौरव वडी चीज है । इसलिए ये राजवंश शब्द से तीनो काल के राजाओं का संग्रहकर लेती है, तो यह असत्य नही है । प्रबुद्ध बुद्धि का धनी है । यह लोक-व्यवहार को प्रधानता देता है । अतः यह शासक रूप मे कार्य करनेवाले को ही राजा जितना मान दे सकता है । प्रभंजन सेनापति है । इसे वर्तमान से ही मतलव रहता है । इसलिए यह युवराज को ही राजा माने– इसमे कोई आश्चर्य नही है । वर्धना महारानी की सेविका है । इस-लिए यह राज्याभिषेक को ही महत्त्व देगी । विना ऋद्धि के कौटु-म्विक का कोई स्थान नही रहता है । इसलिए शोभन की दृष्टि मे राज-ऋद्धि से सम्पन्न ही राजा हो सकता है । महारानीजी को पुन· राज्य-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा है । इसलिए जव तक राजकुमार सिंहासन पर विराजमान होकर, अपनी सत्ता का प्रवर्तन न करे, तव तक वे उन्हे राजा कैसे मान सकती है ?

प्रभजन–'यह तो आपने सातो का अभिप्राय स्पष्ट किया। परन्तु इसमे आपकी राय कहाँ आई ?' धनद–'मेरी राय भी मेरी बात से स्पष्ट हो जाती है। मै तुमसे पूछूं कि यदि आप पुरोहितजी की बात नही मानते हो, तो आप सेनापति, मंत्री आदि किसके हो और मै पुरोहितजी से पूछता हूँ कि आप राजकुमार को राजा ही मानते है तो उन्हे राजा बनाने का उद्यम क्यो कर रहे हो ? अर्थात्–

'अविरुद्ध सातों मानों भूपभाव 'सूर्यमुनि' ।
एकरूप मानें सो तो मिथ्यात्वी कहावे है ॥

मेरा अभिप्राय आप सातो की दृष्टि के समन्वय रूप है।' श्रेष्ठि की बात से सभी प्रसन्न हो गये और अपने-अपने कार्य मे सलग्न हो गये।

नयों का स्वरूप

प्रमोद–'इस दृष्टान्त मे राजा के विषय मे सात नयो को घटाया गया है। अत. हमे यह उत्सुकता हो रही है कि उन नयो के नाम क्या है ?' 'वत्स ! सातो नयो के नाम क्रमश बताता हूँ । नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय।' 'नानाजी ! कृपा करके, इनका स्वरूप भी बताइये।' 'नैगमनय लोक मे प्रचलित विविध लोकरूढियो को ग्रहण करता है। इसलिए नैगमनय का विषय बहुत ही विशाल है। यथा–

(१) लोकरूढि नैगम गहे, धर्मादि गौण–प्रधान ।
अंश, भाव, आरोप को, लहे विवधगम मान ॥

नैगमनय लोकरूढियो को ग्रहण करता है। दो धर्मों, धर्म और धर्मी और दो धर्मियों को गौण और प्रधान भाव से बतलाता है। अंशमात्र वस्तु को पूर्ण, कार्य के अभिप्राय मात्र को कार्य और कालादि के पारस्परिक आरोपण को मानता है। अर्थात् जिसका एक गम–मार्ग नही है, अनेक मार्ग है, वह नैगम नय है।

लोकरूढ़ि—मनुष्यों को ही भारत, चीन कहना; लकड़ी को ही पायली कहना आदि लोकरूढियाँ है।

धर्मादि में गौण-प्रधान भाव—विशेष्य प्रधान होता है और विशेषण गौण। दो धर्मो, दो धर्मियो या धर्म-धर्मी मे एक को विशेषण और दूसरे को विशेष्य बना देना। जैसे—'पीली झाईवाला गोरा वर्ण' 'यह सेठ राजा है' और 'भोगी क्षणभर सुखी है।'

अंश—थोडे से हुए कार्य को पूरा मान लेना या अशरूप पदार्थ को पूरा मान लेना। जैसे—बम्बई के लिए घर से रवाना हुए व्यक्ति को 'बम्बई गया' और 'निगोदिया जीव को सिद्ध' कहना।

भाव—हृदय मे हुए कार्यादि के सकल्प को ही कार्यादि मान लेना। जैसे-मुनित्व ग्रहण करने की इच्छावाले को मुनि कहना, दर्जी के यहाँ वस्त्र लेकर जाते हुए-'कोट सिलाने जा रहा हूँ' कहना।

आरोप—अतीतादि का वर्तमानकालादि मे आरोपण। जैसे आज भगवान महावीर का जन्म कल्याणक है।

(२) एकपना अरु भिन्नता, है सामान्य-विशेष।
संग्रह नय सामान्य को गहे परापर रेश॥

वस्तु—वस्तु मे और एक ही वस्तु मे सदृशता का अश सामान्य कहलाता है और भिन्नता का अंश विशेष। सग्रह नय सामान्य को ही ग्रहण करता है, विशेप को नही। इसके पर और अपर ये दो भेद है।

जो बस सत्ता को गहे, पर-संग्रह वह शुद्ध।
गहे जाति सामान्य को, वह है अपर अशुद्ध॥

सग्रहनय का जो अंश मात्र सत्ता को ही ग्रहण करता है अर्थात् सभी पदार्थ सत् है, इसलिए सब एक है—ऐसा मानता है, वह परसग्रह

या शुद्ध सग्रहनय है और जो अश पदार्थों के द्रव्यादि अवान्तर सामान्य या जातीय एकता को ग्रहण करता है, वह अपर सग्रह या अशुद्ध सग्रह नय है।

पर सामान्य एकमात्र सत्ता ही है और अपर सामान्य द्रव्यत्व, गुणत्व, प्रदेशत्त्व, पर्यायत्व, वस्तुत्व, जीवत्व, जड़त्व आदि अनेक भेदवाला है। अर्थात् जिन-जिन भावो से वहुत से पदार्थों में एकत्व स्थापित किया जाता है, वह अपर सामान्य है।

(३) संग्रह नय गत अर्थ से, चले न जग की रीति।
करे भेद उसमें सविधि, व्यवहार नय सुनीति ।।

सामान्य मात्र के द्वारा जगत का व्यवहार नही चल सकता है। व्यवहारनय की यह उत्तम नीति है कि वह सग्रहनय के द्वारा गृहित अर्थ में विधिपूर्वक भेद करता है। जैसे—सत् द्रव्य भी है। पर्याय भी है। द्रव्य जीव भी है, अजीव भी। केवल जीवद्रव्य कहने से ही विशेष वात समझ मे नही आती है। जीव भी दो प्रकार के होते है—सिद्ध और ससारी इस प्रकार व्यवहारनय वहाँ तक द्रव्यादि के भेद-प्रभेद करता जाता है, जिससे आगे फिर भेद न हो सकते हो। इस प्रकार व्यवहारनय लोक-व्यवहार प्रधान है।

(४) भूत-भविष्य लखे न जो, वर्तमान क्षण देख।
वह नय है ऋजुसूत्र 'अणु', स्थूल-सूक्ष्म अवलेख ।।

जो दृष्टि भूतकाल और भविष्यकाल की उपेक्षा करती है और मात्र वर्तमान काल को ही ग्रहण करती है, वह ऋजुसूत्र नय है। अर्थात् ऋजुसूत्रनय पदार्थ की पर्यायो—अवस्थाओं को ही ग्रहण करता है। इसके स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद है। स्थूल-ऋजुसूत्र नय

अनेक समयवर्ती मनुष्यादि पर्यायों को ग्रहण करता है और सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है।

(५) लिंग-काल-कारक-वचन, आदि भेद से अर्थ।
भिन्न रूप से देखता, है नय शब्द समर्थ।।

लिंग, काल, कारक, वचन आदि की भिन्नता से, जो दृष्टि पदार्थ मे भी भेद देखती है, उसे शब्दनय कहते है।

लिंगभेद—मनुष्य और मनुष्यनी, खाट और खटिया, जूता और जूती आदि लिंग की भिन्नता से पदार्थ की भिन्नता प्रतीत ही है।

कालभेद—इंदौर था, इंदौर है और इंदौर रहेगा—इस काल सम्बन्धी भिन्नता से तीनो समय मे नगर की भिन्नता मानना आदि शब्दनय की विशेपता है। इसी प्रकार कारक आदि विषय मे भी समझ लेना चाहिये। 'आदि' शब्द से उपसर्ग आदि से परिवर्तित अर्थ भी शब्दनय मे गर्भित हो जाते है। जैसे—संहार, प्रहार, आहार, विहार, उपहार आदि।

(६) पर्यायवाची शब्द के, निरुक्ति से कर भेद।
करे रूढ जो अर्थ में, समभिरूढ नय वेद।।

जो दृष्टि एक ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्दो के व्युत्पत्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ करके, पदार्थ मे भिन्नता का आरोपण करती है, उसे समभिरूढ नय समझना चाहिये। जैसे—जो प्रकाशमान हो सो देव, जिसे जरा नही आती है सो निर्जर, जो शस्त्रादि के प्रहार से नही मरता है वह अमर आदि।

(७) अर्थ—क्रिया में भाव जो, परिणत हो जिस काल।
तभी वस्तु तद्‌रूप ले, एवंभूत सम्हाल।।

जो पदार्थ जिस काल मे जिस शब्द के अर्थ के अनुरूप क्रिया में परिणत होता है, उस समय ही उस पदार्थ को पदार्थ मानने वाली दृष्टि को एवभूतनय कहते है । अर्थात् पर्यायवाची या अन्य शब्द का अर्थ जव उन पदार्थ मे घटित होता हो, तभी उस पदार्थ के लिये उस शब्द का प्रयोग एवंभूतनय उचित मानता है । अन्य समय मे नही । जैसे कुम्हार जिस समय कुभ वना रहा हो, उस समय ही कुभकार है और जव अपनी पात्र रूप सृष्टि की सार-सम्हाल करता है, तभी प्रजापति है आदि ।

४१. नय का विचार जुदा-जुदा होय

(कवित्त)

पेलो नय बाण लागा, बाण को निकाले दोष,
दूजो-दोष छोड़े बाण ताहि को निकारे है;
ग्रहादिक-तीजो कहे, चौथो-कर्मदोष देवे,
जीवदोष, बाँधे कर्म—पाँचवों उचारे है ।
होनहार माने छट्ठो, सातवों-सच्चिदानन्द—
माने जीव सदा सुखी निराबाध धारे है;
ऐसे सातों नय का विचार जुदा-जुदा होय,
'सूर्यमुनि' सातों नय मिले काज सारे है ॥४२॥

विपुलचन्द्र और सूरचन्द्र दोनो राजकुमार थे । सूरचन्द्र वहुत ही क्रोधी था । वे सौतेले भाई थे । इसलिये उनमें परस्पर ईर्ष्या का भाव था । विपुलचन्द्र आयु में वडा था और उसमे योग्यता भी विशेष थी । अत: उसे सर्वत्र आदर मिलता था । यह देखकर सूरचन्द्र जल-भुन जाता था । वे एक ही आश्रम में विद्याध्ययन कर रहे थे । कुलपति से उनका पारस्परिक वैमनस्य छिपा हुआ नही था । वे उनमे पर-

स्पर प्रेमभाव जगाने का प्रयत्न करते थे। परन्तु उनके मन नही मिल पाते थे। सूरचन्द्र को विपुलचन्द्र फूटी आँख न सुहाता था।

एक वार वे लक्ष्य साधने के लिये वन के एक हिस्से मे गये। साथ मे अन्य ब्रह्मचारी छात्र भी थे। अचानक ही दोनों भाइयो मे तकरार हो गई। जव सूरचन्द्र विपुल से जान वूझकर उलझने लगा, तव वह उसकी उपेक्षा करके आगे वढ गया। यह वात सूरचन्द्र को अच्छी नही लगी। वह क्रोध से तमतमा रहा था। वह विपुलचन्द्र को बुरा-भला कह रहा था। पर वह वहुत आगे चला गया था। सूरचन्द्र ने आवेश से तूणीर से तीर निकाला और चाप पर रखकर, उसे विपुलचन्द्र पर छोड़ दिया। तीर सनसनाता हुआ आया और एक पेड से रगड़ खाता हुआ, विपुलचन्द्र के वाये पैर मे लग गया। जिससे वह लडखडाता हुआ गिर पड़ा। अन्य छात्र दौडे। उन्होने उसे उठाया और उसके पैर से तीर निकाल कर, तात्कालिक उपचार किया। फिर उसे उठाकर आश्रम मे ले गये।

जव कुलपति के पास ये समाचार पहुंचे, तव वे वडे खिन्न हुए। यह घटना उनके आश्रम के लिये कलक रूप थी। वे सायकाल के समय इस विपय मे सही निर्णय लेने के हेतु छात्रो के वीच पूछताछ कर रहे थे। उन्होने पहले सूरचन्द्र को ही पूछा—'सूरचन्द्र! तुमने यह अपराध क्यो किया?' सूरचन्द्र को पता लग गया था कि कुलपतिजी पूरी घटना से परिचित हो चुके है। उसके मन में भय पेठ गया था। क्योकि उसका दोष सिद्ध होने वाला है। उसकी वुद्धि तेजी से कार्य कर रही थी। उसने अपना वचाव करने के लिए दार्शनिक गभीरता से कहा—'मैने अपराध किया हो तो मै 'क्यो' का उत्तर दू। इसे चोट तो लगी है वाण से। अपराध है तो वाण का या वाण वनाने वाले का या फिर धनुर्वेद की शिक्षा देने वाले का!' उसकी वात सुनकर विपुलचन्द्र से

नही रहा गया। वह बोला—'कुलपते ! इसे इस प्रकार बोलने में लज्जा नही आती है। इन सबका अपराध है तो इसका अपराध क्यों नही है ? तीर चलाने वाला तो यही था।'

कुलपति ने अन्य छात्रों की ओर देखा। जो ज्योतिष शास्त्र का अध्येता था, वह बोला—'इस अपराध में सूरचन्द्र का इतना दोष नहीं है। क्योकि अभी विपुल के ग्रह खराब चल रहे है। इसलिए विपुल के ग्रह-दोष के कारण ही सूरचन्द्र को उस पर तीर छोडने की बात सूझी।' उसकी बात सुनकर सूरचन्द्र प्रसन्न हो गया। दर्शनशास्त्र का अध्येता छात्र बोला—'यह बात भी झूठ है। ग्रहो का कोई दोष नही है। दोष तो विपुल के अशुभ कर्मो का है। जो कर्म बाधे है तो उन्हे भोगना ही होगा। दण्ड के योग्य विपुल के कर्म है।' तीसरा छात्र बोला—'यह बात भी सफेद झूठ है। कर्म बिना कर्त्ता के नही हो सकते है। और जिसके कर्म होते है, उसका कर्त्ता वही होता है। अत इन अशुभ कर्मो का कर्त्ता विपुल की आत्मा है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विपुल की आत्मा का ही दोष है।' चौथे छात्र ने तीसरे छात्र की बात काटते हुए कहा—'तुम लोग कैसी बात कर रहे हो ? भला किसी के किये क्या होता है ? सभी कार्य नियत है। जो होना होता है, वही होता है। इसलिये दोष होनहार का है।' पाँचवा बोला—'आप लोगो को हो क्या गया है ? आत्मा भी कभी दोष करती है क्या ? आत्मा सच्चिदानन्द है। अत न तो वह दोष करती है और न वह दु.खी होती है। दोष करना या दु.खी होना जीव का स्वभाव ही नही है। आपने यह दोष की बात ही कैसे चलाई ?'

कुलपति को उनके दार्शनिक विवाद को सुनकर, मन में क्लेश हो रहा था। पाँचवे छात्र के द्वारा दार्शनिकता के नाम पर बात को ही उड़ा देने से, उन्हें क्रोध आया। उन्होंने उसे ही बेंत से पीटना प्रारम्भ

कर दिया। तव वह जोर से चिल्लाने लगा। उन्होने कड़कते हुए कहा—'मूढ़! तुम कह रहे थे न, आत्मा सच्चिदानन्द है। तो फिर रोते क्यो हो? वह रोता हुआ बोला—'पीड़ा जो होती है!' कुलपति ने उसे डॉटते हुए कहा—'मूर्ख इसी प्रकार दूसरो को भी पीड़ा होती है!' अव तो सभी छात्र घवराए। वह छात्र अपने आँसू पोछते हुए बोला—'जैसा यहाँ मुझे दर्शनशास्त्र मे पढाया गया है, उसी के अनुसार मैंने उत्तर दिया था।' सूरचन्द्र ने भी स्पष्टीकरण दिया—'निकट कारण को ही कारण माना जाता है या फिर जिसके कारण परम्परा का उद्भव होता है, उसे ही मूल कारण मानना चाहिये। इसी दृष्टि से मैंने उत्तर दिया था।' तव अन्य छात्रो ने भी अपनी-अपनी वात को स्पष्ट करते हुए हाथ जोडकर कहा—'कुलपते! क्षमा करिये! जव हमारी वाते असत्य है तो हमे ऐसी असत्य विद्या यहाँ क्यो पढाई जाती है?' कुलपति को उनकी वात से हँसी आ गई। वे उन्हे समझाते हुए वोले—'भाई! विद्या असत्य नही है। परन्तु इस विद्या का किस क्षेत्र मे सयोजन करना चाहिये, यह तुमने नही जाना, इसलिये तुम मिथ्यावादी वन गये और तुम्हारी दृष्टि कुदृष्टि हो गई।'

सुनय और दुर्नय

ऋपभदासजी ने कहा—'इस प्रकार सातो नयो के आशय भिन्न-भिन्न होते है और जो नय दूसरे के आशय का विरोध करता है और अपने ही विपय से प्रतिवद्ध रहता है, वह दुर्नय है तथा वही दुर्व्यवस्था पैदा करता है। वस्तुत वह नय नही है—नयाभास है। गुरु-देव फरमाते है—

ऐसे सातो नय का विचार जुदा-जुदा होय

जव नय एक-दूसरे के आशय का विरोध नही करते है और वे निरपेक्ष नही, सापेक्ष होते है, तव वह सुनय कहलाते है। उनकी सापेक्षता से कार्य की सिद्धि होती है—

तम्हा सव्वे विणया, मिच्छादिट्ठी सपक्ख पडिबद्धा ।
अण्णोण्ण-णिस्सिया उण, हवंति सम्मत्त-सब्भावा ।।

—सन्मति १।२१

ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा तेवि दुण्णया होंति ।
सयल-ववहार-सिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ।।

जो साक्षेप है, वे सुनय है और जो निरपेक्ष है, वे दुर्नय है। सुनय से नियमतः सकल व्यवहार की सिद्धि होती है।

—समण सुत्त ७२५

४२. धर्म सो विचारे है

(कवित्त)

नैगम नय धर्म के नाम को सुधर्म माने,
कुलाचार धर्म-नय संग्रह उचारे है,
पुण्य करणी में धर्म माने व्यवहार नय,
अनित्य भावों मे धर्म-ऋजुसूत्र धारे है ।
क्षायिक समकित को, शब्दनय माने धर्म,
छट्ठो—वस्तु जान त्यागें, धर्म सो विचारे है,
'सूर्य' एवंभूत-सिद्ध-स्वरूप को धर्म कहे,
सातों नय धारे सो ही जैन बैन पारे है ।।४३।।

तिलोकचन्द्र की सर्विस बैक मे थी। उसकी वदली अभी ही हुई थी। वह जिस ग्राम में आया था, वहाँ बैक के अन्य कर्मचारियो और उसका निवास एक ही स्थान पर समीप-समीप था। इसलिये एक-दूसरे का खूब साथ रहता था।

तिलोकचन्द्र जैन था। वह वचपन से ही गुरु-चरणो मे दर्शनार्थ जाया करता था। परन्तु युवावस्था में आते-आते छात्रावस्था को पार

करते हुए उसके विचारो में बहुत परिवर्तन हो गया था। बचपन के धार्मिक सस्कार कच्चे रग के समान घुल गये थे। अब तो उसे अपने को जैन कहने मे भी शर्म आती थी। यदि कोई मुनि आदि उसे मार्ग मे मिलते तो वह उन्हे नमस्कार करने मे भी कतराता था और वह उनसे दृष्टि न मिलाने के लिये अपना मुँह भी फेर लिया करता था। परन्तु एक वार उसे उसके गुरुदेव ही मार्ग में मिल गये। उसका प्रयत्न तो ऐसा था कि वह उनके सन्मुख न जाय। परन्तु मार्ग ऐसा था कि उसे उनके सन्मुख गये बिना चारा ही नही था। उसकी दृष्टि नीची थी। परन्तु जैसे ही गुरुदेव समीप आये, वैसे ही उसकी दृष्टि ऊँची हुई और अनायास ही झिझक के साथ उसके हाथ जुड गये। गुरुदेव हँसते नयनो से आशीर्वाद मुद्रा मे आगे वढ गये। वे उससे कुछ नही बोले। परन्तु उनका मौन ही उसके लिए आमत्रण वनगया। जिससे उसी दिन वह गुरु-चरणो मे उपस्थित हुए बिना नही रह सका। गुरुदेव ने मधुर वचनो से उसकी अन्तर-ग्रन्थियाँ खोल दी। उसने गुरुदेव की प्रेरणा से प्रतिदिन णमोक्कार मंत्र की एक माला फेरने का और दस मिनट तक वीतरागता-प्रेरक ग्रथो का स्वाध्याय करने का नियम ले लिया। गुरुदेव ने ही उसे कुछ ग्रन्थो के नाम वता दिये। उस नियम का यह परिणाम हुआ कि उसका धार्मिक ज्ञान और धर्म आराधना के भाव वढ़ते ही गये। अव वह प्रतिदिन सामायिक करता था और उच्च कोटि के ग्रन्थो का स्वाध्याय भी। उसे अच्छा धर्म-विवेक प्राप्त हो गया था।

छुट्टी का दिन था। वह सामायिक मे स्वाध्याय मे तल्लीन था। आज स्वाध्याय मे समय अधिक लग गया था। इसलिये उसने सामायिक का काल वढा लिया था। अव वह स्वाध्याय से निवृत्त होकर, कायोत्सर्ग मे लीन हो गया। वह पद्मासन से स्थित था। उसकी दृष्टि नाशिका के अग्र भाग पर जमी हुई थी। काया निश्चल थी। उस समय वह प्रस्तर-प्रतिमा-सा लग रहा था।

बैंक का प्रमुख अधिकारी भी जैन ही था। परन्तु वह नाममात्र का जैन था। वह कई जैन संस्कारो को छोड चुका था। आज छुट्टी का दिन होने से कही सैर के लिये जाने का उसका मन था। वह तिलोकचन्द्र के सौजन्य से वहुत प्रभावित था। वह चाहता था कि तिलोकचन्द्र भी उसके संग चले। इसलिये वह अपने कुछ साथियो के साथ, तिलोकचन्द्र के यहाँ आया। तिलोकचन्द्र की पत्नी सामायिक पालकर गृह कार्य मे लग गई थी। उसने अधिकारी और उसके साथियो को सन्मान-पूर्वक उचित स्थान पर विठाया और अपने स्वामी के विषय मे पूछे जाने पर कहा—'उनके लिए थोड़ी प्रतीक्षा करनी होगी। आप शान्ति से विराजिये। वे कुछ ही देर मे अपने नित्य-नियम से निवृत्त हो जाएगे।' अधिकारी ने देखा कि तिलोकचन्द्र पास के कमरे मे ध्यानलीन बैठा हुआ है। कुछ ही समय वाद तिलोकचन्द्र नित्य-नियम से निवृत्त हुआ।

तिलोकचन्द्र ने सवका यथोचित सन्मान किया। अधिकारी बोला—'तिलोक! तुम भी क्या सामायिक के पुराने ढर्रे को लेकर वैठे हो?' तिलोक ने मुसकाते हुए कहा—'आराधना मे पुराना-नया ढर्रा क्या है? पुराने जमाने मे भी मल-शुद्धि के लिये रेचक पदार्थ लिये जाते थे और आज भी लिये जाते है। इसी प्रकार आत्ममल की शुध्दि के लिये धर्म आराधना की भी आवश्यकता है।' एक भाई बोला—'राष्ट्र के नियमों का पालन करना, विश्व के प्रति प्रेम करना, जाति का उध्दार करना, दुर्गुणों को दूर करना आदि ही तो धर्म है?' क्या इस प्रकार एक तरफ बैठकर माला फेरना ही धर्म है? दूसरा बोला—'भाई! मेरी समझ से तो अपने-अपने वर्ण के अनुसार नियमो का पालन करना ही धर्म है और वय के अनुसार ब्रह्मचर्यादि आश्रम का पालन करना।' तीसरा बोला—'वस्तुतः किसी की भलाई करना, भूखे को अन्न देना,

प्यासे को पानी पिलाना, दुःखियो की सहायता करना, नैतिक नियमो का पालन करना, जीवों पर दया करना, झूठ नही बोलना आदि ही तो धर्म है ।' चौथे ने कहा–'ठीक है, भाई ! पर बात वरावर जमी नही । वास्तव में सभी पदार्थ नाशवान है–क्षणभगुर है। क्षणस्थायी ही सव पदार्थों का धर्म है। उन अनित्य भावों को समझना और ऐसी भावना करना उत्तम धर्म है ।' एक अन्य व्यक्ति जो कभी धर्मशास्त्र का अध्येता रहा था, बोला–'दोस्तो ! मै तो ऐसा मानता हूँ कि जीव के अनन्त कर्म बधे हुए है । उन कर्मो का क्षय करना ही धर्म है या क्षायिक सम्यक्त्व अथवा जिन भावों से कर्मो का क्षय हो, वे भाव धर्म है ।' उस समय तिलोकचन्द्र की पत्नी सबके लिये चाय लेकर आई थी। उसने चाय की ट्रे टेबल पर रख दी और चर्चा मे भाग लेते हुए कहा–'मेरी समझ से, छोडने योग्य पदार्थ या भावो को समझ कर, उनका परित्याग करना ही धर्म है ।' अधिकारी चाय की चुस्की लेते हुए बोला–'भाई ! मैंने पहले कभी पढ़ा था–आत्मा ही परमात्मा है और वस्तु का स्वभाव ही धर्म है तो मुझे लगता है कि सिद्ध-स्वभाव ही धर्म है ।' उसने तिलोक पर दृष्टि डाली। वह चुपचाप उनकी वाते सुन रहा था। अधिकारी ने उसे लक्ष्य करके कहा–'क्यों, मै गलत तो नही कह रहा हूँ ?'

त्रिलोकचन्द्र ने कहा–'ये सभी भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ है। जैसे वहुमूल्य रत्न विखरे हुए हों, तो वे हार नही कहला सकते है, इसी प्रकार यदि ये सभी दृष्टियाँ एक-दूसरे के साथ निरपेक्ष हों तो वे सम्यग्दर्शन सज्ञा नही पा सकती है और जैसे वे रत्न डोरे में पिरोकर व्यवस्थित रूप से ग्रथित हो जाने पर रत्नावली हार कहलाते है, वैसे ही यदि ये सव दृष्टियाँ परस्पर सुश्लिष्ट होकर, अर्थ को व्यवस्थित ढंग से व्यक्त करती हैं तो ये सभी सार्थक होकर, सम्यग्दर्शन कहला

सकती है। अर्थात् सभी दृष्टियाँ परस्पर सुसमन्वित हो, तभी धर्म का सही स्वरूप ज्ञात हो सकता है।'

४३. सामायिक जाने है (कवित्त)

पेली नयवालो सामायिक माने भाव हुए,
दूजो लिंग धारे से यों सामायिक माने है;
तीजो त्याग कियां माने, आदि-अन्त चौथो माने,
पाँचवों क्षायिक भाव सामायिक जाने है।
केवलज्ञानी की शुद्ध, छट्ठो माने सामायिक,
सातवों सामाई शुद्ध सिद्धां की बखाने है;
कहे 'सूर्य मुनि' सत्य सातों नय सामायिक,
एक-एक पक्ष ताने मिथ्यामत आने है ।।४४।।

विबुधमुनि समता के सागर थे। उनके शिष्य भी प्रबुद्ध थे। विबुधमुनि और उनका शिष्य-समुदाय साधना-प्रधान दृष्टि वाले थे। अत. वे अति जन-संसर्ग से युक्त प्रवृत्तियो से दूर ही रहते थे। वे प्रवचन आदि यश-प्रदान करने वाली सामूहिक धार्मिक प्रवृत्तियो मे भी निर्लिप्त रहते थे। कोई आते तो उन्हे तत्वबोध देते। उन्हे सख्या का मोह नही था। अभी वे जिस नगर मे आये थे, वहाँ कुछ सामाजिक बातों को लेकर, आगेवानो ने धर्मसघ मे भी अवरोध पैदा कर रखा था। इसलिये विबुधमुनि ने नही चाहते हुए भी आज प्रवचन मे कुछ खरी-खरी और कठोर बाते सुना दी। जिससे लोगो मे खलबली मच गई और आगेवानो की आँखे खुल गई। नवयुवक भी व्याख्यान में थे। वे विबुधमुनि की ओर आकर्षित हुए।

उस दिन दोपहर मे कुछ कॉलेजियन लडके आ गये। उन्होने नमस्ते करने की शैली में मुनि को हाथ जोडे और वे उनके सामने बैठ गये। मुनि ने तीव्र दृष्टि से उन्हे देखा। उन्हें लगा कि ये कुछ जिज्ञासु है।

परन्तु अपने कुल के सस्कारो को भूले हुए है। एक नवयुवक बोला–'आज आपने अच्छे प्रवचन दिये। बुड्ढो की अच्छी धूल झटकी।' मुनि ने सहज मुसकान से उत्तर दिया–'हाँ, भाई! धूल झटकने तो निकले है। अपनी धूल तो झटक ही रहे है और कोई बुड्ढे हो या जवान, हमारे यहाँ इस बात मे भेद नही है, समय हो तो उनकी धूल भी झटकार देते है।'

उनकी बात सुनकर नवयुवक चमके। मुनि ने उन्हे अनायास ही पूछ लिया–'भाई! तुम्हे नमोक्कार मत्र और सामायिक पाठ तो आते होगे?' यह प्रश्न सुनकर लम्बे घुँघराले बालोवाला अत्यधिक आधुनिक नवयुवक मुह बनाता हुआ बोला–'आज आपने बुड्ढों की धूल झटकी, इसलिये हमने समझा कि आप नई विचारधारा के मुनि है। परन्तु आपके प्रश्न से पता लगता है कि अभी आप रूढिवाद से मुक्त नही हो सके है!' मुनि ने उस नवयुवक पर प्रश्न सूचक दृष्टि डाली। वह बोल रहा था–'माला फेरना, सामायिक करना आदि रूढिवाद ही है, नही तो क्या?' मुनि के मुखकमल पर मंद स्मित थिरक उठा। उन्होने मधुर स्वर से कहा–'देवानुप्रिय! मै स्वय मुखवस्त्रिका और रजोहरण धारण किये हुए हूँ। फिर तुमने, तुम्हारी दृष्टि मे जो रूढिवाद है, उससे मुक्त मुझे कैसे समझ लिया? जब तुमने मुझे धूल झटकनेवाला समझा है, तब समझलो कि अब तुम्हारी धूल भी झटकने की बारी आ गई है। मै तुमसे पूछता हूँ कि भगवत्स्मरण और साधना रूढिवाद कैसे है?' नवयुवक बगले झाँकने लगा। परन्तु मुनि की ओज भरी वाणी ने उसे उत्तर देने के लिये विवश कर दिया। वह सम्हलकर बोला–'महाराज! रूढिवाद से मेरा मतलब है कि मुह बाँधने से, पाठ बोलने से या माला

फेरने से ही क्या सामायिक की साधना होती है ? पहले एक मुनि जी आये थे, वे कहते थे कि इन सब मे सामायिक नही है । सामायिक तो समताभाव मे है । इसलिये मैंने तो यह समझा है कि सामायिक करने के भाव हुए कि सामायिक हो गई ।' दूसरा नवयुवक, जो धार्मिक बातों का कुछ जानकार था, बोल पडा—'वाह भाई ! अच्छी सुनाई, तुमने भी ! लड्डू खाने का मन हुआ कि बस लड्डू खा लिये गये । पर पेट तो भरा ही नही । सामायिक आदि धर्मक्रिया करने के लिये तो उस साधना के अनुकूल वस्त्र धारण करना ही चाहिये । क्योकि सामायिक तो समताभाव की साधना है । अतः तदनुरूप वेश के बिना सामायिक कैसे हो सकती है । यदि वेश से क्या होना-जाना है—यह कहते हो तो हम अमुक ढंग के ही आधुनिक वस्त्र पहनने के लिये क्यों लालायित रहते है ?'

मुनि ने कहा—'लो, तुम मित्रो में ही मतभेद खडा हो गया ! पर कोई बात नही । तुम दोनो ने सामायिक के विषय मे दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है । ये दोनो दृष्टियाँ नई नही है । इस विषय मे पाँच दृष्टियाँ और है, सो तुम्हें बतला देता हूँ ।'

तीसरी दृष्टि—'वेश धारण करने मात्र से सामायिक नही हो सकती है । जहाँ तक विधिपूर्वक प्रतिज्ञा पाठ से सामायिक की प्रतिज्ञा नही ली जाती है वहाँ तक सामायिक नही हो सकती है । इसलिये सामायिक के लिये सामायिक पाठ से प्रतिज्ञा-ग्रहण करना आवश्यक है ।'

चौथी दृष्टि—'प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने मात्र से सामायिक नही हो सकती । उस प्रतिज्ञा के अनुसार ही साधना के क्षणो में भाव बनाये रखना ही सामायिक हैं' ।

पाँचवी दृष्टि—'प्रतिज्ञा के अनुसार मन, वचन और काया को रखने मात्र से ही सामायिक नही हो सकती है और न वैसे भावों से भी सामायिक हो सकती है। वस्तुतः क्षायिक भाव—कर्मो का क्षय करनेवाला भाव ही सामायिक है।'

छट्ठी दृष्टि—'ये साधनारूप भाव है। इनमें तो कुछ अशुद्धि विद्यमान रहती है। अत. इन भावों को सामायिक नही कहा जा सकता है। जिनके मोह की कालिमा बिलकुल नष्ट हो जाती है और केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनके शुद्ध परिणाम ही सामायिक है।'

सातवी दृष्टि—'केवलज्ञानी के जब तक योग-मन आदि की प्रवृत्ति रहती है, तब तक उन्हे कर्मबन्ध होता रहता है। जहाँ कर्मबन्ध होता है, वहाँ सामायिक कैसे हो सकती है? अत. जिस आत्मा के योग-प्रवृत्ति रुक जाती है, कर्मों का अशमात्र भी ग्रहण नही होता है और तत्काल ही साध्य की सिद्धि होनेवाली है या जिनका साध्य सिद्ध हो गया है, उस आत्मा के शुद्ध परिणाम ही सामायिक है।'

'बोलो, इन सातो दृष्टियो मे तुम किस दृष्टि को सही और किस दृष्टि को गलत मानते हो?'

मुनिराज के प्रश्न का उत्तर देते हुए पहला नवयुवक विनम्रता से बोला—'महाराज! हमे इतनी समझ तो नही है। पर आपकी बात से इतना समझा हूँ कि उत्तरोत्तर शुद्ध दृष्टियाँ है।' दूसरा नवयुवक उस बात को आगे बढाते हुए बोला—'इससे यह बात प्रतीत होती है कि अन्तिम दृष्टि साध्य है और अन्य दृष्टियाँ साधन है। इसलिये कोई भी दृष्टि गलत नही है।' मुनि महात्मा ने कहा—'तुम बहुत कुछ ठीक समझे हो। यदि प्रत्येक दृष्टिवाला अपनी-अपनी ही

वात तानता रहता है तो उसका मत मिथ्या हो जाता है। अत. सातों नय सत्य हैं—यदि वे अपनी-अपनी मर्यादा मे रहते हैं।'

युवको को लगा कि वे ज्ञान के सागर के किनारे बैठे है। उनका हृदय भक्ति से गद्‌गद् हो गया और वे श्रद्धा से नत-मस्तक हो गये।

संक्षेप में नय विभाजन

ऋषभदासजी—'यह नय-विचार पूरा होता है।' प्रवीण—'नानाजी! एक वार हमने व्याख्यान मे सुना था कि नय दो हैं। पर आपने तो नय सात वतलाये है। यह मतभेद कैसे है?' 'बेटा! भगवान ने संक्षेप रूप से दो नय भी कहे हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

अभेद-मूलक, भेद युत, क्रम से दो नय जान।
गहे द्रव्य पर्याय को, युग-त्रि या त्रि-युग छान॥

जो दृष्टि अभेद-मूलक होती है और द्रव्य को ग्रहण करती है, उसे द्रव्यार्थिक नय और जो दृष्टि भेदमूलक है और पर्यायो को ग्रहण करती है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। सातो नयो को इन दो नयो मे गर्भित कर लिया जाता है। एक परम्परा क्रमशः चार नयो को द्रव्यार्थिक नय के और तीन नयो को पर्यायार्थिक नय के भेद मानती है और दूसरी परम्परा दोनो नयो के क्रमश तीन और चार भेद मानती है।

शब्द और अर्थ की दृष्टि से भी नयो को दो भेदो मे गर्भित किया गया है—

मुख्य शब्द या अर्थ को, मानें कभी विचार।
शब्द-अर्थनय प्रभु कहे, भेद तीन अरु चार॥

कभी विचार शब्द की प्रधानता मान्य करता है तो कभी अर्थ की। अर्थनय के क्रमशः चार भेद है और शेष तीन शब्दनय के भेद हैं।

नय के और भी दो भेद बतलाये हैं –

निमित्त बिन निजरूप ही, करे निश्चय स्वीकार।
पर से वस्तु-स्वरूप को, ग्रहण करे व्यवहार ॥

निमित्त कारण की महत्ता को न मानते हुए निश्चय नय वस्तु-स्वरूप को स्वीकार करता है। परन्तु व्यवहार नय पर के निमित्त से युक्त वस्तु-स्वरूप को ग्रहण करता है। जैसे निश्चय नय की दृष्टि में द्वार विवर या आकाश है और व्यवहार नय की दृष्टि में द्वार लकड़ी का है। वस्तुतः दोनों नय मिल कर ही द्वार का सही बोध कराते हैं।

निश्चय और व्यवहार नय की दूसरी परिभाषा इस प्रकार है–

सूक्ष्म-स्थूल दो दृष्टियाँ, निश्चय अरु व्यवहार।
साक्षी छट्ठे अंग की, मत करिये तकरार ॥

किसी पदार्थ के विषय में स्थूल दृष्टि से जो प्रतिपादन किया जाता है, वह व्यवहार नय है और जो सूक्ष्म दृष्टि से प्रतिपादन किया जाता है, वह निश्चय नय है। दोनों ही दृष्टियाँ जिनेश्वर देवों ने बतलाई है। अपने-अपने स्थान पर दोनो दृष्टियाँ का महत्त्व है। इसलिये इनमें किसी पक्ष को तानकर उलझो मत। जैसे व्यवहार नय से भौंरा काला है और निश्चयनय से उसमें पाँचों वर्ण पाये जाते है। किसी-किसी के अभिप्रायानुसार द्रव्यार्थिक दृष्टि निश्चयनय और पर्यायार्थिक दृष्टि व्यवहारनय है।

ज्ञाननय और क्रियानय—नय के ये दो भेद भी है—

कहे ज्ञानपथ ज्ञाननय, क्रिया क्रियानय ज्येष्ठ ।
ज्ञान-क्रियामय मुक्तिपथ, कहे जिनेश्वर श्रेष्ठ ।।

ज्ञाननय ज्ञान को ही महान् कहता है और क्रियानय क्रिया को ही । परन्तु जिनेश्वरदेव ज्ञान और क्रिया से युक्त मोक्षमार्ग बतलाते है और उसे श्रेष्ठ कहते है ।

अनेकान्तवाद

'नय के विषय में वहुत कुछ वताया जा चुका है । नयवाद के द्वारा ही अनेकान्तवाद का प्रतिपादन होता है । दो विरोधी धर्मों को पदार्थ में व्यवस्थित रीति से घटित करना अनेकान्तवाद है । जैसे एक पुरुष पुत्र भी है और पिता भी । ये दोनों उसमे एक साथ रह सकते है । वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है तो अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता । इसी प्रकार पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी । इस वात को समझने के लिये नय का अवलम्वन लेना होगा । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य । जैसे—जीव जीवद्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और नर, नारकादि पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य है । वस्तुत: द्रव्य का लक्षण ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है और ये तीनो ही भाव पदार्थ मे एक ही समय मे घटित होते है—

ण भव-विहीणो भंगो, भंगो वा णत्थि संभव-विहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ।।

उत्पत्ति नाश के विना नही होती है और न नाश विना उत्पत्ति के होता है तथा उत्पत्ति और नाश भी ध्रौव्य के विना नही हो सकता है ।

इस प्रकार अनेकान्तवाद से विरोधी धर्मों के विरोध का परिहार हो जाता है।

स्याद्वाद

एक ही पदार्थ या धर्म के अस्तित्वादि विषय मे विविध विकल्पों से वात कहना स्याद्वाद है। एक पदार्थ या एक धर्म के विषय मे सात प्रकार की जिज्ञासा होती है। अतः उनके विपय मे सात प्रकार के प्रश्न और सात प्रकार के उत्तर होते है–

है, नहि, उभय, अनिर्वचन, क्रम से स-त्रि चतुर्थ।
पर-मत-सम्मत, दृढ स्व में, मत स्याद्वाद समर्थ॥

पदार्थ है, नही है, है-नही है, अवक्तव्य है। ये चार भग हुए। क्रम से तीन भगो के साथ अवक्तव्य पद को जोड़ देने से शेष तीन भग वनते है अर्थात् पदार्थ है अवक्तव्य, नही है अवक्तव्य, है-नही है-अवक्तव्य। ये कुल सात भग हुए। इसी को सप्तभगी कहते है। प्रत्येक भंग मे लगने वाला स्यात् पद दूसरे भगो के आशय से उसे अविरोधी वनाता है और एव=ही पद उसके आशय मे दृढ। यह स्याद्वाद वहुत ही समर्थ वाद है।

इस वाद को निम्नलिखित रूप से घटाया जा सकता है–(१) गुलावचदजी गुलावचदजी के रूप मे ही है, (२) वे सोहनलालजी आदि के रूप मे नही है, (३) गुलावचंदजी गुलावचदजी है–सोहनलालजी आदि नही, (४) इन दोनो वातो को एक शव्द से अभिव्यक्त नही किया जा सकता है, (५) गुलावचदजी है, पर अवक्तव्य है, (६) गुलावचदजी नही है, पर अववतव्य है, और (७) गुलावचदजी गुलावचंदजी है, सोहनलालजी आदि नही है, पर एक शव्द से अवक्तव्य है।

इसी प्रकार जीवादि तत्त्वों के विषय मे घटाया जाता है। जैसे (१) जीव–द्रव्यतः जीव है, क्षेत्रतः लोक मे है, कालतः तीनों काल मे है और भावतः जीव का लक्षण चेतना-उपयोग है, नर नारकादि गति जीव की अशुद्ध पर्याय है और सिद्ध गति शुद्ध पर्याय है आदि। (२) अजीव जीव नही है, अलोक मे जीव नही है; तीनों काल में अजीव जीव नही होता है और वर्णादि जीव के लक्षण नही है, शरीर, कर्म आदि जीव की पर्याय नही है आदि। इसी प्रकार अन्य भग की संयोजना भी समझ लेना चाहिये। सामान्य और विशेष गुणो के विषय मे भी सप्तभगी की योजना की जाती है।'

नयादि वादों का उपयोग

प्रमोद–'नानाजी! नय आदि को जानने से दिमागी कसरत तो होती है, पर इनसे लाभ क्या है?' ऋषभदासजी ने कहा–'बेटा! कुछ भी विचार करो, उसमे बुद्धि को तो कार्य करना ही पडेगा। फिर उसे 'कसरत' या किसी भी सज्ञा से पुकारो और कसरत भी कोई बुरी नही है। जैसे कसरत से शरीर मे कसावट आती है। इसी प्रकार बौद्धिक व्यायाम से बुद्धि मे भी कसावट आएगी यह क्या कम लाभ है। पर, यह बात पहले बताई जा चुकी है कि नयादि का प्रयोग वस्तु के सही स्वरूप को जानने के लिए और सही रूप से बतलाने के लिए होता है अर्थात् यह सत्य का अन्वेषण और सत्य की साधना है–

विविध भंग कर वचन के, जाने वस्तु-स्वरूप।
सच की है आराधना, विभज्य वाद अनूप॥

प्रमाण, नय आदि के प्रयोग के विना आत्म-परिणति और पर-परिणति का सही ज्ञान नही हो सकता है और उत्तम ढंग से आत्म-ध्यान भी नही किया जा सकता है। आचार्य देव श्री माधवमुनिजी म. ने फरमाया है–

विना नय-न्याय के जाने, स्व-पर-परिणति न पहिचाने ।
निजातम रूप का जोलौं, ध्यान ध्याना न मुमकिन है ।।

—स्तवन-तरंगिणी २३/५

जिस प्रकार किसी की मूर्ति बनाने के लिए, उसके स्वरूप का पूर्णत: बोध होना चाहिए । इसी प्रकार ध्यान रूपी छैनी का, परमात्म-दशा की प्राप्ति के हेतु, प्रयोग करने लिए, नयादि के द्वारा आत्म-स्वरूप का विशुद्ध बोध प्राप्त कर लेना चाहिये ।'

१२.

अर्थ की खोज

अर्थ बोध का साधन

विभिन्न ध्वनियो को वर्ण या अक्षर कहते है । अक्षरो का समूह अर्थात् दो, तीन आदि वर्णों का सम्मिलित उच्चारण शब्द कहलाता है और शब्दो मे मिलकर वाक्य बनता है । पहले मनुष्य शब्दो को ही सीखता है और एक-एक, दो-दो शब्दो को बोलकर, वह अर्थ को अभिव्यक्त करता है । फिर वह क्रमश: वाक्य बनाना सीखता है। अत: अर्थज्ञान और आशय की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन शब्द है । शब्दो में भी नाम (सज्ञा) शब्द प्रधान है । एक-एक नाम शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । इसलिए प्रसगानुसार सही अर्थ को जानना आवश्यक है । सही अर्थ जानने पर ही शब्द के माध्यम से अर्थ बोध हो सकता है । इसलिए इस बात को बतलाने के लिए, तीसरे वर्ग के तीसरे अध्याय मे 'अर्थ की खोज' विषय आया है ।

निक्षेप

एक ही शब्द के प्रसगानुसार अनेक अर्थ हो जाते है। उन अर्थो को जानकर, सही अर्थ को जानने की विधि को जैन शास्त्रकारों ने निक्षेप संज्ञा दी है। एक शब्द के निक्षेपो की संख्या वक्ता की कुशलता पर निर्भर है। परन्तु व्याख्याता अधिक निक्षेप नही कर पाये तो कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य करने ही चाहिये। जैसे–

जत्थ उ जं जाणेज्जा, णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं।
जत्थ वि य ण जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ॥

जहाँ जितने भी निक्षेप जानते हो, वहाँ उतने अर्थात् सभी निक्षेप करे और यदि नही जानते हो तो वहाँ चार निक्षेप अवश्य करे।

चार निक्षेप इस प्रकार है–१ नाम, २ स्थापना, ३. द्रव्य, और ४. भाव। वस्तु के चार अंश होते है–नाम, आकृति, भूत-भावी अवस्था और वर्तमान अवस्था। पदार्थ की वर्तमान अवस्था, आकृति और नाम भाव-निक्षेप ही है। उसके नाम और आकृति का अन्यत्र आरोपण करना, क्रमशः नाम और स्थापना निक्षेप है। पदार्थ की तद्रूप परिणत होने की पूर्वावस्था और उत्तरावस्था द्रव्य निक्षेप है अर्थात् एक संज्ञा का किसी के नाम, मूर्ति, फोटू आदि, पदार्थ की उस अवस्था से पूर्व की और पश्चात् काल की अवस्था और साक्षात् पदार्थ के लिए प्रयोग हो सकता है या होता है। इसके सिवाय कोई उस पदार्थ का उपयोग-शून्यता अर्थात् उस पदार्थ मे चित्त लगाये विना ही, नाम कथन कर रहा हो, तो वह भी द्रव्य निक्षेप है और उस पदार्थ मे चित्त लगाकर कथन कर रहा हो, तो वह भी भाव-निक्षेप है। इस प्रकार शब्दार्थ को जानकर, प्रसंगोचित अर्थ को ग्रहण करना चाहिये।

इस बात को समझने के लिये उदाहरण—जैसे फूलचन्द या फूल-निवास के लिये प्रयुक्त फूल शब्द नाम निक्षेप को, फूल के चित्र, शिल्प, लिखे हुए फूल शब्द आदि के लिए प्रयुक्त फूल शब्द स्थापना निक्षेप को, किसी के उपयोग शून्यता से बोले जाने वाले, फूल की कली, फूल की बिखरी हुई पखुरियों आदि के लिए प्रयुक्त फूल शब्द द्रव्यनिक्षेप को उपयोग पूर्वक बोले जाने वाला फूल शब्द तथा खिले हुए फूल के लिये प्रयुक्त फूल शब्द भावनिक्षेप को सूचित करता है।

इन निक्षेपो के विषय मे जैन धर्म मे दो परम्पराए है। एक परम्परा पूज्य के चारो निक्षेपो को और एक परम्परा मात्र भाव-निक्षेप को पूज्य मानती है। इन परम्पराओं को क्रमशः मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक कहते है। श्वेताम्बरो मे मदिरमार्गी (देरावासी) और दिगम्बरो मे बीसपथी एव तेरापथी मूर्तिपूजक है और श्वेताम्बरो मे स्थानकवासी (साधुमार्गी) और तेरापथी तथा दिगम्बरो मे तारणपथी अमूर्तिपूजक है।

मूर्तिस्थापना निक्षेप मे है। इसलिये गुरुदेव ने स्थापना-निक्षेप के विषय मे ही दृष्टान्त दिया है।

४४. जड़-चेतन में भेद यों

(कवित्त)

दोय पुत्र छोड़ एक वैद्यराज मरे, तब—
ज्येष्ठ पुत्र पूजे पिता-मूरत बनाई है,
पिता की पुस्तकें छोटा पुत्र पढ़ दवा देत,
एक रोगी बड़े भ्रात पास जा सुनाई है।
'प्रार्थना मूर्ति से करो, तासे रोग नष्ट होगा
रोगी करी स्तुति पर, अफल जनाई है;

दवा दीनी दूजे पुत्र, तासे रोग दूर हुआ,
'सूर्य' जड़-चेतन में भेद यों दिखाई है ।।४५।।

एक वैद्यराज थे। वे सफल चिकित्सक होने से वहुत दूर तक प्रसिद्ध थे। वे सिर्फ औषधियाँ ही नही देते थे। परन्तु अपने अनुभवो को लिपिवद्ध भी करते जाते थे। उन्होने जीवन भर मे अनेको साधारण और अति भयंकर रोगो की चिकित्सा की थी। उन्होने ऐसे-ऐसे रोगो और उनके उपचारो के अनुभवो को व्यवस्थित रूप से लिपिवद्ध किया था कि जिनका वर्णन किसी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता था। इसलिये वे आयुर्वेद ज्ञान के जीवित कोष के रूप मे प्रख्यात हो गये थे।

वैद्य हो या कोई भी हो, शरीर के शाश्वत धर्म को कोई नही मिटा सकता है। जैसे जन्म देह का धर्म है, वैसे ही मृत्यु भी उसका धर्म है। अतः मृत्यु किसकी टली है, भला! वैद्यजी के भी जाने के दिन आये। वे कुछ दिन बीमार रहे और एक दिन इस ससार से चल वसे। उनके दो पुत्र थे। परन्तु वैद्यजी उन्हे अपना ज्ञान नही दे सके थे। इसलिये पुत्र आर्तभाव से यही सोच रहे थे कि अब हमारा क्या होगा?

वैद्यजी के अतिम संस्कार मे लोग उमड पडे थे। लोगो की आँखो में आँसू भरे हुए थे। वे वैद्यजी के गुणो का स्मरण कर रहे थे। अतिम सस्कार करने के वाद भी सवेदना प्रकट करने के लिये आने वालो का ताँता लगा ही रहा था। लोग वैद्यजी की खूव प्रशसा करते थे। कोई कहता—'वैद्यजी जैसा वर्तमान मे कोई नही है।' दूसरा कहता—'अरे! वर्तमान की क्या कहते हो! वहुत लम्बे काल मे ऐसे सिद्धहस्त वैद्य हुआ करते है।' तीसरा कहता—'हाँ, भाई! यह तो अपना सद्भाग्य है कि वैद्यराजजी अपने समय में हुए!' उस समय एक व्यक्ति भावावेश में वोला—'अरे भाई! क्या कहते हो। वैद्यजी तो भगवान धन्वन्तरी के अवतार थे। यदि कोई उनकी प्रतिमा वनाकर पूजे तो भी कम है।

उनका महान उपकार है हम पर ।' कोई व्यक्ति वैद्यपुत्रो को सलाह देता–'मै एक बात आपसे कहूँ ! आप उसे मानेगे तो लोगो का बहुत उपकार होगा । वैद्यजी अपने अनुभवों को लिखा करते थे । वे पोथियाँ तो आपके पास होगी ही । इस क्षेत्र के लिये उनके अनुभव सहायक सिद्ध हो सकते है । इसलिए आप उन पुस्तको के माध्यम से चिकित्सा करेगे तो आपको सफलता मिलेगी । फिर आपका अपना अनुभव भी बढता जाएगा ।'

लोगों का आना-जाना बद हुआ । वैद्यपुत्रो का 'क्या करे क्या न करे ?' इस विचार मे ही कुछ समय बीत गया । एक दिन बडे भाई के हृदय मे विचार आया कि लोग कहते थे–पिताजी धन्वन्तरी के अवतार थे । अहा ! पिताजी देवांशी थे । उनकी प्रतिमा बनवाकर, उसकी पूजा करनी चाहिये । तभी मै उऋण हो सकूँगा । उसने वैसा ही किया । वैद्यजी की एक सुन्दर प्रतिमा बनवाकर, उसने अपने घर के एक कमरे मे स्थापित कर दी और पूजा पाठ प्रारंभ कर दिया ।

दूसरे पुत्र ने पिता के अनुभव से लाभ उठाने का विचार किया । उसने बड़ी सावधानी से वैद्यजी की पुस्तको का अध्ययन प्रारंभ किया । वह लोगों का उपचार भी करने लगा । कई लोग लाभ उठाने लगे । वह अध्ययन, पिता के अनुभवो के बुद्धिपूर्वक प्रयोग और स्वय के अनुभव से कुछ ही दिनों मे प्रसिद्ध वैद्यो की पंक्ति मे आ गया ।

वैद्यजी के एक मित्र थे वे काफी वृद्ध हो गए थे । फिर भी उनका शरीर स्वस्थ था । एक बार उनके छोटे पुत्र को कोई रोग हो गया । वे उपचार कराने हेतु वैद्य पुत्रों के पास आये । उन्होने सोचा कि बड़ा पुत्र ही श्रेष्ठ उत्तराधिकारी होता है । इसलिये वे वैद्यजी के बडे पुत्र के पास आये । उन्होने उसे अपने पुत्र का उपचार करने के लिये कहा । वैद्यजी के ज्येष्ठ पुत्र ने कहा–'देखो काकाजी ! यह मेरे पिताजी

की प्रतिमा है। इसकी आप पूजा करो सब कुछ ठीक हो जाएगा !' वैद्यमित्र को इस चिकित्सा पद्धति से आश्चर्य हुआ। परन्तु उन्होंने वैद्यपुत्र के कहे अनुसार कई दिनों तक पूजापाठ किया और करवाया परन्तु कुछ भी लाभ नही हुआ। उल्टा उपचार के अभाव में उनके पुत्र का रोग और भी वढ़ गया।

वैद्यमित्र घवरा गये। वे अपने पुत्र को वैद्यजी के छोटे पुत्र के पास ले गये और उसके समुचित उपचार से रोग क्रमशः दूर हो गया।

स्थापना और भाव निक्षेप का अन्तर

'कई मनुष्य भगवान से भी भगवान की प्रतिमा को वढ़कर मानते हैं। उन्हें इस दृष्टान्त से उत्तर दिया गया है और साथ ही आगम-प्रमाण की महत्ता बतलाई गई है।' मृदुला—'नानाजी! शास्त्र पुस्तको मे लिपिवद्ध हे। लिपि भी तो स्थापना निक्षेप है?' 'हाँ, बेटी! लिखित शास्त्र स्थापना निक्षेप है। तो तुम यह कहना चाहती हो कि दोनो ने स्थापना निक्षेप से ही लाभ उठाया?' 'हाँ, नानाजी!' 'बेटा! स्थापना निक्षेप का उपयोग दूसरे ने भी किया। परन्तु उसने पोथी का पूजा पाठ नही किया। हाँ, उसे पढकर उससे लाभ उठाया। जिससे वह भाव वैद्य वन गया। यदि वह उन शास्त्रो की पूजा ही करता रहता तो वह भी जिन्दगी भर तक अज्ञानी बना रहता और वह भाव वैद्य नही बन सकता। वस्तुतः स्थापना निक्षेप जड़ है। वैद्यजी की प्रतिमा की पूजा दु खहारी नही वनी। परन्तु वैद्य की चिकित्सा ही दुःखहारी हुई। इसी प्रकार भगवान की प्रतिमा की महिमा कदापि भगवान से अधिक नही हो सकती और न उसकी पूजा भवतारिणी वन सकती है। किसी बहिन के घर मे उसके पति की मृत्यु के वाद, उसके पति की मूर्ति और फोटू के रहने पर भी वह सधवा नही कहला सकती है। इन वातों से स्थापना और भाव निक्षेप का अन्तर सहज मे ही समझ में आ सकता है।'

पूज्यता अपूज्यता का कारण

मृदुला–'नानाजी ! मेरे एक भुआजी है। वे मंदिर मार्गी है। वे कहते थे कि किसी पापी का फोटू देखने से मन मे घृणा होती है और भगवान की प्रतिमा देखने से अच्छे भाव आते है। इसलिए पापी का फोटू पूजने योग्य नही होता है और भगवान की प्रतिमा-फोटू पूजने योग्य होते है। भगवान की पूजा से अपने भाव अच्छे होते है। यह वात क्या ठीक है, नानाजी ?' 'वत्से ! मै तुमसे पूछता हूँ कि क्या किसी को किसी पदार्थ के अच्छे या वुरे लगने से, उसे शुभ या अशुभ अथवा अच्छा या बुरा माना जाता है या अन्य कोई कारण से ?' 'पदार्थ का अच्छा-बुरापन तो पदार्थ मे प्रकट गुण-दुर्गुण पर निर्भर है।' 'इसी प्रकार यह वात भी समझ लेना चाहिए कि किसी के शुभ या अशुभ भाव मे कारण होने से कोई पदार्थ पूज्य या अपूज्य नही वन जाता है। क्योकि शुभ भाव के हेतु अशुभ भाव के और अशुभ भाव के हेतु शुभ भाव के हेतु वन जाते है–

अशुभ भाव के हेतु सब, नहि होते है हीन।
पाकर जिनवर योग भी 'अणु' डूबे है दीन ।।

श्रेष्ठ भाव के हेतु सब, होते है न महान।
कंकण-वादल-चोर लख, कई वने गुणवान ।।

भाव शुभा शुभ हेतु सब, नियत नहीं है एक।
आस्रव-संवर हेतु सम, यह जिनवाणी टेक ।।

जिनेश्वर देव के वचन है कि आश्रव के हेतु संवर के और संवर के हेतु आश्रव के हेतु वन जाते है। इसलिये वंदना और पूजा का वास्तविक कारण वंद्य में आविर्भूत गुण है। यदि गुणों का प्रकाश न हुआ हो, तो मनुष्य तीर्थंकर भगवान को, तीर्थंकर के भव में भी उनको

पूजते नही हैं। और तो और पर उनके माता-पिता के चरणो मे वे प्रणाम करते है। परन्तु उनके माता-पिता स्वप्न-फल से उनसे किंचित् परिचित होने पर भी उन्हे वन्दना-नमस्कार नही करते है। इसलिये पूज्यता का कारण गुणों का आविर्भाव-सवर भाव है—

कुमति-सुमति में हेतुता, है न पूज्यता हेतु ।
वंदन-पूजन योग्य वे, जो गुण-गौरव-केतु ।।
हेतु पिता हो पुत्र के हर्ष-शोक के मांय।
पूज्य अपूज्य न हो कभी, 'अणु' यह कारण पाय ।।

'तुम्हे मालूम होगा कि ये लोग अप्रतिष्ठित मूर्ति को अपूज्य मानते है ?' 'हाँ, ऐसा सुना तो है।' 'तो क्या अप्रतिष्ठित मूर्ति को देख कर शुभ भाव पैदा नही हो सकते है ?' 'हो सकते है।' 'इससे यह सिद्ध होता है कि इनके द्वारा प्रदत्त हेतु इन्हे मान्य नही है—

'अणु' शुभ भाव-निमित्त कह, मानी प्रतिमा पूज्य ।
अप्रतिष्ठित प्रतिमा भला, होती क्यों नहीं पूज्य ?

प्रतिमा माध्यम है ?

मृदुला—'नानाजी ! उनका यह कहना है कि हम प्रतिमा के माध्यम से भगवान जिनेश्वर देव की ही पूजा करते है—प्रतिमा की नहीं।' मृदुला ! उनका यह कहना सही प्रतीत नही होता है। क्योकि वे प्रतिमा के चमत्कार की वाते करते है । अपने गाँव की प्रतिमा की छोडकर, अन्यत्र यात्रा करने जाते है। जो क्रियाएँ जिनेश्वर के लिये नही की जा सकती है, वे प्रतिमा के लिये की जाती है। ये सब वाते क्या सूचित करती है—

कहते-मूर्ति निमित्त से, पूजें हम जिनदेव ।
ग्राम-मूर्ति को छोड़कर, फिर क्यों जाय धुलेव ।।

दूसरी बात, वे जिस समय मूर्ति की ओर ध्यान देंगे, उस समय प्रतिमा की ओर ध्यान नही रहेगा । इस प्रकार प्रतिमा के माध्यम का औचित्य सिद्ध नहीं होता है ।'

स्थापना-सत्य

मृदुला–'वे यह भी कहते है कि भगवान ने स्थापना-सत्य को माना है और हम इस बात की अवहेलना करते है–यह सत्य है क्या ?' 'नही, यह बात सत्य नही है । जैसे हम लिपि के क को क और अ को अ मानते है, वैसे ही हम मूर्ति को मूर्ति मानते हैं–उसे साक्षात् प्रभु नही मानते है ।

मर्म स्थापना सत्य का, गहराई से लेख ।
कौन दूहता है भला, पाहन गैया देख ।।

जैसे पत्थर की गाय को गाय जरूर कहा जाता है । परन्तु कोई उसे दूहता नही है । तो क्या वह पत्थर की गाय मे गाय का बोध होना नही मानता है ? इसी प्रकार प्रतिमा के विषय में भी समझना चाहिये । पत्थर की गाय को नही दूहनेवाले को कोई असत्यवादी नही मानता है । तो भला प्रतिमा की पूजा नही करनेवाला असत्य का आराधक कैसे कहा जाएगा ?

नाम-जप नाम-निक्षेप है ?

प्रवीण–'नानाजी ! भुआजिया भी कहती थी कि तुम प्रतिमा को नही पूजते हो तो भगवान का नाम क्यों जपते हो ?' 'बेटा ! भगवान के नाम का स्मरण या जप नाम निक्षेप नही है । क्योकि वह भगवान के नामधारी किसी व्यक्ति का स्मरण नही है । किन्तु भगवान के नाम का जप है । इसलिये भगवान के स्वरूप को स्मरण

करते हुए जो नाम जप किया जाता है, वह आगम से भाव निक्षेप है और यदि स्वरूप-स्मरण में उपयोग नही हो तो वह आगम से द्रव्य निक्षेप है। पर वह द्रव्य-निक्षेप की पूजा तो नही है। इसी प्रकार भगवत्-स्मरण या ध्यान करते हुए, मन में जो आकार उभरता है, वह भी स्थापना निक्षेप नही है। किन्तु वह आगम से भाव-निक्षेप है। ये तर्क मात्र स्वमताभिनिवेश से उत्पन्न हुए है।

९३.

ज्ञान का फल

ज्ञान के अनेकानेक फल बतलाये गये है। नीतिकारो ने समत्व, निर्भयता, आस्तिकता, धार्मिकता, पूज्यता आदि कई फलो का वर्णन किया है। जैसे—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि, यः पश्यति स पण्डितः॥

जो पर स्त्री को माता समान, पर द्रव्य ढेले के समान और सभी जीवो को स्व-आत्मा के समान देखते है, वे पण्डित है—ज्ञानी है।

शोक–स्थान–सहस्राणि, भयस्थान–शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ–माविशन्ति न पण्डितम्॥

मूढ प्रतिदिन हजारो शोक स्थानों और सैकड़ो भयस्थानो को प्राप्त करते है—पण्डित नही।

निषेवते प्रशस्तानि, निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान, एतत्पण्डित–लक्षणम्॥

दूसरी बात, वे जिस समय मूर्ति की ओर ध्यान देंगे, उस समय प्रतिमा की ओर ध्यान नही रहेगा । इस प्रकार प्रतिमा के माध्यम का औचित्य सिद्ध नही होता है ।'

स्थापना-सत्य

मृदुला–'वे यह भी कहते है कि भगवान ने स्थापना-सत्य को माना है और हम इस वात की अवहेलना करते है–यह सत्य है क्या ?' 'नही, यह वात सत्य नही है । जैसे हम लिपि के क को क और अ को अ मानते है, वैसे ही हम मूर्ति को मूर्ति मानते है–उसे साक्षात् प्रभु नही मानते है ।

मर्म स्थापना सत्य का, गहराई से लेख ।
कौन दूहता है भला, पाहन गैया देख ।।

जैसे पत्थर की गाय को गाय जरूर कहा जाता है । परन्तु कोई उसे दूहता नही है । तो क्या वह पत्थर की गाय से गाय का बोध होना नही मानता है ? इसी प्रकार प्रतिमा के विषय मे भी समझना चाहिये । पत्थर की गाय को नही दूहनेवाले को कोई असत्यवादी नही मानता है । तो भला प्रतिमा की पूजा नही करनेवाला असत्य का आराधक कैसे कहा जाएगा ?

नाम-जप नाम-निक्षेप है ?

प्रवीण–'नानाजी ! भुआजियां भी कहती थी कि तुम प्रतिमा को नही पूजते हो तो भगवान का नाम क्यों जपते हो ?' 'वेटा ! भगवान के नाम का स्मरण या जप नाम निक्षेप नही है । क्योंकि वह भगवान के नामधारी किसी व्यक्ति का स्मरण नही है । किन्तु भगवान के नाम का जप है । इसलिये भगवान के स्वरूप को स्मरण

नही है। वहाँ ज्ञान और क्रिया की गुण दृष्टि से वात वताई थी और यहाँ ज्ञान और क्रिया के स्वामी की वात वताई है। ज्ञान और क्रिया दोनो एक ही स्वामी मे आश्रित हैं। स्वामी ज्ञानानुसार क्रिया करने का इच्छुक है। परन्तु वह असमर्थ है। इसलिए यहाँ क्रिया को अंधे की क्रिया वताई है और ज्ञान को गति में असमर्थ प्रदीप के समान वताया है। पर ज्ञान सम्यक् क्रिया का विरोधी नही है और क्रिया सम्यग्ज्ञान का निषेध करने वाली नही है। यह सूचित करने के लिए ही यह रूपक गृहीत है। हाँ! इस दृष्टान्त को दूसरे रूप से भी घटाया जा सकता है। अन्धे के समान है–भावश्रुत से विहीन द्रव्यश्रुत का स्वामी। अथवा टकराने वाले सनेत्र व्यक्ति के समान सम्यग्श्रुत-विहीन वुद्धिमान व्यक्ति है। वे बुद्धि की मगरूरी में स्व-पर को जाने विना इधर-उधर उलझते रहते है बुद्धि-स्वातंत्र्य के नाम पर और अधे के समान द्रव्यश्रुत-प्राप्त मिथ्यात्वी या अभव्य जीव है, जो दूसरे को ज्ञान का प्रकाश दे सकता है, परन्तु स्वय उससे लाभ नही उठा सकता है। हाँ, उसे द्रव्यश्रुत का ऐहिक और पारलौकिक यत्किंचित् भौतिक लाभ अवश्य प्राप्त हो सकता है।'

गुरुदेव ने बुद्धि के साक्षात् फल तत्त्व-विवेक की ओर संकेत करते हुए कहा है–**ज्ञानदीप जास कर, सकल दिखाय के**–जिसके हाथ मे ज्ञान रूपी दीपक है, वह स्वय समस्त द्रव्यादि को जान सकता है और दूसरों को भी तत्त्व-बोध करवा सकता है।

(२) लज्जा

लज्जा के दो रूप है–अज्ञान-जनित और ज्ञान-जनित। अज्ञान-जनित लज्जा अप्रशस्त है। सद्धर्म की आराधना, गुरु की विनय-प्रतिपत्ति आदि में लज्जा आना अप्रशस्त लज्जा है और पापादि

की वात समझ मे नही आई । प्रशान्त ने पूछा—'इस लालटेन से आपकी सुरक्षा कैसे हो सकती है ?' 'बेटा ! अभी तुम नही समझे । कई लोग ऐसे होते है, जो आँख होते हुए भी अन्धे होते है। वे चलते हुए किसी से भी टकरा जाते है । पहले मेरे साथ ऐसी वात घटित हुई है। ऐसे लोग मेरे हाथ के लालटेन के प्रकाश से सावधान होकर मुझसे टकराते नही है। दूसरे लोग हिये के अन्धे होते है, जो किसी से जान बूझकर टकराकर, आनन्द मानते है। ऐसे लोग भी अव मुझसे नही टकरा सकते है । क्योकि उन्हे लालटेन से जल जाने का भय रहता है। अव तो मेरी वात समझ गये न !' 'हाँ ! वावा !'

अव्रती का ज्ञान

ऋषभदासजी—'जो अपने को प्राप्त ज्ञान के अनुसार चलने मे असमर्थ है, उसे यहाँ दीपक लेकर, चलनेवाले अन्धे के समान वताया गया है। उसे शास्त्रीय भाषा मे अव्रती समदृष्टि कहते है । जैसे अन्धे के हाथ का दीपक उसकी गति आदि क्रिया के लिये सहायक नही वनता है। वैसे ही अव्रती का ज्ञान उसके क्रियानुष्ठान को सम्यक् रूप से परिणत करने के लिये सहायक नही वनता है। परन्तु फिर भी अन्धे के हाथ का दीया उसकी सुरक्षा का हेतु वनता है, इसी प्रकार अव्रती का ज्ञान भी उसे नरक-तिर्यञ्च गति मे जाने से वचाता है। दूसरी वात, वह ससार में सहज ही दूसरे से टकराता नही है—उलझता नही है । उसे प्राप्त विवेक के कारण वह भयंकर पापो से और कष्टो से दूर ही रहता है ।'

मिथ्यात्वी का द्रव्य सम्यक् श्रुत

प्रवीण—'नानाजी ! आपने पहले ज्ञान को पगु और क्रिया को अधी वताया था। परन्तु यहाँ आपने ज्ञानवान को अधा और सक्रिय वताया है। यह विरोध क्यो ?' 'बेटा ! इस वात मे कुछ भी विरोध

नही है। वहाँ ज्ञान और क्रिया की गुण दृष्टि से वात वताई थी और यहाँ ज्ञान और क्रिया के स्वामी की वात बताई है। ज्ञान और क्रिया दोनो एक ही स्वामी मे आश्रित हैं। स्वामी ज्ञानानुसार क्रिया करने का इच्छुक है। परन्तु वह असमर्थ है। इसलिए यहाँ क्रिया को अधे की क्रिया वताई है और ज्ञान को गति मे असमर्थ प्रदीप के समान वताया है। पर ज्ञान सम्यक् क्रिया का विरोधी नही है और क्रिया सम्यग्ज्ञान का निषेध करने वाली नही है। यह सूचित करने के लिए ही यह रूपक गृहीत है। हाँ! इस दृष्टान्त को दूसरे रूप से भी घटाया जा सकता है। अन्धे के समान है—भावश्रुत से विहीन द्रव्यश्रुत का स्वामी। अथवा टकराने वाले सनेत्र व्यक्ति के समान सम्यग्श्रुत-विहीन बुद्धिमान व्यक्ति है। वे बुद्धि की मगरूरी मे स्व-पर को जाने विना इधर-उधर उलझते रहते है बुद्धि-स्वातंत्र्य के नाम पर और अधे के समान द्रव्यश्रुत-प्राप्त मिथ्यात्वी या अभव्य जीव है, जो दूसरे को ज्ञान का प्रकाश दे सकता है, परन्तु स्वय उससे लाभ नही उठा सकता है। हाँ, उसे द्रव्यश्रुत का ऐहिक और पारलौकिक यत्किंचित् भौतिक लाभ अवश्य प्राप्त हो सकता है।'

गुरुदेव ने बुद्धि के साक्षात् फल तत्त्व-विवेक की ओर संकेत करते हुए कहा है—**ज्ञानदीप जास कर, सकल दिखाय के**—जिसके हाथ मे ज्ञान रूपी दीपक है, वह स्वय समस्त द्रव्यादि को जान सकता है और दूसरो को भी तत्त्व-बोध करवा सकता है।

(२) लज्जा

लज्जा के दो रूप है—अज्ञान-जनित और ज्ञान-जनित। अज्ञान-जनित लज्जा अप्रशस्त है। सद्धर्म की आराधना, गुरु की विनय-प्रतिपत्ति आदि में लज्जा आना अप्रशस्त लज्जा है और पापादि

जो प्रशस्त का सेवन करते है, निन्दित कार्यो का परित्याग करते है, नास्तिक नही होते है, श्रद्धावान होते है—इन लक्षणों वाले ही पण्डित होते है।

विद्त्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।

राजापन और विद्वत्ता समान नही है। राजा अपने देश में ही पूजा जाता है और विद्वान सर्वत्र।

नीतिकारो ने **विद्या भोगकरी यशः सुखकरी** कहते हुए ज्ञान का फल भोग, यश और सुख भी माना है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र-विदों ने ज्ञान का प्रमुख फल विरति—पापों का परित्याग माना है। यह परम्पर फलो मे एक है। ज्ञान का साक्षात् फल तो तत्त्व-विचारणा है। तत्त्व की उपलब्धि होने पर कई परिणाम उत्पन्न होते है। उनसे ज्ञानदाता, आराध्य, आराधकों, जीवो आदि के प्रति आचार प्रति-फलित होता है। यहाँ अन्तर्मुखता की अपेक्षा से ज्ञान के प्रमुख तीन फल वताये हैं—विवेक, लज्जा और वैराग्य।

(१) विवेक

ज्ञान का उत्तम फल विवेक है। विवेक आत्म-सरक्षण आत्महित-संरक्षण, पर-सरक्षण, परहित-सरक्षण आदि कार्य करता है।

४५. ज्ञान दीप सकल दिखाय के

(कवित्त)

एक अंधा पानी घड़ा, लेके दीप हाथ माँहि,
जाता था, किसीने पूछा—'बाबा! बतलाय के;
किसी अंधे को ये दीप कहो क्या सहारा देगा?'
वोला अधा—'मेरे लिये दीपनां लगाय के।

हिये के हैं अन्ध नर, मेरा घड़ा गिरा न दे,
ताके लिये दीप रखा, सत्य समझाय के';
कहे 'सूर्य' बुद्धि होते, धिक् स्व-पर न देखे,
ज्ञान-दीप जास कर, सकल दिखाय के ।।४६।।

रात का अन्तिम पहर था । कुछ नवयुवक प्रात. कालीन वायु-सेवन करने और स्नान करने के लिये जलाशय की ओर जा रहे थे। मार्ग मै अन्धेरा फैला हुआ था जाने-आनेवालो के हिलते-डोलते हुए आकार मात्र दिखाई दे रहे थे। उस समय उन्हें कोई व्यक्ति सिर पर जल का घडा और हाथ मे लालटेन लेकर आता हुआ दिखाई दिया । जव वह व्यक्ति समीप मे आया, तव उन्होने पहचान लिया कि य नैनसुखजी सूरदास है । वे जन्मान्ध है । अकेले ही रहते है और अपना काम स्वय ही करते है । वे इस समय स्नान करके लौट रहे थे । इसलिये वे अपने लिये पानी का घडा भी भर लाये थे । पर वे अपने हाथ मे लालटेन क्यो लिये हुए है ?

नैनसुखजी विलकुल समीप आ गये । तव प्रशान्त ने उन्हे पुकार-कर कहा—'अरे वावा नैनसुखजी ! स्नान करके लौट रहे है आप ?' 'कौन ? प्रशान्त बेटा है ?' 'हाँ, वावा ! एक वात पूछू !' 'पूछो, बेटा ! क्या वात है ?' 'वावा ! आपने लालटेन हाथ मे क्यो रख छोडा है ? आपको यह क्या काम दे सकता है ? क्या किसी जन्मान्ध को दीपक रास्ता वता सकता है !' नैनसुखजी अपनी अन्धी आँखो से इस प्रकार ताकने लगे, मानो कुछ देख रहे हो । फिर वे हँसकर बोले—'बेटा ! तुम्हारी वात सोलह आने सच है। पर एक वात है कि लालटेन से मुझे मार्ग तो नही दिखाई देता है, किन्तु मेरी और मेरे घड़े की सुरक्षा तो हो सकती है !' प्रशान्त और उसके साथी नैनसुखजी की वात सुनकर, आश्चर्य मे पड गये। उन्हे वावा नैनसुखजी

की वात समझ मे नही आई । प्रशान्त ने पूछा—'इस लालटेन से आपकी सुरक्षा कैसे हो सकती है ?' 'बेटा ! अभी तुम नही समझे ! कई लोग ऐसे होते है, जो आँख होते हुए भी अन्धे होते है। वे चलते हुए किसी से भी टकरा जाते है । पहले मेरे साथ ऐसी वात घटित हुई है। ऐसे लोग मेरे हाथ के लालटेन के प्रकाश से सावधान होकर मुझसे टकराते नही है । दूसरे लोग हिये के अन्धे होते हैं, जो किसी से जान बूझकर टकराकर, आनन्द मानते है। ऐसे लोग भी अब मुझसे नही टकरा सकते है । क्योकि उन्हे लालटेन से जल जाने का भय रहता है। अव तो मेरी बात समझ गये न !' 'हाँ ! बाबा !'

अव्रती का ज्ञान

ऋषभदासजी—'जो अपने को प्राप्त ज्ञान के अनुसार चलने मे असमर्थ है, उसे यहाँ दीपक लेकर, चलनेवाले अन्धे के समान बताया गया है। उसे शास्त्रीय भाषा मे अव्रती समदृष्टि कहते है । जैसे अन्धे के हाथ का दीपक उसकी गति आदि क्रिया के लिये सहायक नही वनता है। वैसे ही अव्रती का ज्ञान उसके क्रियानुष्ठान को सम्यक् रूप से परिणत करने के लिये सहायक नही वनता है । परन्तु फिर भी अन्धे के हाथ का दीया उसकी सुरक्षा का हेतु वनता है, इसी प्रकार अव्रती का ज्ञान भी उसे नरक-तिर्यञ्च गति मे जाने से वचाता है । दूसरी वात, वह ससार मे सहज ही दूसरे से टकराता नही है—उलझता नही है । उसे प्राप्त विवेक के कारण वह भयकर पापो से और कष्टो से दूर ही रहता है ।'

मिथ्यात्वी का द्रव्य सम्यक् श्रुत

प्रवीण—'नानाजी ! आपने पहले ज्ञान को पगु और क्रिया को अधी वताया था । परन्तु यहाँ आपने ज्ञानवान को अधा और सक्रिय वताया है । यह विरोध क्यो ?' 'बेटा ! इस वात मे कुछ भी विरोध

नही है। वहाँ ज्ञान और क्रिया की गुण दृष्टि से बात बताई थी और यहाँ ज्ञान और क्रिया के स्वामी की बात बताई है। ज्ञान और क्रिया दोनों एक ही स्वामी मे आश्रित है। स्वामी ज्ञानानुसार क्रिया करने का इच्छुक है। परन्तु वह असमर्थ है। इसलिए यहाँ क्रिया को अंधे की क्रिया बताई है और ज्ञान को गति मे असमर्थ प्रदीप के समान बताया है। पर ज्ञान सम्यक् क्रिया का विरोधी नही है और क्रिया सम्यग्ज्ञान का निषेध करने वाली नही है। यह सूचित करने के लिए ही यह रूपक गृहीत है। हाँ! इस दृष्टान्त को दूसरे रूप से भी घटाया जा सकता है। अन्धे के समान है—भावश्रुत से विहीन द्रव्यश्रुत का स्वामी। अथवा टकराने वाले सनेत्र व्यक्ति के समान सम्यग्श्रुत-विहीन बुद्धिमान व्यक्ति है। वे बुद्धि की मगरूरी मे स्व-पर को जाने बिना इधर-उधर उलझते रहते है बुद्धि-स्वातन्त्र्य के नाम पर और अंधे के समान द्रव्यश्रुत-प्राप्त मिथ्यात्वी या अभव्य जीव है, जो दूसरे को ज्ञान का प्रकाश दे सकता है, परन्तु स्वय उससे लाभ नही उठा सकता है। हाँ, उसे द्रव्यश्रुत का ऐहिक और पारलौकिक यत्किंचित् भौतिक लाभ अवश्य प्राप्त हो सकता है।'

गुरुदेव ने बुद्धि के साक्षात् फल तत्त्व-विवेक की ओर संकेत करते हुए कहा है—**ज्ञानदीप जास कर, सकल दिखाय के**—जिसके हाथ मे ज्ञान रूपी दीपक है, वह स्वयं समस्त द्रव्यादि को जान सकता है और दूसरो को भी तत्त्व-बोध करवा सकता है।

(२) लज्जा

लज्जा के दो रूप है—अज्ञान-जनित और ज्ञान-जनित। अज्ञान-जनित लज्जा अप्रशस्त है। सद्धर्म की आराधना, गुरु की विनय-प्रतिपत्ति आदि में लज्जा आना अप्रशस्त लज्जा है और पापादि

करने मे लज्जा आना प्रशस्त लज्जा है। प्रशस्त लज्जा ज्ञान-जनित है। यहाँ उसी का प्रसग है।

लज्जा के दो भेद है—आत्म-लज्जा और परलज्जा। अशुभ-भाव आदि मेरा स्वरूप नहीं है। अतः पाप करना मेरे लिये लज्जास्पद है। यह सोचकर पापादि क्रिया मे प्रवृत्त नही होना-आत्मलज्जा है। परलज्जा अर्थात् दूसरे की लज्जा। इसके तीन रूप है—परमात्मा की लज्जा गुरुजन की लज्जा और लोकलज्जा। यहाँ गुरुजन लज्जा के विषय मे दृष्टान्त दिया गया है।

(४६) मिले मुझ मित्र सयाने (सवैया)

'कल रात गये कहाँ पुत्र ! कहो ?'
'सुन तात ! मिले मुझ मित्र सयाने;
मुझ मोटर बैठन जिद्द करी, तब—
लेके गया उन्हें बाग-दिखाने।'
'तुम मित्र से हे सुत ! यो कहियो,
चूड़ियों की जहाँ नहि जूठन डाले,
'मुनिसूर्य' कहे समझा पितु बैन—
सुनी, शरमाय कुसगत टाले।।४७।।

कमल अपने पिता का इकलौता पुत्र था। उसके पिता वडे ऐश्वर्यशाली थे। इसलिए कमल का वडे लाड-प्यार से पालन-पोषण हुआ था। उसके पिता रेखराजजी आधुनिक विचारधारा के हामी थे। परन्तु वे अधी आधुनिकता से दूर थे और आर्य-सस्कृति की मर्यादा के प्रेमी थे। इसलिए उनके अति आधुनिक मित्र उन्हे प्रच्छन्न पुरातनपंथी कहा करते थे। वे धर्मप्रेमी भी थे। उन्हे वृथा वाद-विवाद पसद नही था। वे जीवन के कटीले पथ पर समतारूपी उपानद् पहनकर

आत्मलक्ष्य की ओर यथा सभव त्याग-नियम के चरण बढाते हुए, चल रहे थे। वे अपनी सन्तान को भी धार्मिक संस्कार देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसलिये कमल को भी उन्होने जैनशाला मे पढने के लिये भेजा था। इस प्रकार पिता की प्रेरणा से कमल ने धार्मिक परीक्षाएँ उत्तीर्ण की थी और संतो के प्रवचन भी अनमने भाव से सुने थे।

कमल कैशोर से यौवन मे प्रवेश कर रहा था। इस वयः सन्धि मे उत्तेजना से भरपूर, और मन को गुदगुदाने वाली भावनाएँ जाग्रत होने लगी। वह उन भावनाओ के पुष्प वाण को न सह सका। उसे नैतिकता की सभी वाते फीकी लगने लगी। उसका हृदय उसकी भावना को तृप्त करने वाले किसी साथी के साहचर्य को पाने के लिए लालायित रहने लगा। अव पिता का नियन्त्रण भी उस पर कम हो गया था। उसे वासना-प्रधान साहित्य पढ़ने की चाट लग गई थी और उत्तेजना से भरे चित्रपट देखने का शौक जाग गया था। जिससे उसके नैतिकता के सस्कार ढीले पडते जा रहे थे। उसे वासना तीव्र वेग से सताने लगी। वह सुन्दर नवयुवक था। अक्षत यौवन की लाली उसके सुन्दर मुख पर अठखेलियाँ कर रही थी। भावना के दूधिया सागर मे, अपने अक मे अर्धसुप्त भौरे को लिये अधखिले कमल-से उसके नयन वडे आकर्षक लगते थे। स्वर मे यौवन का उद्दाम वेग था। उभरा हुआ चौडा वक्षस्थल साहस का निवास-स्थान लगता था। आजानु पुष्ट भुजाएँ वस्त्रो से आवृत्त होकर भी अपनी शोभा को दर-साए बिना नही रहती थी। वह किसी के भी लिए आकर्षण का केन्द्र हो सकता था। उसके सौदर्य के रसपान को आतुर कई आँखें उसके आस पास मँडराती रहती थी। जिससे वह और उत्तप्त हो जाया करता था। और एक दिन ऐसा ही साथ पाकर, उसके वासना के वेग ने मर्यादा का बाँध तोड दिया। वह तेजी से वासना-तृप्ति के मार्ग पर चल

पड़ा। उसकी कई 'गर्ल फ्रेण्ड' हो गई। वह उन्हें मित्र कहकर ही पुकारता था। वह अपने पिता को यही आभास करवाता था कि वे उसके युवक मित्र ही है।

पर एक दिन रेखराज जी ने अपने पुत्र कमल के मुख को, उससे वातचीत करते हुए ध्यान से देखा तो उन्हे लगा कि पुत्र का कौमार रूपी मानिक लुट गया है। उन्हे क्षणभर में ही यह आभास हो गया कि लड़का इस युग की हवा मे वहा जा रहा है। उन्हे कुछ चिन्ता हुई। जव वे उसी दिन किसी काम से अपने पुत्र के कमरे मे गये, तव वहाँ कुछ चीजे देखकर, उनका माथा ठनका और उनका सदेह पुष्ट हो गया। रेखराजजी विचार मे पड गये। उन्होंने गम्भीरता से सोचा—'यदि लडके को नही सम्हाला तो इसकी हालत खराव हो जाएगी।' उन्होने गुप्त रूप से खोजवीन प्रारम्भ कर दी कि पुत्र का पतन कहाँ तक हुआ है। उनका निरीक्षण अति सूक्ष्म था। रेखराजजी ने पता लगा लिया कि कमल का पतन वेग पर है। परन्तु अभी उसमें लज्जा शेप है और संस्कारो का विल्कुल लोप नही हुआ है। वह कुछ ही प्रयास से सम्हल सकता है। वे ऐसे रास्ते की तलाश मे लगे कि जिससे पिता-पुत्र के बीच की मर्यादा का भी लोप न हो और पुत्र को यह अवगत भी हो जाय कि पिता क्या चाह रहे है तथा क्यों चाह रहे है?

रेखराजजी ने सोच विचारकर, एक उपाय निकाला। उन्होने पुत्र को अपने पास वुलाया और उससे कहा—'कमल! मुझे तुमसे कुछ काम है। क्या तुम वह काम करोगे?' कमल को पिता के इस प्रश्न से आश्चर्य हुआ। क्या मै पिताजी का कार्य करने से इन्कार करता हूँ, जो पिताजी इस प्रकार पूछ रहे है? फिर उसे ध्यान आया कि कुछ वर्षों से मुझे पिताजी सीधा आदेश नही देते है। पर पिताजी के स्वर मे आज उसे कुछ अटपटापन जरूर लगा। उसने

देखा, पिताजी उत्तर की प्रतीक्षा मे है। उसने कहा—'फरमाइये, वापूजी! क्या काम है?' रेखराजजी ने उसके चेहरे पर आँखे गढाते हुए कहा—'बेटा! मुझे एक पुस्तक सुनना है। सो साँझ के समय तुम पुस्तक पढ़ कर मुझे सुना दिया करो।' पिता की यह माग सुनकर, वह विचार मे पड गया क्योकि उसकी 'गर्लफेडस् के साथ रहने का यही तो समय था। उसे पिता की यह माग अच्छी नही लगी। पिता उसके भावो के उतार-चढाव का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे थे। वे वहुत कुछ समझ गये। पर उन्हे भी पुत्र का यही समय लेना था। उन्होने सहज स्वर मे कहा—'बेटा! तुम गहरे विचार मे पड गये हो। क्या तुम यह समय मुझे नही दे सकते हो। कोई वात नही। मै तुम्हारी छोटी वहन सुभद्रा से सुन लिया करूँगा!' उसे लगा कि पिताजी कुछ भाँप गये है। उसके मन मे कुछ भय छा गया। वह अकस्मात् ही बोल उठा—'नही, पिताजी! ऐसी कोई वात नही है। मुझे इस समय कोई खास काम नही रहता है। मै तो यो ही अन्य-मनस्क हो गया था। मै आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ। यो भी मुझे आपका सान्निध्य विशेष प्राप्त नही होता है। इस वहाने आपके समीप बैठने का अवसर तो मिलेगा ही। साथ ही साथ आपके अनुभवो को भी कुछ जान सकूगा!' पिताजी उसकी वात से प्रसन्न हो गये। पर वह यह भी समझ गये कि कमल ने यह वात किस भाव से स्वीकार की है।

कमल नियत समय पर पिता के समीप उपस्थित हो गया। पिता ने 'पापस्थान और विवेक' नाम की पुस्तक पढ़कर सुनाने के लिये दी। पुस्तक में अठारह पापस्थानो का और उनके परित्याग के उपायो और क्रम का सुन्दर और सरल शैली में आलेखन था। रेख-राजजी पढ़े हुए विषयो पर चर्चा भी करते जाते थे। इसलिए काफी समय बीत जाता था। अव कमल का सायकालीन भ्रमण विलकुल

रुक गया। इधर पुस्तक के पढ़ने से और उस विषय का चिन्तन करने से उसके लुप्त होते हुए नैतिकता के संस्कार पुन. जागृत होने लगे। फिर भी वासना का दवाव प्रवल था। अतः उसका मन पिता के सान्निध्य से हटने का उपाय खोजता ही रहता था।

कमल एक दिन साँझ के समय पिता के पास नही पहुँचा। रेखराजजी ने खोज की तो पता चला कि कमल कही घूमने गया है। उन्होने अनुमान और पूछताछ से उसके जाने के स्थान और साथियो के वारे मे जान लिया। उन्हे मन ही मन वहुत खेद होने लगा और कमल पर वहुत क्रोध आया। उनकी मानसिक स्थिति का सतुलन नष्ट हो गया था। यदि उस समय कमल समीप होता तो वे छड़ी से उसकी पिटाई कर देते। परन्तु मुहूर्त मात्र मे रेखराजजी ने अपने को शान्त कर लिया। उन्होने सोचा—'मै इतने रौद्र विचार क्यों कर रहा हूँ ? मै यह अहकार क्यो करूँ कि मै किसी को सुधार सकता हूँ ? सभी जीव स्वतत्र है—अपनी-अपनी परिणति के आप स्वय स्वामी है। दूसरे तो निमित्त है। कोई किसी की परिणति को जवरन नही वदल सकता है। किन्तु प्रयत्न करना अपना काम है. .' यह विचार करते हुए रेखराजजी भी हाथ मे छड़ी लेकर घूमने निकल गये। जव कमल लौटा, तव तक रेखराजजी नही लौटे थे। कमल ने सतोष की साँस ली।

दूसरे दिन रेखराजजी ने कमल को अपने कमरे मे बुलाया। पिता की गम्भीरता देखकर, कमल आशकाओ से घिर गया। उसके हृदय की धडकन तेज हो गई। पिता ने उसे आसन पर वैठने का सकेत किया। कमल नीची नजर किये हुए यथास्थान बैठ गया। तव रेखराजजीने शान्त और कोमल स्वर से पूछा—'बेटा ! कल रात को तुम कहाँ गये थे ? मै तुम्हारी प्रतीक्षा वहुत देर तक करता रहा !' कमल आश्वस्त हुआ कि कोई धड़ाका नही हुआ।

अब उसमे परिस्थिति का सामना करने का साहस आ गया। वह बात बनाता हुआ बोला–'पिताजी ! मै आपके पास आ ही रहा था कि कुछ मित्र आ गये। उन्होने मुझे घेर लिया और वे घूमने जाने के लिये जिद करने लगे। मै उनको टाल नही सका। आखिर उन्हे कार मे बाग तक ले जाना पड़ा। फिर जब मै लौटा, तब आप यहाँ नही थे।' रेखराजजी ने स्वाभाविक स्वर मे कहा–'बेटा ! जब मै तुम्हारी प्रतीक्षा करते हुए ऊब गया, तब मै भी घूमने के लिए बाग की ओर रवाना हो गया–'रेखराजजी की चकोर दृष्टि से, कमल की यह बात सुनकर सिहर उठना, छिप न सका। वे कह रहे थे–'मैंने वहाँ चूड़ियों के टुकड़े देखे। लगता है कि वे तुम्हारे मित्रो ने बिखेरे होगे। इसलिए अब उन्हे कह देना कि वे जहाँ-तहाँ चूड़ियों की जूठन न बिखेरा करें।' कमल पिता की यह बात सुनकर सन्न रह गया। वह समझ गया कि पिता उसकी सब बातें जान चुके है। उसके सुन्दर मुख पर लज्जा के मारे कालिमा छा गई। रेखराजजी उसकी स्थिति को भाँप गये। उन्हे लगा कि अभी कमल को एकान्त की आवश्यकता है। वे–'बेटा ! समझ गये न !' यह कहते हुए कमरे से बाहर निकल गये।

कमल भी वहाँ से उठा और अपने कमरे मे आकर, बिछौने पर औंधा पड़कर, दोनो हाथो मे अपना मुँह छिपाये वह फफक-फफककर रोने लगा। वह कुछ भी नही सोच पा रहा था। उसे पश्चाताप के कारण रोना ही आ रहा था। जब कुछ देर बाद उसका वेग शान्त हुआ, तब उसे अपने पर क्रोध आने लगा। पर कुछ देर बाद वह अपने को निरपराध मानने लगा–'पर मेरा इसमे क्या दोष ? यह आयु ही ऐसी होती है ! पिताजी को मेरी ऐसी ही चिन्ता है तो मेरी शादी ही क्यो न कर देते, मेरे पच्चीस वर्ष के होने की राह क्यों देख रहे है ? यह सतयुग है क्या ? कोई कहाँ तक अपने को रोक

सकता है ?' फिर उसके विचार ने मोड खाया—'अरे ! मै यह क्या सोच रहा हूँ ? पिताजी का इसमें क्या दोप ? वे तो मेरा भला चाहते है ! कितना सयम रखा उन्होंने ! और मेरे हित की कितनी चिन्ता उन्हे ! क्या वे स्वयं पुस्तक नही पढ सकते हैं । मुझसे पुस्तक सुनना भी मेरे हित के लिए चाहा । क्योकि मै ऐसे साहित्य को छूता तक नही हूँ । मै तो वासना को भड़काने वाले साहित्य को पढता हूँ । ऐसी ही उत्तेजक फिल्मे देखता हूँ । वैसे ही मेरे साथी है। फिर मेरा पॉव फिसलेगा नही तो क्या होगा ? नही, पिताजी का रत्ती भर दोष नही है । कमल ! दोष तेरा है !.. ' वह एकदम उठा और पिताजी के कमरे मे पहुँचा ।

उसने पिता के चरणो मे मस्तक टिका दिया और भर्राये कण्ठ से वोला—'पिताजी ! मुझे क्षमा करो । मै आपके चरणों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि अव मै कभी गलत राह पर कदम नही धरूँगा !' पिता ने कमल को उठाकर छाती से लगाते हुए कहा—'वेटा ! मुझे तुमसे यही आशा थी ।' रेखराजजी की आँखों मे हर्ष के आँसू थे । वे कह रहे थे—'वेटा ! प्रतिज्ञा का वरावर पालन करना । जो ज्ञान के रास्ते चलते है, वे ही सच्चे ज्ञानी है । वेटा ! सर्वज्ञ की लाज करना—अपने आत्मा की लाज करना ।' उस दिन से कमल ने चित्रपट देखना ही वन्द कर दिया और वह उच्च विचार के प्रेरक ग्रन्थों का स्वाध्याय करने लगा ।

लज्जा ज्ञान का फल कैसे ?

प्रवीण—'नानाजी ! लज्जा ज्ञान का फल कैसे है ? क्योकि लज्जा मे संकोच का भाव रहता है और ज्ञान तो हृदय को विकसित करता है !' 'वेटा ! यह सत्य है कि ज्ञान सकोच का कुहासा दूर करता है । जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश का प्रसार और कार्य का विस्तार हो जाता है, पर उस समय व्यक्ति की पाप आदि करने की

वृत्ति सकुचित भी हो जाती है। वैसे ही ज्ञान के उजेले से भय आदि दूर होते है, हृदय विकसित होता है। पर साथ ही पाप करने मे सकोच भी उत्पन्न होता है। वह संकोच ही लज्जा है। बिना ज्ञान के लज्जा का ऐसा भाव जाग्रत ही नही हो सकता है। इसलिए प्रशस्त लज्जा को ज्ञान का फल कहा है। यो परलज्जा मे भय और संकोच का भाव और आत्म-लज्जा मे अभिमान का भाव मिश्रित रहता है। वस्तुत ज्ञान के निमित्त से भयादि भावो मे प्रशस्तता आती है। जिससे सयम भाव का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए शास्त्र के टीकाकारो ने 'लज्जा' शब्द का 'सयम' अर्थ भी किया है और सयम ज्ञान का फल है ही।'

लज्जा का मूल

मृदुला–'नानाजी ! लज्जा का मूल ज्ञान है या भाव ?' ऋषभदासजी–'वत्से ! ज्ञान जब भाव मे परिणत होता है, तभी प्रशस्त लज्जा का उदय होता है।' 'ज्ञान भाव रूप मे कैसे परिणत होता है ?' 'हिंसा आदि दोषो के स्वरूप, उनसे प्राप्त होने वाले ऐहिक–पारलौकिक दुष्फल, दु ख आदि की जानकारी का बार-बार चिन्तन करने से या उन दुःखादि के मानसिक अवलोकन से, उन-उन दोषो का हेयत्व ज्ञान भाव रूप में परिणत होता है। जिससे उन दोषो के सेवन करने में सकोच रूप लज्जा का उदय होता है। इसीलिए अहिंसा आदि व्रतो की दृढता के लिये, आचार्य प्रवर श्री उमास्वातिजी ने यह विधान किया है–

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । दुःखमेव वा ।

–तत्त्वार्थसूत्र ७/४,५

–हिंसा आदि के ऐहिक और पारलौकिक हानियो और दोषों का (व्रतो की स्थिरता के लिए) दर्शन करना चाहिये और 'ये दुःख रूप ही है'–'यह चिन्तन करना चाहिये।'

(३) वैराग्य

ऋषभदासजी ने ज्ञान के फल के विषय मे वात आगे वढाते हुए कहा–'अव ज्ञान के प्रमुख तीसरे फल वैराग्य के विषय मे कुछ वाते वता दूँ। विराग अर्थात् राग की विशिष्ट अवस्था। अथवा राग की अंतर्मुख दशा और उसके भाव को वैराग्य कहते है। अथवा भोग-विलास–ऐन्द्रियिक सुखो के प्रति विरसता वैराग्य है। इसे निर्वेद, विरक्ति आदि भी कहते है। **होइ उदास विषै विषे, जाणजो निरवेद** अर्थात् वैषयिक सुखों के प्रति उदासीनता का ही नाम निर्वेद है।

'जव तक यह प्रतीति न हो कि–संसार के जितने भी वैषयिक सुख है, वे सव दुःख रूप है और उनके भोग से कभी तृप्ति नही हो सकती है–तव तक हृदय मे वैराग्य का उदय नही हो सकता है।' प्रवीण–'नानाजी ! वैषयिक सुख किसे कहते है ?' ऋषभदासजी–'बेटा ! आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियो के अनुकूल रूप, शब्द, गन्धादि विपयों को वैषयिक सुख कहते है।' विनोद–'नानाजी ! नाटक-सिनेमा देखना, सगीत सुनना, इत्रादि लगाना, वढिया खाना-पीना आदि तो आनन्दप्रद है। इन्हे दुःखरूप कैसे मान सकते है और जो सुख है, उसे दुःख मानना भ्रम नही होगा ?' 'ऋषभदासजी के मुख पर मुसकान थिरक उठी। वे शान्ति से बोले--'वत्स ! विषयो मे सुख का अनुभव होता है–यह सत्य है। किन्तु तुम जरा शान्ति से निरीक्षण करोगे तो तुम्हे ये सुख दुःखरूप दिखाई देगे। इन सुखो के उत्पादन, रक्षण, उपभोग, नाश,वियोग आदि मे अत्यन्त आकुलता रहती है और उनके भोग काल मे भी अतृप्ति वनी रहती है। ऐसी स्थिति मे उन्हे सुख मानना ही भ्रम है–न कि दुःख मानना।' विनोद–'जव ये सुख दुःखरूप है, तव सुखरूप क्यो लगते है ?' ऋषभदासजी–'बेटा ! अभ्यास के कारण। एक उदाहरण लो–जैसे किसी वच्चे के सामने सिगरेट का धुंआ उगला जाता है तो वह

आकुल-व्याकुल हो जाता है और काफी वड़ हो जान तक उसकी ऐसी स्थिति रहती है। परन्तु जव वह सगति-दोष या और किसी कारण से सिगरेट पीना शुरू करता है तो पहले उसे बेचैनी होती है। पर उसका अभ्यस्त हो जाने के वाद वह उसको पीने में सुख का अनुभव और उसके अभाव मे दु:ख का अनुभव करता है। इसी प्रकार समस्त सुखो की स्थिति है।' प्रमोद–'नानाजी ! वैराग्य हो जाने के वाद क्या इन सुखों मे सुख की अनुभूति नही होती है ?' ऋषभदासजी–'हाँ ! वेटा ! वैराग्य जितना उत्कट होगा, उतनी ही इन विषयों मे सुखानुभूति हटती जाती है। वैराग्य से भावित आत्मा विषयों को इन्द्रियो के अनुकूल या प्रतिकूल रूप मे जानता अवश्य है, परन्तु उनमे राग और द्वेष नही आने देता है। इसलिये उसे इन वैषयिक सुखो के सेवन की उत्सुकता भी नही रहती है। प्रत्युत वह उनके सेवन मे अनेक विकारो की उत्पत्ति देखता है। हाँ ऐसा हो सकता है कि वैराग्य भाव के हो जाने पर मन पूर्वाभ्यास के कारण विषय-भोगो की ओर चला जाय और उनके सेवन मे आनन्दानुभव करने लग जाय। फिर भी आन्तरिक निर्णय के अटल रहने पर, उसके हृदय मे भोगो के प्रति अरुचि उभर आएगी ही। वस्तुतः क्रोधादि समस्त विकारो से छूटने की रुचि और हिंसादि पचाश्रवों से विरत होने की इच्छा एव वैपयिक सुखो मे अरुचि रूप वैराग्य या निर्वेद ज्ञान का अत्युत्तम फल है।

'निर्वेद के दो रूप है–(१) भव-निर्वेद और (२) विषय-निर्वेद अर्थात् (१) भव-भ्रमण=जन्म-मरण से विरक्ति, और (२) वैषयिक सुखो और वैषयिक सुखो के भोग के परमाधार देह के प्रति विरक्ति।

भव-भ्रमण-निर्वेद–

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ।।

–उत्तरा १९/१६

जन्म दुःखरूप है, वृद्धावस्था दुःखरूप है तथा रोग और मरण दुःखरूप है। अहो ! आश्चर्य है कि यह ससार दुःखरूप ही है, जहाँ जीव क्लेश पाते है।

मच्चुणा अब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय ! वियाणह ।।

–उत्तरा १४/२३

–हे तात ! लोक मृत्यु मे अभ्याहत है, जरा (वृद्धावस्था) से परिवृत्त है और इसमे दिन-रात रूपी अमोघ शस्त्र की धारा है–यह समझो।

विषय-निर्वेद–

अम्म-ताय ! मए भोगा, भुत्ता विस-फलोवमा ।
पच्छा कडुय-विवागा, अणुबंध-दुहावहा ।।
जह किंपाग-फलाणं, परिणामो ण सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो ण सुन्दरो ।।

हे अम्व ! हे तात ! मैंने विषफल के सदृश, वाद मे कडुए फल देनेवाले और और दुःख की परम्परावाले भोग-भोग लिये है। जिसप्रकार किम्पाकफल के भक्षण का सुन्दर परिणाम नही होता है, उसी प्रकार भुक्त भोगो का फल भी मुन्दर नही होता है।

शरीर निर्वेद–

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइ असुइ संभवं ।
असासय-वासमिणं, दुक्ख-केसाण भायण ।।

असासए सरीरम्मि, रइ णोवलब्भामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-बुब्बय-सण्णिभे ।।

यह शरीर अनित्य, अपवित्र, गन्दगी मे उत्पन्न और दु.ख तथा क्लेशों का आधार-स्थान है । यह अशाश्वत् निवास-स्थान है । आगे-पीछे छूटनेवाले, फेन और बुदबुदे से इस क्षण भगुर शरीर में, मुझे प्रीति नही होती है ।

४७. मत ला नट-वेशबनाके

(सवैया)

बहु साज सजाकर देव ! सुनो,
तव पास कियो यह बानक आके
लख चौरासी जो जीव की जोनि में,
तव पाने कृपा नच्यो स्वांग सजाके ।
किस वेश पे आप प्रसन्न हुए
मुझ दीजिये वञ्छित दान, सुना के,
यदि हो न खुशी तो कहो 'मुनिसूर्य'
'कभी मत ला नट-वेश बना के' ।।४८ ।।

(१)

आज अचल बहुत ही भावुक हो उठा था । 'कौन देगा इन विगड़ेल वाबूसा को अपनी लाडली'—भाई को कहे गये बड़ी भाभी के इन शब्दो ने उसके मर्म को कुरेद दिया था । वह अपने लिये विगड़ेल विशेषण गौरव के साथ सुनता आया था । पर आज भाभी के लहजे ने उसके मन को व्यथित कर दिया । उसे रह-रहकर अपना अतीत याद आने लगा ।

उसके बड़े दो भाई माता-पिता से अलग हो चुके थे । एक वही उनकी आशा का केन्द्र था । उनके पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। पर उन्होने अचल को प्यार देने मे जरा भी कमी नही की थी। पर उसने माता-पिता को क्या दिया था ?—केवल चिन्ता, उसके कार-नामों से अन्दर ही अन्दर घुटना और दु ख मे जलना। उसकी उद्दण्डता से वे तंग थे। आज उसका दिल भर रहा था । वह सोच रहा था—

'माँ सुनती कि मै नशा करता हूँ—अभक्ष्य खाता हूँ—कुल मर्यादा को तोडना हूँ, तो वह मुँह छिपा-छिपाकर रोती और जब मै घर पर आता तो कहती—बेटा! तुम यह सब क्या कर रहे हो! तुम्हारा वडा भाई दगा दे गया । मँझला अपने सुसरे के कहने मे आकर, हम से लड़-लड़ाकर अलग हो गया और तेरे ये हाल है! तब मै कहता—माँ ! लोग मुझसे जलते है! वे तुमसे झूठी-झूठी बाते कह जाते है और तुम उन बातो पर विश्वास करके, मुझसे लडती हो । उस समय पिता, जो एक तरफ खडे हुए हम माँ-बेटो की बात सुनरहे, होते, कहते—अचल क्यों झूठ बोलते हो। लोग तुमपर क्यो जलने लगे ? वे जैसी बात देखेगे, वैसी कहेगे ही! कुछ तो अपनेघर-घराने की ओर देखो । तब मै गुस्से मे पैर पटकते हुए चीखता—'लोग कहते हों या न कहते हों । पर आप दोनो मेरी क्रेडीट खत्म करना चाहते हो और मै घर से भाग खडा होता । इधर-उधर भटकता रहता । पिताजी मुझे खोज कर लाते । मै उन्हे आत्म-हत्या की धमकी देता । माँ आँखो मे आँसू भरकर अपना अञ्चल फैलाकर कहती—'लाल! मै तुमसे भीख माँगती हूँ! अब तुम यह काम करके, हमारे इन घोले मे धूल मत डालना ।' —यह बात याद आते ही अचल की आँखो मे आँसू आ गये—'हाय ! मैने क्या दिया पिताजी को ? उनके प्यार के बदले मे आन्तरिक पीडा ही तो दी मैने! वे मेरे चारित्रक पतन से घुलते रहे—बस घुलते रहे और एक दिन उनकी आँसुओ मे डूबी

आँखो की ज्योति बुझने वाली थी, तव माँ ने उनसे कहा था—छोड़ो बेटो का मोह्। मेरी भी चिन्ता मत करो। मेरे भाग्य मे जो लिखा होगा, उसे न ये वेटे मिटा सकेगे और न आप मिटा सकते हो। छोडो फिजूल की चिन्ता। और दुःख तो मन के मानने का है.... आप तो अरिहन्त भगवान के चरणो में ध्यान लगाओ। सिद्ध भगवान की शरण लो।' तव पिताजी ने आँखे मूद ली थी। फिर उन्होने भान रहते हुए भी आँखे नही खोली थी और माँ भूख-प्यास भूलकर पिताजी की शय्या के पास—'अरिहत सिद्धसाहू'—यह रटन करती हुई बैठी रही थी। जव पिता ने देह छोड़ दी थी, तब माँ ने कितना आर्त-क्रन्दन किया था! क्या वह रुदन पिता के वियोग का था? नही, वह उनकी अपनी असहाय दशा का क्रन्दन था।

'वही करुणामूर्ति माँ एक दिन मेरी भ्रष्टता देखकर कितनी कठोर हो उठी थी? उस बूढ़े शरीर मे कितनी ताकत आ गई थी? उन्होने मुझ जवान वेटे पर जोर से धौल जमा कर, मुझे घर से वाहर निकाल दिया था। उनकी कितनी विवशता मे से उनका वह रौद्र रूप प्रकट हुआ होगा—उसकी कल्पना ही नही की जा सकती है। भूखी सिंहनी-सी वन गई थी वे उस समय। उस समय किसी काम से वहाँ आये हुए इन्ही वड़े भैय्या ने मेरा वचाव किया था।

'और क्यो न होती वे रौद्र! उन्होंने पिताजी की मृत्यु के वाद मेरे ही लिये जीवन जिया था। उन्होने मेरे लिये ही पिताजी के मृत्यु के वाद, वड़े भैया के अपने पास रहने के आमन्त्रण को यह कहकर अस्वीकार कर दिया था—बेटा! मुझे तुम्हारे पास आकर रहने मे कोई लाज नही है। पर अभी तुम्हारे यहाँ आने का अवसर नही है। उस समय इस वात मे रहे हुए संकेत को मै भी समझ गया था।

'एक दिन भली चगी माँ ने मुझसे कहा—वेटा ! आज मेरे जाने का दिन है। अव जीवन को सुधार सको तो सुधार लेना। तुम्हे जैसे-तैसे मैट्रिक तक पढा दिया है। अव तुम वच्चे नही हो ! अपना हित-अहित खुद समझ सकते हो ! अव इस संसार से विदा होते समय तुम्हें उपालभ नही दूँगी। पर तुम्हे इतना ही कहना है कि नमोक्कार मंत्र से वडा कोई मत्र नही है और जीवन को पवित्र वनाने वाला जैन धर्म से वढकर कोई धर्म नही है। भाग्य जोग से तुम जैन कुल मे जनमे हो। अगर तुम अपने सौभाग्य को पहचान सको तो पहचानना वस, अव अपने वडे भैया को बुला लाओ।' उस समय माँ का मुखमण्डल कितना देदीप्यमान हो रहा था।

'मै यन्त्र-चालित-सा भैया को वुला लाया था। उन्होने भैया को कुछ सूचना दी। भैया ने समस्त परिवार को 'वुला लिया था। माँ ने सवसे कहा था—मैने जो भी तुम लोगो के साथ बुरा वर्ताव किया हो, उसकी माफी माँगती हूं। तुम आनन्द से रहना। प्रेम से रहना। एक-दूसरे की सेवाभक्ति करना। सभी ने हाथ जोडे थे और माँ से माफी माँगी थी। सवकी आँखे गीली हो गई थी। परन्तु माँ वडी प्रसन्न थी। किन्तु मेरा हृदय न जाने क्यों धक्-धक् कर रहा था।

'वड़े भैया ने माँ को याद दिलाया—माँ अचल के लिए कुछ कहना है ! माँ ने कहा था; कुछ नही कहना है, वेटा ! अपना रास्ता वह निकाल लेगा। तुम्हे उचित लगे तो उसे सहारा देना। ओहो ! उस समय उनका करुणा से भरा हुआ स्वर कैसा गूँज उठा था—

> कोना छोरू कोना वाछरू, कोना माँय ने वाप।
> यो जीव जासी एकलो, साथे पुण्य ने पाप

भूलो मन भमरा काई भम्यो....

'कुछ ही क्षण मे उनका स्वर परिवर्तित हो गया था। वह अनूठे आनंद मे भरकर गा रही थी–

भूख नहीं तिरषा नही, नही हर्ष नही शोग हो, गौतम !
कर्म नही काया नही, नही विषय रस भोग हो गौतम !
शिवपुर नगर सुहामणो...

अनत सुखा में झूली रह्या, अरूपी ज्योति प्रकाश, हो गौतम !
सघलारा सुख शास्वता, सघला अविचल वास, हो गौतम !
शिवपुर नगर सुहामणो....

'माँ इन्ही कड़ियो को वहुत देर तक फिर-फिर गाती रही। वहाँ बैठे हुए लोग भी उनके साथ-साथ इन कडियो को गुन-गुना रहे थे। उस समय मैंने कितना चाहा था कि माँ मुझे अपने पास बुलाएँ। वे मेरे मस्तक पर हाथ फिराएँ और मुझे मगलमय आशीर्वाद दे। यदि मै खुद उनके पास चला जाता और उनके चरणो मे अपना मस्तक टिका देता तो वे नाराज नही होती और मुझे अवश्य आशीर्वाद देती। पर मै इतना साहस नही कर सका था। कैसे जाता मै पापात्मा, उन पवित्र आत्मा के पास ? और माँ को तो कोई ममता रह ही नही गई थी। उन्होने फिर मेरी ओर एक बार भी नही देखा था।

'उनका स्वर एकदम वदला। जैसे कोई दूर-दूर जाता हुआ बोल रहा हो, वैसा स्वर सुनाई दे रहा था–

अरिहंते सरणं पवज्जामि.....सिद्धेसर... .णं.....

क्रमशः स्वर बंद हो गया था। क्षण भर वाद मुँह पर मुसकान लिए माँ का शरीर दीवार के सहारे टिक गया था।

'उस दिन मैने—नगर के एक कुख्यात दादा न—अपने आपको अनाथ अनुभव किया था..' यह सोचते हुए अचल अचानक ही सिसक उठा। जव वह अपने आँसू पोंछ रहा था, तव उसके वडे भैया उसके सामने खडे थे। वह माँ की मृत्यु के वाद वहुत कुछ वदल गया था। उसने एक जगह नौकरी कर ली थी। मानो उसके जीवन का तूफान थम गया था। माँ की मृत्यु के वाद उसके भाई उसे अपने घर ही ले आये थे। भाई का उसके प्रति प्रेम था। वह भी भाई के अनुकूल वनने का प्रयत्न कर रहा था। वह मास के अन्त मे वेतन पाते ही पूरे रुपये लाकर भाई के हाथ मे थमा देता था और भाई के कहने पर ही कुछ रुपये अपने खर्च के लिए लेता था । भाई की उसके प्रति ममता वढती जा रही थी। आज भाई अपनी पत्नी से उसकी सगाई के विषय मे चर्चा कर रहा था, उस समय कहे गये भाभी के शब्द सुनकर ही उसका चित्त चंचल हो उठा। भाई ने यह वात भाँप ली। वह उसके कंधे पर हाथ रखते हुए वोला—'अचल! क्या तुम लक्ष्मीजी की वात का वुरा मान गये?' वडा भाई अपनी पत्नी को व्यग्य मे 'लक्ष्मीजी' कहा करता था। अचल अपने को सम्हालते हुए वोला—'नही, भैया! भाभीजी ने मुझे कुछ नही कहा।' भाई वोला—'तुम्हे नही, मुझे जो कहा, वही तुमने सुन लिया दिखता है। ऊँह! उसकी उस वात पर ध्यान मत दो।'

अचल अव तक संयत हो चुका था। वह शान्त स्वर से वोला—'भैया! उन्होने कोई झूठ वात थोड़े ही कही है। उनकी वात विलकुल सही है। मैने ऐसा कौन सा व्यसन छोड़ा है, जो मै सुधरा हुआ माना जाऊँ! माँ कहती थी कि मै तो सातो व्यसन मे पूरा हूँ। पर भैया! मुझे यह चाह ही नही है कि किसी सम्भ्रात कुल की कन्या के

साथ शादी करूँ। भैया ! जिस दिन माँ गई, उस दिन मै रो भी नही सका था। मेरे आँसू ही न जाने कहाँ उड़ गये थे। लोगो ने समझा कि मै माँ के मर जाने से प्रसन्न हुआ हूँ। परन्तु उस समय की पीड़ा या तो मै ही जानता हूँ, या यदि कही हो तो वे अन्तर्यामी भगवान ही जानते होगे।' यह कहते-कहते अचल का कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

बड़े भैया उसकी थुड्डी को तर्जनी से ऊपर उठाते हुए उसकी आँखों मे अपनी आँखे डालते हुए बोले—'और अचल ! मै भी जानता हूँ तुम्हारी पीडा को। तुम्हारी सूखी और फटी हुई आँखो को देखकर मैं सहम गया था। मै डर गया था कि कुछ अघट न घट जाय। इसीलिये तो उस घर से दूसरे दिन ही तुम्हारे साथ सबको अपने घर ले आया था !' अचल सयत भाव से बोला—'भैया ! आप उदार है, जो आपने अपने पतित भाई को अपने यहाँ आश्रय दिया। किन्तु समाज आपकी उदारता को सहन कर सकेगा क्या ?'

बड़े भाई दृढ स्वर मे बोले—'देखो, अचल ! तुम्हे कह देता हूँ कि अपने लिये हीन शब्दो का उपयोग मत किया करो। तुम्हारी भाभी तो यो ही बडबड़ाती रहती है !' और तुम समाज की बात करते हो ! समाज है कौन ? हम तुम ही तो ! यह तो जवानी है। हो जाती है कभी थोड़ी ऊँची-नीची बात ! इसमे मन इतना छोटा करने की बात ही क्या है ?'

'मुझे भाभी की बात का किञ्चित् भी दु:ख नही है भैया। और उन्होने कहा भी क्या है ? जो जगजाहिर है, वही तो कहा है। उसका क्या दु:ख ? इन तेईस वसत के पार पहुँचने जितने काल में कितना कुछ देख लिया है मैने ! अब मुझे विवाह की इच्छा ही

नहीं है। आप इस झमेले में पड़ना ही मत, भैया!' भैया ने प्यार में कहा–'दुत् पगले! क्या उम्र है अभी तेरी और क्या देख लिया है तूने, जो वैरागी-सी बातें करता है!'

(२)

एक बार उस नगर में कुछ मुनियों का पदार्पण हुआ। लोग उन्हें लेने गाँव के बाहर जा रहे थे। अचल के भाई-भौजाई और भतीजे भी गये। वह नहीं गया। उसे किसी ने चलने का कहा नहीं और उसका मन भी जाने का नहीं हुआ। उसे अपना बचपन याद आया। वह भी कभी अपने भतीजों के समान उत्साह के साथ मुनियों की अगवानी के लिए जाया करता था। परन्तु जब से उसने होंस संभाला, तब से उसकी रुचि धर्म की ओर से हटती ही गई। वह साधुओं से–समाज से दूर ही दूर रहता। माँ कभी साधुओं के दर्शन करने के लिए उसे कहती तो या तो वह उसकी बात सुनी-अनसुनी कर देता या फिर कह बैठता–'साधु बाबा मेरे दर्शन पा लें तो उनका सौभाग्य!' माँ बेचारी उसके मुँह की ओर ताकती ही रह जाती। अब तो वह समाज से बिल्कुल कट चुका था। उसे धर्म और समाज से जरा भी लगाव नहीं था।

मुनि नगर में प्रवेश कर रहे थे। अचल, आज छुट्टी का दिन था, इसलिये कहीं जा रहा था। वह जिधर से मुनि आ रहे थे, अचानक उधर आ निकला। वह सकपकाकर रास्ते से हट गया और एक ओर कोई देख न सके, इस प्रकार खड़ा हो गया। पाँच मुनि थे। बड़े मुनि प्रौढ वय के पार हो चुके थे। उनका देह अतिशय गौरवर्ण था। उनके सिर पर बहुत थोड़े बाल थे। उनमें श्वेत बाल ही अधिक थे। उनका प्रशस्त ललाट चमचमा रहा था धूप और चलने के श्रम के कारण उनका मुखमंडल रक्ताभ हो रहा था। वे दृढसंयमी और

विशिष्ट ज्ञानी सन्त थे। एक सन्त प्रौढ़वय के थे और तीन सन्त युवा थे। सबके पीछे के सन्त चौबीस-पच्चीस की आयु के होगे। गेहुँआ उनका वर्ण था। मुखमुद्रा उनकी वहुत आकर्षक थी। शरीर न दुर्बल था और न हृष्ट-पुष्ट ही था। मुख पर मुखवस्त्रिका इस प्रकार शोभायमान हो रही थी, मानो पूर्णचन्द्र पर अर्धचन्द्र आकर विराजमान हो गया हो। अचल की दृष्टि उन पर टिक गई। उसका मन हुआ कि वह भी उनके संग हो ले। परन्तु उसे सब लोगो की आलोचनात्मिका दृष्टि के भय ने ऐसा करने से रोक दिया। मुनि वहाँ से निकल गये और लोग भी उनके पीछे-पीछे चले गये। अचल के मन मे लघुमुनि का मुखडा वस गया।

जव अचल घर पहुँचा, तव भाई उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आज भोजन मे देर हो गई थी। वह भाई के साथ भोजन करने बैठ गया। भाभी कह रही थी—'सुना है कि ये वड़े महाराज इधर बीस साल पहले पधारे थे। वडे ज्ञानी है। कितनी मीठी वाणी है, उनकी!' भाई ने निवाला निगलकर कहा—'हाँ, मै वड़े महाराज को पहचानता हूँ'। इनका तो अपने समाज मे वडा नाम है। इनके साथ के युवा साधु पहली ही वार यहाँ पधारे है। सुना है कि सभी सम्पन्न घरों के वेटे है। सभी सुख-सुविधा छोडकर साधु बने है। भाभी ने हाथ जोडकर कहा—'धन्य है उन्हे, जो आत्म कल्याण के लिए साधु वने है। अचल कुछ बोला नही। वह चुपचाप भोजन करता रहा। भोजन करने के वाद वडे भाई ने उससे कहा—'यदि तुम्हे ठीक लगे तो महाराज के दर्शन कर आना। आज तुम्हे छुट्टी है ही।' और समय होता तो वात को टाल देता। परन्तु उसे भाई की वात सुनते ही छोटे मुनि की सौम्य मुखमुद्रा याद आ गई। उसे एकदम उनसे वार्तालाप करने की लालसा जाग गई। इसलिये उसने भाई की वात को वधाते हुए कहा—'हाँ, छुट्टी ही है आज। दोपहर वाद चला

जाऊँगा।' भाई को उसकी इस स्वीकृति पर कुछ आश्चर्य हुआ। परन्तु उन्हे उसकी स्वीकृति से मन मे कुछ सुख ही हुआ।

तीसरे पहर वह स्थानक पहुँचा। उस समय वहाँ कोई श्रावक-श्राविका नही थी। उसके मन मे झिझक थी। उसे अपने आप पर आश्चर्य हो रहा था कि यह संकोच उसमें कब से आ गया। वह बड़े सन्त के पास पहुँचा। उसने उन्हे हाथ जोड़े। परन्तु वे स्वाध्याय कर रहे थे। इसलिये उसकी ओर ध्यान नही दिया। वन्दना के उत्तर में आशीर्वाद मुद्रा मे हाथ मात्र ऊँचा कर दिया। वह भी यही चाहता था। उसकी दृष्टि उन छोटे मुनि को खोज रही थी। वह दबे पाँव आगे बढ गया। उसे कुछ दूर पर वे मुनि अध्ययन-रत दिखाई दिये। अचल उनके समक्ष खड़ा हो गया। वह हाथ जोड़े हुए था। मुनि ने उसकी ओर सहज भाव से देखा और फिर उसे मगल-पाठ सुना दिया। उसे मुनि पर गुस्सा आ गया—'ये कैसे साधु है? मै तो इनसे बात करना चाहता हूँ और इन्होंने मुझे विदायगिरी का टिकिट पकडा दिया!' वह अनमने भाव से वहाँ से चल दिया। उसने सोचा—'ये साधु या तो बडे टेढे है या अभिमानी है। सीधे मुँह बात ही नही करते है! मै भाई के कहने से यहाँ आ गया। पर पर अब मै नहीं आऊँगा।'

अचल वहाँ से चला तो आया पर वे मुनि उसकी स्मृति से दूर ही नही हो रहे थे। वह अपने मित्र के यहाँ गया। वहाँ भी उसका मन नहीं लगा। रसशाला मे गया। गन्ने का रस पीया। परन्तु कुछ मजा नही आया। इस प्रकार शेष दिन अटपटेपन मे ही बीता। स्मृति मे उन लघु मुनि की आकृति पुन.पुनः उभर आती थी। रात हो जाने के बाद भी उसकी यही हालत थी। वह अपने आप पर झुंझलाया—'रे अचल! तू जिनके लिये इतना आकुल हो रहा है, वे तो तेरी परवाह ही नही करते है!' वह अपनी शय्या पर लेट गया।

लेकिन विचारो से उसका पीछा नही छूटा—'किस मनहूस घडी मे मैंने उन साधु को देखा ! मै कभी किसी के लिए इतना व्याकुल नही हुआ ! आज मुझे हो क्या गया है ।' वह उठ बैठा । फिर अपने आप पर हँस पडा—'मै भी कैसा हूँ ? मैंने उन साधु से समय तो माँगा ही नही ! मै माँगता तो क्या वे समय नही देते । खैर, वे समय दे भी देते तो मै उनसे क्या वात करता ? धर्म मै जानता नही हूँ और उलटा धर्म की वातो मे 'बोर' हो जाता हूँ । पर यह पाजी मन मानेगा नही ! उनक पास बैठने के लिए कलप रहा है । तो जाऊँ .' और वह स्थानक की ओर चल पड़ा ।

जव वह स्थानक पहुँचा, तव उसने देखा कि वडे महाराज पाट पर विराजमान है । वे छोटे मुनि पाट के समीप वैठे हुए है । सामने कुछ लोग बैठे हुए है । स्थानक मे वत्ती नही रहती है, इसलिये अधेरा था । पर वाहर की नगर पालिका की वत्ती का प्रकाश आ रहा था । जिससे वहाँ का दृश्य दिखाई दे रहा था । धर्म चर्चा चल रही थी । पूछे गये प्रश्नो का उत्तर छोटे मुनि ही दे रहे थे । बीच मे कभी-कभी वडे महाराज उत्तरो को विशेष स्पष्ट करते जाते थे । उसे कुछ प्रसन्नता हुई और वह सकोच के साथ वहाँ बैठ गया । छोटे मुनि का स्वर मधुर और वात्सल्य पूर्ण था । उनके सहज स्वर से कब उसका सकोच दूर हो गया और कव वह भी प्रश्न पूछने लग गया— इसका उसे कुछ ध्यान ही नही रहा । उसके प्रश्न उटपटाग होते थे । परन्तु मुनि विना तपे शान्ति से उत्तर देते थे और वे उत्तर भी ऐसा देते थे कि यो ही उछाला गया प्रश्न महत्त्वपूर्ण वन जाया करता था और उसके दिल मे वे उत्तर वस जाते । उसे लगा कि उसने अभी स्थानक आकर अच्छा ही किया । लोगो को उसके वहाँ आने और प्रश्न पूछने से आश्चर्य अवश्य हुआ । परन्तु किसी ने उससे कुछ नहीं कहा । क्योकि धर्म का दरवार सव भावुको के लिए खुला रहता है ।

अब अचल का रात्रि मे स्थानक आने का नित्य का क्रम हो गया। मानो उसके भटकते हुए मन को जिस आश्रय की तलाश थी, वह उसे मिल गया। धीरे-धीरे उसके प्रश्नो मे जिज्ञासा अभिव्यक्त होनी लगी और उसके प्रश्नो के ज्यो-ज्यो उत्तर मिलते जाते थे, त्यो-त्यो उसकी जिज्ञासा तीव्र होती जाती थी। अव बडे महाराज भी उसके प्रश्नों की ओर ध्यान देने लग गये थे। परन्तु किसी सयाने गृहस्थ ने वड़े महाराज से कहा—'देखो, महाराज! इस बिगडेल लडके को छोटे महाराज के ज्यादा मुँह मत लगने देना। कही कुछ हो न जाए!' महाराज ने सहज भाव से कहा—'श्रावकजी! इसकी आप चिन्ता मत करो। आपने चेताया तो अच्छा ही किया। पर यहाँ कोई कच्चे सन्त नही है। फिर भी सावधानी रखना अच्छा ही है।'

अचल जहाँ तक मुनि वहाँ रहे, वहाँ तक वरावर स्थानक आता रहा। अव तो वह प्रात काल भी नित्य दर्शन करने आने लगा। कभी-कभी व्याख्यान मे भी आ जाता। इससे उसके भाई भी प्रसन्न थे। अचल को लगता कि लघुमुनि उसके किसी जन्म के मित्र है।

(३)

मुनि के विहार का समय आ गया।

मुनि ने उसे नित्य प्रति 'नमोक्कार मत्र' की माला गिनने का कहा। उसे माँ की अन्तिम वात याद आ गई 'नमोक्कार मत्र से वडा कोई मत्र नही।' माँ उसे पहले भी महामत्र के स्मरण के लिए प्रेरणा देती थी। परन्तु वह उसकी वात मजाक मे उडा दिया करता था। उसने मुनि से कहा—'मै माला लेकर तो नही बैठ सकूँगा और इतनी देर तक मेरा चित्त स्थिर रह सकेगा क्या?' मुनि ने कहा—'चित्त स्थिर करने के लिए ही तो जाप करना है। चित्त की चचलता मानसिक मल से होती है और मानसिक मल पाप का उदय है।

किन्तु नमोक्कार मन्त्र का जाप 'सर्वपाप-प्रणाशक' है। जाप करके तुम इस वात का अनुभव कर सकते हो। मन लगे या न लगे, पर मन लगाते हुए जाप करते रहना। एक दिन मन अवश्य लग जाएगा।' फिर मुनि ने करागुली से और मन से जाप करने की विधियाँ उसे बता दी। उसे करागुली से किया जाने वाला जाप सुगम लगा।

उसने नित्य एक माला गिनने का नियम ले लिया। एकाध दिन वाद मुनि वहाँ से विहार कर गये। परन्तु उसके हृदय मे वे ज्ञान की अमिट प्यास जगा गये। वह धार्मिक ज्ञानार्जन मे जुट गया। जाप मे उसका मन स्थिर होने लगा। उसने मानस-जाप प्रारम्भ कर दिया। उसके ज्ञान की नई-नई दिशाएं खुलने लगी। उसे व्यसनो से एकदम अरुचि हो गई और उसके अधिकाश व्यसन छूट गये।

वह स्थानक जाने लगा। वहाँ के पुस्तकालय से लेकर धार्मिक पुस्तके पढने लगा। लोग कभी-कभी उस पर पुराने जीवन को लेकर तानेकशी करते थे। उसे बुरा भी लगता। किन्तु फिर अपने मन को समझाता कि पापी तो तू था ही। ये तुझे सावधान करते है तो बुरा क्यो मानता है ? तुझे तो पाप का त्याग करना है न ! किसी के तानो से पाप-त्याग का मार्ग छोडना है क्या ? पाप किये थे तो अपनी रुचि से ही किये थे और छोडना है तो अपनी रुचि से ही छोड़ ! तुझे पाप बुरे लगते है तो छोडता चला जा . '

उसने आत्मा-स्वरूप को समझा। जीव और अजीव के भेद को समझा। आत्म को मलिन करने वाले कारणो को समझकर, उनके निरोध के उपायो को जाना। उसे आत्मा की उज्ज्वल दशा को प्राप्त करने की तीव्र रुचि जाग्रत हुई और मलिन दशा के प्रति अत्यधिक अरुचि पैदा हुई। ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ उसका जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होता गया। उसे लगा कि यह सब उन लघुमुनि की

कृपा का ही फल है, कि जिन्होने उसके तुच्छ प्रश्नो का भी उत्तर देकर, उसके जीवन को सुन्दर मोड़ दे दिया।

उसके भाइयो और लोगों को इसके इस जीवन-परिवर्तन से वडा आश्चर्य हो रहा था। वडे भाई को याद आया—माँ ने कहा था कि अचल अपना रास्ता निकाल लेगा। यह बात विलकुल सही हो रही थी। अचल यो बाहर से शान्त हो गया था। किन्तु उसके अन्तर मे जो ज्वाला धूं-धू करके, भडक उठी थी—उसे कौन देख पाता। अव अचल का सर्वत्र मान होने लगा।

एक दिन भाभी भैया से कह रही थी—'अब तो हमारे अचल भैयासा को कोई भी लडकी देकर, निहाल हो जायगा। आप इस ओर ध्यान नही दे रहे है। मेरा कितना मन हो रहा है कि अपने हाथ से देवरानी को वधा कर घर मे लाऊँ! स्वर्ग मे रहे हुए मेरे सास-ससुर भी आशीर्वाद की वर्षा करे! मेरी भुआ की लड़की क्या वुरी है!

भाई वोले—'तुम क्या कहती हो, क्या मेरा इस ओर ध्यान नही है! एक से एक उच्च घर के सगपन को वाते आ रही है। हजारो रुपये तिलक मे देने को तैयार है लोग! किन्तु अचल स्वीकार करे तव न! वह ना-ना ही कर रहा है।' 'क्यो क्या उन्हें विवाह नही करना है!' 'उसके मन का कुछ पता लगे तो वात करे!' भाभी कुछ खनकते स्वर में वोली —'ओऽऽऽ! आजकल के ये छोरे भी कैसे है! सीधे मुँह कव 'हाँ' करते है! भला हो उन महाराज का कि जिन्होने मेरे कथीर-से देवर को सो टच सोने का वना दिया। पर कही किसी लड़की मे तो मन नही अटका है उनका। पूछ देखो उन्हे। उसी के साथ उनकी सगाई कर दें!'

'तुम्हारा मन व्हेमी है। मुझे तो ऐसी कोई बात नही दिखाई देती। वह दिन भर तो काम करता रहताहै। रात में देर तक कुछ न कुछ पडता रहता है और कभी-कभी तो घण्टो ध्यान मे बैठा रहता. .है' फिर वात अधूरी ही छोडकर भाई वाहर आये हुए किसी व्यक्ति से बात करने के लिये चले गये। अचल ने उनकी वातों का कुछ अश सुन लिया था। उसने सोचा—'दुनिया का ढग ही विचित्र है. '

अचल का मन विरक्त हो रहा था। उसे अपने छोटे-छोटे दोष भी वड़े भयंकर लगते थे। वस उसकी यही तीव्र इच्छा थी कि मै कव सव दोषो से मुक्त होऊँगा! कव कर्मों से छूटूंगा! कब भाव-भ्रमण के चक्कर को तोड़ूगा! अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को कव पाऊँगा! रात में भी वह ऐसे ही सपने देखता। उसे लोगो से प्राप्त मान-प्रतिष्ठा के प्रति कुछ भी लगाव नही था। उसने राग-जनित आकुल सुख की निःसारता का अनुभव कर लिया था। अव एक ही लगन लगी हुई थी, वीतरागता के सुख की-अनाकुल निश्चल शान्ति को पाने की।

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो चुका था। वह, भाई को प्रणाम करके अपने शयन-कक्ष मै आ चुका था। उसने गुदगुदी शय्या पर सोना छोड दिया था। एक दरी और उस पर सफेद चादर—वस यही उसका विछौना था। भाई के आश्वासन के लिये उसने एक गादी अवश्य अपने कमरे मे रख छोडी थी। परन्तु वह उस पर कभी सोता नही था वह अपनी शय्या पर सुखासन से बैठा। उसने सिद्धा को प्रणिपात किया। फिर अपने प्रबोधक मुनि को, जिन्हे अभी तक एक मित्र के रूप मे ही मान रहा था, आज अचानक ही अज्ञात मन की प्रेरणा से उन्हें अपने कल्याणमित्र गुरुदेव मानकर नमस्कार किया। फिर मगल-शरण का स्मरण करने लगा। कुछ

क्षण वाद उसे लगा कि वह कही भीतर वहुत गहराई मे चला जा रहा है। कुछ गहराई मे पहुँचने के वाद उसे विचित्र अनुभव होने लगा। अरे! यह क्या? अगणित नट! वह भी एक नट! अहा! वह नाच रहा है! कितने विविध रूप पलट रहे है उसके! कभी यातना भरा नृत्य तो कभी हर्ष भरा! कभी वृक्ष रूप मे! कभी कृमि रूप मे! कभी तितली रूप मे! कभी शिकारी तो कभी शिकार रूप मे! कभी अति सूक्ष्म रूप मे तो कभी दैत्याकार रूप मे! प्रेम, द्वेष, क्रोध, मान, वासना की विविध मुद्राएँ! लाखो रूप वनाए और खूव नाचा! पैर थक रहे है! हाथ कॉप रहे हैं! सिर हिल रहा है! माणिक मदिरा का प्याला आया! छककर पान किया और फिर नृत्य! कुछ होश आया! कुछ अनूठा वेश धारण किया! उस समय नृत्य करते हुए एक भव्य प्रासाद के समीप आया। द्वारपाल ने उसे भीतर प्रवेश करने के लिए रास्ता दिया। वह नृत्य-मुद्रा में एक भव्य सभा मे पहुँचता है! वहाँ उससे पहले पहुँचे हुए उसके एक साथी ने उसका स्वागत किया और उसने कहा—'पगले! चञ्चलता छोड ये अपने स्वामी है।' उसने पूछा 'कौन है ये?' 'ये भगवान है! सर्वज्ञदेव! जगत्तारक!'

वह रोमाञ्चित हो उठा! उसने दृष्टि उठाई! देखा कि चतुर्मुख ज्योतिप्पुज स्फटिक सिहासन पर विराजमान है! उसकी दृष्टि वहाँ टिक न सकी। उसके नृत्य की गति तीव्र हो गई और स्वतः उसके कण्ठ से गान फूटा—

वहुत मै नाच्यो हे भगवान!
करुणा-सागर! करुणा करिये, दीजे कुछ वरदान-व—
अगणित वेश बनाये नट ज्यों, ना पाया स्थिर स्थान!
नाचत थके चरण अव मेरे, सुनिये कृपा-निधान!-व—

वह नाचते-नाचते बेहोश होकर गिर पडा। जब होश आया, तव उसे लगा कि कृपा-निधान नाथ की कृपा हुई या कुछ हुआ, जिससे उसका वेश अति दिव्य, भव्य और रमणीय हो उठा है। उसने अपने नाथ की ओर देखा। वह अपलक वनकर उनकी रूप-सुधा का पान करने लगा। फिर हाथ जोडकर प्रार्थना करने लगा–

'बहु साज सजाकर देव! सुनो,
तव पास कियो यह बानक आके.. .'

'हे भगवन्! मेरी आत्म-कथा सुनिये! मैने अनेक स्वांग सजाये है! यों समझिये कि आपकी प्रीति को पाने के लिये ही, मैने चौरासी लाख योनि की रगभूमि पर नाना रूपों में नाटक किया है। अव इस दिव्य वेश में आपके सन्मुख आया हूँ! वताइये मेरे अन्तर्यामि! आप मेरी किस भूमिका पर प्रसन्न हुए है? यदि आप प्रसन्न हुए हो तो आप मुझे मेरा इच्छित दान दीजिये, देव! यदि आप मेरे नृत्य पर प्रसन्न नही हुए हो तो मुझे यह आदेश दीजिये भगवन्! कि–**कभी मत ला नट वेश बना के**! हे स्वामिन्! हे करुणा-सागर! कृपा करिये–कह दीजिये ' प्रार्थना करते हुए उसकी आँखों से अश्रु वहने लगे।

'अचल! अचल!'–उसके वड़े भाई आवाज लगा रहे थे। अचल की तन्द्रा टूटी। उसने देखा कि पौ फटने का समय हो रहा है। वस्तुत: वह अर्धलेटी अवस्था मे स्वप्न देख रहा था। भाई का हाथ उसे उठाते समय उसके विछौने पर लग गया। चादर आँसुओ से भीग गई थी। इसलिये भाई को चादर गीली लगने पर उसने पूछा–'अचल! यह क्या? तुम रात भर रोते रहे क्या? क्या दु:ख है तुम्हे यहाँ?'

'कुछ भी दुःख नही है, भैया ! यह तो मै स्वप्न देख रहा था'– अचल ने उत्तर दिया। 'ऐसा कोई दुःख स्वप्न था क्या ?'– भाई ने पूछा। 'भैया ! कैसे कहूँ उस स्वप्न को ? मुझे कुछ समझ मे नही आ रहा है ? परन्तु स्वप्न है वहुत अच्छा। मेरे भविष्य के जीवन की दिशा का निर्देश करने वाला !'

'अच्छा !'–भैया ने कहा–'ये वाते फिर होती रहेगी। तुम्हे पहली गाडी से लडकी देखने के लिये जाने को रवाना होना है। इसीलिये तुम्हे जगाने आया हूँ। जल्दी तैयार हो जाओ !' 'भैया ! मै लड़की देखने नही जाऊँगा ?' 'क्यो ?' 'मुझे शादी नही करना है।' 'शादी नही करना है'– आश्चर्य से वात दुहराते हुए वडे भाई वोले– 'जिन्दगी भर तक शादी नही करना है ?' अचल ने दृढ स्वर में उत्तर दिया–'हॉ, भैया ! मेरा यही निर्णय है। मुझे रह-रहकर मेरे गुरुदेव की याद आ रही है। वस, मै उनके चरणो मे दीक्षित वनना चाहता हूँ ?'

'अचल ! अचल ! यह क्या कह रहे हो ?' 'सत्य कह रहा हूँ, भैया ! यह मेरा अटल निर्णय है।' 'अचल ! मेरी समझ में, मैंने तुम्हे ठेस पहुँचे ऐसा कुछ भी नही किया है ? फिर तुमने ऐसा निर्णय क्यो लिया है ? लोग मुझे क्या कहेगे ! जो मेरी आशका थी, वह सत्य सिद्ध हुई।'–भाई भर्राये कण्ठ से बोल रहे थे। 'भैया ! मैंने किसी कष्ट के कारण यह निर्णय नही किया है। लोगो के कहने की तो वात ही क्या करूँ, भैया ! जव मै गलत मार्ग पर चल रहा था, तव लोगो को अपने वेटो से कहते सुना था–'क्या तुम्हे अचल जैसा दादा वनना है ?' जव मैंने सही मार्ग पर कदम रखा, तव लोगो ने ताना कसा–'सौ-सौ चूहे खाय के विल्ली चली हज को' और लोग अव कहते है वेटो को–'अचल-सी अकल लो जरा !' सो लोगो के कहने

की ओर ध्यान मत दो । मैने यह निर्णय ज्ञान के उजेले मे किया है–आत्म-कल्याण के लिये किया है ।'

वडे भाई जानते थे कि अचल को किसी निर्णय से टस से मस नही किया जा सकता है। उन्होने कहा–'ओहो ! हमे वर्षो हो गये व्याख्यान सुनते । पर कभी वैराग्य नही आया ! ऐसी कौन-सी भुरकी डाल गये है, महाराज ने, जो तुम्हे इतना तीव्र वैराग्य आ गया ?' 'भैया ! आप समझदार होते हुए भी, यह कैसी वात कर रहे है ! क्या भुरकी डालने से भी कभी वैराग्य आता है ?' 'पर अचल ! तुमने अपनी शक्ति को भी तौला है ?' अचल ने शान्ति से उत्तर दिया–'भैया ! आपका जिस ओर सकेत है, वह वात मैने समझ ली है । वासना का वेग जहाँ तक वेद मोहनीय का उदय होता है, वहाँ तक रहता ही है। परन्तु अभी इस सम्बन्ध मे शिकायत सुनी नही होगी । अव मुझे विकारों के प्रति तीव्र विरक्ति हो गई है । मै उनके वेग को सहन कर सकता हूँ। किन्तु उनका क्षय तो अभ्यास से होता है। सयम-साधना मे वह अभ्यास होगा ही। मैने आपको सूचना दे दी है । मै किसी भी समय गुरुदेव के चरणो मे जा सकता हूँ।'

वड़े भाई अचल की सकल्प-शक्ति से भली-भाँति परिचित हो चुके थे । उन्होने कहा–'अचल मै तुम्हे मोक्षमार्ग मे जाते हुए अन्तराय नही दूँगा । मै गुरुदेव को यही वुलाकर, अपने हाथों से तुम्हें उनके चरणों मे अर्पण करके, पुण्य भागी वनूँगा । काश, मै भी तुम्हारा अनुसरण कर सकता, 'अचल मेरे भाई ।'–यो कहते वडे भाई ने अचल को अपने भुजपाश मे वाँध लिया । उनकी आँखो मे आँसू की बूदें छलक आई और अचल की आँखो मे थे हर्ष के आँसू !

'अरे ! अरे ! देर हो जाएगी न ! ' यह कहते हुए वहाँ भाभी

ने प्रवेश किया । उन्होने अचल को छोडते हुए अपनी पत्नी को कहा– 'ओ ! जी ! अचल नही जाएगा । उसने लडकी चुन ली है ?' भाभी ने पूछा–'ऐ ! चुन ली है । मुझे तो शका थी ही । नही कहा था मैने ! मै भी तो नाम सुन लू !'

वडे भाई ने कहा–'शिवरानी ।'

भाभी अवाक् देखती रह गई । फिर अनायास ही पूछ बैठी– 'मतलव ? '

'मतलब ? दीक्षा'

ज्ञान से उत्पन्न विरक्ति

ऋषभदासजी ने दृष्टान्त का मर्म वताते हुए कहा–'इस दृष्टान्त से यह समझा जा सकता है कि जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ससार अर्थात् भव-भ्रमण और उसके हेतु पाप के प्रति विरक्ति पैदा होती है–

यथा यथा ज्ञान-बलेन जीवो,
जानाति तत्त्वं जिन-नाथ-दृष्टम् ।
तथा तथा धर्ममतिः प्रशस्ता,
प्रजायते पाप-विनाश-शक्ता ॥

जीव जैसे-जैसे ज्ञानवल से जिनेश्वरदेव के द्वारा प्रज्ञप्त तत्त्व को जानता है, वैसे-वैसे उसमे पाप को नष्ट करने मे लीन प्रशस्त धर्म वृद्धि पैदा होती है ।

'वस्तुत· ज्ञान-प्राप्ति के वाद ज्ञान में आनन्द और भोगो के प्रति विरसता पैदा होती है । इस विपय मे पूज्य श्री माधवमुनिजी महाराज फरमाते है–

ज्ञान गुण मोदक हू सो मीठो. .
जाको ज्ञान रुच्यो ता जन को
लागत षट् रस सीठो . ज्ञान०

अर्थात् ज्ञान का प्रमुख फल वैराग्य है।'

ज्ञान और भोग

प्रमोद–'क्या ज्ञान प्राप्ति के वाद जीव भोग नही भोगते है ?'
'ज्ञानी जीवो की प्रमुख तीन श्रेणियाँ है–

१. असंयत सम्यग्दृष्टि, २. सयतासयत, और ३ सयत । इन तीनों कोटि के ज्ञानियों में भोगो के प्रति हेय रुचि पैदा हो जाती है। परन्तु प्रथम कोटि के ज्ञानी भोगो से अशमात्र भी विरत नही हो सकते है। दूसरी कोटि के ज्ञानी भोगो से अशतः विरत होते है और तीसरी कोटि के ज्ञानी भोगो से पूर्णत. विरत होते है । परन्तु प्रमाद के कारण उनमे भोगवृत्ति का उदय होता रहता है और जव वे प्रमाद का परित्याग कर देते है, तव भोगवृत्ति भी समाप्त हो जाती है।'

प्रवीण–'नानाजी ! भोगवृत्ति और प्रमाद किसे कहते है ?'
'प्रमाद अर्थात् साधना मे असावधानी । प्रमाद के पाँच हेतु है– १. मादक पदार्थों का सेवन, २. निद्रा, ३ वैषयिकता, ४ कषाय-आवेशात्मक भाव, और ५ विकथा-साधना से विपरीत वार्ता । इन पाँचो को कारण मे कार्योपचार की दृष्टि से प्रमाद कहा गया है। भोग-भावना से उत्पन्न चेतना की चेष्टा विशेष को भोगवृत्ति कहते है। जिनकी शास्त्रीय सज्ञा 'सज्ञा' है । सज्ञा चार है–आहार संज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह सज्ञा । भय की वृत्ति का उदय भोगेच्छा के निमित्त से होता है। इसलिये इसे भी भोगवृत्ति मे गर्भित कर लिया गया है। भोगवृत्तियो के अभाव के वाद भोगेच्छा

भी समाप्त हो जाती है । इस प्रकार भोग-त्याग का प्रधान हेतु अप्रमत्तता है—ज्ञान नहीं । ज्ञान तो भोगो की निःसारता को खोलकर रख देता है । इसलिये कर्मोदय की प्रवलता के कारण ज्ञानी भोगो को भोगते हुए भी उनमें अज्ञानियों के समान लीन नही हो पाते है । इसी कारण स्वभावत: उन्हे गाढा कर्मवन्ध नही होता है—

भोगे भोग विवश याही ते,
करम न बाँधे चीठो—ज्ञान गुण०

—श्रीमाधवाचार्य

इसलिये ज्ञानीजन के अशुभ गति के आयुष्य का वध नही होता है ।'

वैराग्य और अकर्मण्यता

विनोद—'नानाजी ! वैराग्य हमे कर्म से पीछे हटाता है । समस्या का समाधान न खोजकर, उससे मुख मोडना सिखाता है—यह वात सही है क्या ?'

'वत्स ! यह वात सही है भी और नही भी है । सही इस अर्थ मे है कि वैराग्य अर्थात् पाप से अरुचि का भाव । अत: वैराग्य पाप कर्म से अलग हटाता ही है और जो वस्तुत. समस्या का समाधान नही है, अत: यह सत्य है कि उससे विरत करता है वह ।'
विनोद—'नानाजी ! वैराग्य से निवृत्ति का ही जन्म होता है । तो निवृत्ति ससार से भागना नही है क्या ? पुरुपार्थ से पलायन करना नही है क्या ?' ऋपभदासजी मन्द-मन्द मुस्काते हुए वोले—'भाई ! आज का विचारक अवश्य ऐसा कहता है । वह तो पूरी भारतीय सस्कृति को भगौडो की संस्कृति कहता है । परन्तु शान्ति से सोचोगे

तो संस्कृति मात्र भगोड़ापन लगेगा। प्रत्येक कर्म के मूल में किसी न किसी भाव की निवृत्ति दिखाई देगी। भूख की निवृत्ति के लिये ही तो कृपिकर्म और पाक कला का विकास हुआ है। शीत-ताप और आगन्तुक भयो के निवारण के लिये ही वस्त्र-निर्माण, भवन-निर्माण, नगर-संरचना आदि कर्मो का उदय और रोगांतक से छुटकारा पाने के लिये ही स्वास्थ्य-विज्ञान, आयुर्वेद या चिकित्सा-विज्ञान का जन्म हुआ है। और कहाँ तक गिनाऊँ? तुम स्वय ही सोच सकते हो। इसे तुम क्या कहते हो—सभ्यता, सस्कृति ही न! इसे ही पुरुपार्थ कहते हो न ! तो अव यह भी समझ लो कि वैराग्य जनित साधना भी पुरुषार्थ ही है। वस्तुत मानव के शरीरादि से अभिव्यक्त होने वाली स्थूल हीनताओ के तात्कालीन निवारण के उपायो की परम्परा का नाम प्रवृत्ति और समस्त आध्यात्मिक दोषो की आत्यन्तिक ही नही—सदा के लिये सम्पूर्ण रूप से निवारण के उपायो की परम्परा का नाम निवृत्ति प्रतीत होता है मुझे। वस्तुतः सच्चा पुरुषार्थ तो निवृत्ति ही है। यथा—

विषयों का रस छुटे न जिससे, उसकी यह उक्ति।
निर्धन हो तो लेना चाहे, वह मुक्ता या शुक्ति ?
अनिष्ट तजकर इष्ट-प्राप्ति की, कौन करे नहि चाह ?
बहने वाला पुरुषार्थी ? या, जो दे चीर-प्रवाह ?

सुदत्त चरित्र १८२-१८३

'यदि कोई वैराग्य को पुरुषार्थ-हीनता, भगोडी वृत्ति—कायरता कहे तो भले कहे। इससे हमे कुछ भी दुःख नही है और न हम ऐसा सुनकर उसे हेय समझेगे—

पतन-निवारण यदि कायरता तो वह भी आदेय।
चारित-नाशक महाशूरता, हीन हीनतम हेय ।।

सुदत्त चरित्र १८४

'वस्तुतः वैराग्य तो चरित्र-निर्माण का हेतु है। विरक्त आत्मा संसार मे रहते हुए किसी के अधिकार को छीनना नही चाहेगा। वह अल्प-इच्छा और अल्प-परिग्रह वाला वन जाता है। अत. उसकी सव कुछ वटोरने की वृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अपने पास जो कुछ है, उससे अन्य का हित करना ही चाहता है। परन्तु जो प्रवृत्ति प्रिय है—आसक्त है, वह क्या करता है ? वह निर्दयता और क्रूरता का घर वन जाता है । दूसरे का विनाश करके, अपनी स्वार्थ साधना करता है । गहराई से सोचो तो प्रतीत होगा आसक्ति कर्मण्यता नही है, कर्म को विश्रृखल करने वाली है और विरक्ति कर्म को व्यवस्थित और समुज्ज्वल रूप प्रदान करने वाली है। आसक्ति नई-नई समस्याओं को जन्म देकर, व्यर्थ की उलझने पैदा करती है, जवकि विरक्ति समस्याओ के सही समाधान की सामग्री प्रस्तुत करती है।' प्रमोद—'पर नानाजी ! अधिकतर ऐसा होता है कि वैराग्य के नाम पर व्यक्ति ससार से भाग खडा होता है। अपने कर्त्तव्यो से मुखडा मोड लेता है। उसे वस अपने आत्म-कल्याण की ही धुन रहती है। किसी का हित हो या न हो । वस, उनका हित हो जाना चाहिये । क्या यह खुदगर्जी नही है ?' ऋषभदासजी—'वेटा ! जव विरक्ति तीव्र होती है, तव विरति उसका अनिवार्य फल होता है। किन्तु सव विरक्त आत्मा गृह-त्याग करने की शक्ति वाले नही होते है। वे अपने योग्य कर्त्तव्यो का पालन करते ही है। फिर भी इतना समझ लो कि सवका अपना हित अपने पुरुषार्थ से

ही होता है, दूसरे तो सहायक मात्र हो सकते है। क्या किसी के कुटुम्ब में मानो कोई मैला वना रहता है तो कुटुम्ब के अन्य सदस्यो का अपना मैल उतारना खुदगर्जी है क्या ?

कोई मैला रहना चाहे, मल में ही सुख पाय ।
सने रहें तो हम भी मल से ? यह है कैसा न्याय ?
माना पतित को उठाना है, अति उत्तम उपकार ।
वह न उठे तो गिरे रहें हम–यह क्या वर व्यवहार ?
गिरा गिरे को उठा न सकता, लगी उसे निज पीड़ ।
स्वस्थ हुआ उठ, वही बली नर, बता सके सुख-नीड़ ।

–सुदत्त चरित्र

वस्तुतः जिस साधना को तुम खुदगर्जी कहते हो, उसमे अनन्त जीवो का हित समाया हुआ है। विरक्ति या निर्वेद सम्यग्दृष्टि आत्मा का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा ससार मे रहते हुए अपने योग्य कर्त्तव्यो का जिस सुन्दर ढंग से पालन करता है, वैसा मिथ्या-दृष्टि–वैराग्य से शून्य आत्मा पालन नही कर सकता है। क्योकि अनुकम्पा भी उसका–सम्यक्त्वी आत्मा का लक्षण है ?

वैराग्य क्यों नही होता है ?

विनोद–'नानाजी ! छुट्टियो में हमारा यहाँ आना वहुत सार्थक हुआ। पहले हममे वहुत वक्रता थी। अव हम आपसे जो भी पूछते है, जिज्ञासा बुद्धि से पूछते है–वक्रता से नही।' ऋषभदास– 'तुम्हारी यह स्वीकृति उत्तम है। मै तुम्हारी वात की सचाई का अनुभव कर रहा हूँ।' विनोद–'आपने वताया कि वैराग्य ज्ञान का फल है। परन्तु मै तो और ही वात देखता हूँ । आजकल पढे-लिखे उच्च शिक्षा पाये हुए लोग कितने साधु वनते है ? साधुओ मे उन्हीं

लोगो की सख्या ज्यादा है, जिन्होंने गृहवास मे विशेष शिक्षा नही पाई है। मामाजी को या मुझे साधु वनने का मन क्यो नही होता है ? इसलिये मन मे यह शका उठती है कि वैराग्य कही शिक्षा की न्यूनता का तो परिणाम नही है ?' ऋषभदासजी ने हँसते हुए कहा– 'तुम्हारी शंका तो जोरदार है ! तुम्हे और तुम्हारे मामाजी को साधु वनने का मन क्यो नही होता है–इसका कारण तुम्ही खोजना ! किन्तु वात असल मे यह है कि जो आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है, उसके मन मे सर्व विरति की चाह अवश्यमेव रहती है। उसके नित्य-अभ्यास मे दो मनोरथ होते रहते है कि (१) मै परिग्रह का थोड़ा-वहुत त्याग कव करूँगा, और (२) मुनिमार्ग को कव अगीकार करूँगा ? रही आधुनिक शिक्षितो के साधु नही वनने की वात। आधुनिक शिक्षा मे–शिक्षा की अपेक्षा उसकी पद्धति मे–दृष्टि को मलिन वनाने वाले तत्त्व ही अधिक रहते है। शिक्षा मे रही हुई अशमात्र नैतिकता की वाते शिक्षालयो के उच्छृखल वातावरण मे धूमिल हो जाती है। आधुनिक वातावरण, साहित्य, शिक्षा, शिक्षक, समाज और शासक देहाभिमान, स्वच्छदता, वासना, सांसारिकता आदि के ही प्रायः पोषक है । आधुनिक शिक्षा प्राप्त करते समय विद्यार्थी धार्मिक परिवेश से प्राय· दूर हो जाता है अथवा वह धार्मिकता को 'आउट ऑफ डेट' समझने लग जाता है । गृहस्थावस्था मे प्रवेश करते समय तक अत्यधिक सुखशील, वैषयिकता से भरपूर हृदय वाला और मिथ्याभिमानी वन जाता है । अव तुम्ही सोचो कि ये सव ज्ञान के फल है या अज्ञान के ? ऐसे वजर हृदय में वैराग्य के वीज कैसे पनप सकते है ? फिर ससार के थपेडे खाते हुए किसी भव्यात्मा को ज्ञान की किरण प्राप्त होती है और उनमे विरक्ति के भाव जाग्रत होते है। तव तक उनके शरीर इतने सुख

के अभ्यासी, सत्त्वहीन और अक्षम हो जाते है कि वे जैन साधुत्व ग्रहण करने का साहस नही कर सकते है। एक वाह्य कारण और भी है। आज वैराग्य भावना से शून्य व्यक्ति भी साधु-संस्था में प्रविष्ट हो गए है। उन्होने ऐसा वातावरण वना रखा है कि विरक्त आत्माओ को ससार मे रहते हुए साधना करना ही निरापद लगता है। पर मुझे लगता है कि यह कारण एक वहाना ही है। आज भी शुद्ध साधना-लीन कई सन्त विद्यमान है और कदाचित् ऐसे सन्त दृष्टिगत न हो तो ऐसा सोचने वाले स्वय आदर्श को समुपस्थित करे।'

मृदुला ने कहा—'नानाजी ! उच्च शिक्षा प्राप्त कई लड़कियाँ सयमी वन रही है !' प्रमोद ने चट वात काटते हुए कहा—'ऊँह ! लडकियो का मानसिक विकास ही कितना हो पाता है ! वे अनेक वर्जनाओ से जकडी रहती है। वे नई रोशनी को क्या ग्रहण करेंगी !' इस वार ऋषभदासजी जोर से हँस पडे। परन्तु एक क्षण में ही उनकी हँसी मंद स्मित मे वदल गई। वे बोले—'लो, तुम नये विचारक ही परस्पर उलझ बैठे !' फिर गभीर होकर बोले—प्रमोद ! वर्जना क्या है और नई रोशनी क्या है ?' अव प्रमोद को ध्यान आया कि यह वात कहकर वह बुरी तरह फँस गया है। उसने मौन मे ही अपना हित देखा। क्योकि आज की परिभाषा मे नैतिकता के आदेश वर्जना है, और नैतिक, सामाजिक आदि वन्धनों का परित्याग करना ही नई रोशनी है। वह ऐसी परिभाषा करके, अपनी मिट्टी पलीद करवाएगा क्या ? उसे मौन देखकर ऋषभ-दासजी ने कहा—'वत्स ! लबे अतीत से स्त्री-पुरुप दोनों के लिये पतन के अवसर खुले रहते आये है और विचार करलो कि असयम के पथ पर चलने के लिये कौन से मानसिक विकास की आवश्यकता

रहती है ? असयम का वातावरण तो प्रकृति मे पद-पद पर मिलता है। उसमे शिक्षित और अशिक्षित दोनो वह सकते है—वहते है और दोनों ही अपने असयम को उचित ठहराने के लिये अपनी वृद्धि के स्तर के अनुसार विविध तर्क भी दे सकते है। वस्तुत सच्ची संयम-साधना के लिये ही मानसिक विकास और बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा रहती है ! खैर, मै प्रमोद की वात स्पष्ट कर दूं, मेरे शव्दो मे। आज की विशिष्ट कुलो की कई माताएँ धार्मिक विचारो की है। वे अपनी पुत्रियो को धर्माराधना की प्रेरणा देती रहती है। उन्हे अधिक समय माताओ के पास व्यतीत करना पड़ता है और उन्हे लड़को जितनी स्वच्छन्दता मिल भी नही पाती है। अतः उनमे से कोई-कोई शिक्षित लडकी सयम मार्ग पर आ सकती है। वस्तुतः वैराग्य के कारण है—आस्तिक्य, ससार के सुखो मे भी दु.ख की प्रतीति, मुक्ति की तीव्र इच्छा, काया मे वन्धन की प्रतीति आदि।

जगत् काय-स्वभावौ च संवेग-वैराग्यार्थम्।

—तत्त्वार्थ ७।७

संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काया के स्वभाव का (तथा हिंसादि पापो के दोषों का उनकी दुःखरूपता का) चिन्तन करना चाहिये।

अनास्था, संसार मे सुख की प्रतीति, भवराग, देहासक्ति आदि असंयम के हेतु है।'

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रमोद—'नानाजी ! हम आपका किन शव्दो मे उपकार माने ? आपने हमारे भ्रमो को दूर कर दिया है। आप हमारे इस तन के

सम्बन्ध से नाना है। परन्तु आपने इस ग्रीष्मावकाश मे जो ज्ञान दिया, उससे हमारे विचारो मे वडी क्रान्ति हो गई है। हमे कई भ्रान्तियाँ थी। हम जिन विचारों को सुदृढ तर्क की नीव पर स्थित भव्य भवन समझ रहे थे, वे आपके ज्ञान की फूक से ताश के पत्ते के महल के समान भर-भरा कर गिर गये। आप हमारे धर्म पिता भी है। आपका वड़ा उपकार है–हम पर। आपने विपुल विचार-वैभव दिया है हमे। '

विनोद–'नानाजी ! हमने पहले आपका वहुत अविनय किया है ? पहले हम आपको अशिक्षित रूढिग्रस्त वृद्ध मानते थे। आप हमारे अपराधो को क्षमा करना। इस ज्ञान प्राप्ति मे प्रवीण निमित्त वना है। यह हमारा छोटा भाई प्रवल तार्किक है। इसकी ज्ञान की पकड गहरी है। यह हमे प्रेरित न करता तो हम आप तक जिज्ञासु रूप मे शायद ही पहुँच पाते। यद्यपि यह हमसे आयु मे छोटा है, फिर भी ज्ञान मे हमसे परिपक्व पाया है इसे। इसलिये हम इसके भी कृतज्ञ है. . ' प्रवीण बीच मे बोल उठा–'भैया ! यह उल्टी गगा कहाँ वहा रहे हो। कृतज्ञ तो मुझे होना चाहिए आपका, कि आपकी कृपा से नानाजी की अमूल्य ज्ञाननिधि हमे मिली। आप उम्र मे भी वडे और शिक्षा मे भी आगे है।'

ऋषभदासजी ने कोमल और स्निग्ध भाव को भाषा मे उडेलते हुए कहा–'वत्सो ! यह समय मेरे लिये परमानन्द का रहा। तुम्हारे निमित्त मे मैं ज्ञान गंगा मे निमज्जन करता रहा। मुझे तुम्हारे प्रश्नों से प्रमोद प्राप्त होता रहा ' मृदुला–'नानाजी ! आप तो विशिष्ट ज्ञानी है। आपकी ज्ञान गोष्ठी मे जो हमने पाया है, वह हमें अन्यत्र शायद ही मिल सकता। हमारा शिक्षाभिमान गल-गलकर वह गया। आज

हम जो परस्पर कृतज्ञता प्रकट कर रहे है—वह आपके प्रदत्त ज्ञान के द्वारा ही सम्भव हो सका है यह कृतज्ञता-ज्ञापन औपचारिकता मात्र नही है, किन्तु हार्दिक विनय है ।' ऋषभदासजी—'जो ज्ञान अभिमान को गलाकर, सम्यक् विनय को प्रदान करता है, वही उत्तम ज्ञान है और विनय ही धर्म का मूल है—**धम्मस्स विणओ मूल** । अव यह ज्ञान-स्कध पूरा होता है । अव तुम्हे इस स्कध की पूर्ति रूप कुछ वाते और वतलानी है ।'

१४.

ज्ञान का प्रभाव

'यह वतला चुका हूँ कि ज्ञान ही क्रिया का प्रेरक है । ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है । इसलिए उसकी सम्यक्रूपता या मिथ्यारूपता जीवन को प्रभावित किये विना नही रह सकती । मै अव तुम्हे 'दृष्टान्तमाला' के पूर्वार्ध की सम्पूर्ति के रूप मे ज्ञान के प्रभाव के विपय मे कुछ वाते वतलाता हूँ । यह नही भूलना चाहिए कि मोक्ष के कारणो को, ज्ञान और क्रिया रूप मे, सक्षेप मे द्विविध वताया जाता है, तव सम्यग्दर्शन को ज्ञान मे और तप को क्रिया मे गर्भित कर लिया जाता है । अर्थात् सम्यक् जानकारी की निश्चलता ही सम्यग्दर्शन है और तप तो क्रिया रूप है ही । अतः ज्ञान के प्रभाव में सम्यग्दर्शन का प्रभाव गर्भित समझना चाहिये ।

आत्मा के भेद

आचार्यो ने भगवान की वाणी के माध्यम से चिन्तन करते हुए, आत्मा के विकास के तारतम्य को दृष्टि मे रखते हुए, आत्मा की तीन अवस्थाओ का प्रतिपादन किया है। यथा–

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

–समाधितंत्र ४

सभी प्राणियो मे तीन प्रकार की आत्मा है–
१. बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा; और ३ परमात्मा ।

इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है–

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्म भ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्म विभ्रान्ति. परमात्माति निर्मल ।।

–समाधितंत्र ५

१ शरीर, इन्द्रियाँ, विकार आदि को आत्मा मानने वाला **बहिरात्मा** है। २. अन्तरात्मा चित्त, राग-द्वेषादि दोष और आत्मा के विपय में **अन्तरात्मा** भ्रान्ति से रहित होता है, और (३) परम विशुद्ध चैतन्य **परमात्मा** है।

उपेयात्तत्र परमं, मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।

–समाधि तंत्र ४

यू बहिरातम छांडिके, अन्तर आतम होइ ।
परमातम मति भाविये, जहॉ विकल्प न कोइ ।।

समाधि शतक २६

परमात्मभाव को लक्ष्य मे रखते हुए, अन्तरात्मभाव से बहिरात्मभाव का परित्याग होता है। अर्थात् परमात्मभाव की

भावना से युक्त अन्तरात्मा परिणति ही साधक दशा है और त्याज्य है–वहिरात्मभाव अथवा वहिरात्मभाव के त्याग और परमात्मभाव की प्राप्ति की प्रक्रिया ही अन्तरात्मा है–साधनावस्था है।

अन्तरात्मा के चरण

अन्तरात्मा की साधना श्रवण-भूमिका से प्रारम्भ होती है। यथा–

संपत्त-दसणाई, पइदियहं जइजणा सुणेई य ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ।।

–सावय-पण्णत्ती २

सम्यग्दर्शन प्राप्त जो आत्मा सयमी जनों से प्रतिदिन धर्माचरण सम्बन्धी प्रधान उपदेश सुनता है, उसको श्रावक कहते है।

परलोगहियं सम्म, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्व कम्मविगमा, सुक्को सो सावगो एत्थ ।।

–श्री हरिभद्राचार्य

जो परलोक के हितकर जिन वचन को उपयोग सहित सम्यक् रूप से सुनता है, जिसके अति तीव्र कर्मों के क्षय से उज्ज्वल भाव हो जाते है, वह श्रावक है।

'अन्तरात्मा के विकास के श्रावकत्व आदि अनेक चरण होते है। उन्हे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन चरणो मे गर्भित कर लिया गया है। जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि या दर्शनश्रावक, मध्यम वारह व्रतधारी या श्रमणोपासक श्रावक और उत्कृष्ट सर्वविरत या श्रमण। श्रवण भूमिका तीनो ही कोटि के साधको मे होती है। अतः श्रमण भी 'श्रावक' शव्द से गृहीत हो सकते है। किन्तु ऐसा व्यवहार नही

है। दर्शनश्रावक और श्रमणोपासक ही श्रावक शब्द से गृहीत होते है और कभी-कभी तो मात्र दर्शनश्रावक ही गृहीत होते है। इन तीनो चरणो मे स्थित अन्तरात्मा को साधक ज्ञानी भी कहा जाता है। इनके जीवन मे ज्ञान का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

ज्ञान के प्रभाव के विविध रूप

सारा साधक जीवन ज्ञान से प्रभावित होता है और उसकी समस्त क्रियाएँ ज्ञान से उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। पर हमे यहाँ ज्ञान के उन प्रमुख प्रभावो की ही चर्चा करनी है कि जो आत्मा मे ज्ञान-प्राप्ति के बाद तत्काल उत्पन्न होते है, ज्ञान का पोषण, संवर्धन और सरक्षण करते है और पूर्णता की उपलब्धि के बाद अधिकाशतः विलीन हो जाते है।

वे प्रभाव निम्नलिखित है—

१. **पहचान के चिन्ह**—लक्षण और लिंग।
२ **योग-विशुद्धि**—अशुभ ध्यान की मदता, शुभ ध्यान में प्रवृत्ति, सकल्प-दृढता, व्यसन-परित्याग, ज्ञानालंकरण और आचार।
३ **सावधानी**—विशिष्ट यत्न और भाव-सरक्षण।
४ **भावना-अभ्यास**—ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना और व्यवहार-भावना।

पहचान के चिन्ह

ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उसके पहचान के जो चिन्ह आत्मा में प्रकट होते है, उन्हे मनीषियो ने दो भागो मे विभक्त किये है—सामान्य चिन्ह और विशेष चिन्ह। इनको क्रमशः लक्षण और लिंग सज्ञा दी गई है।

लक्षण—लक्षण पाँच है—

१. **शम**—कषाय की उपशान्तता अर्थात्

(अ) आत्मा के साध्य परमात्म-स्वरूप, उसके साधन और साधक के प्रति अप्रीति का नाश।

(आ) साध्य त्रिक के प्रति स्तब्धता का नाश।

(इ) " " के प्रति वक्रता का नाश।

(ई) " " " " समर्पण वृत्ति।

२. **संवेग**—मोक्ष और मोक्ष के साधनों के प्रति तीव्र रुचि अथवा आत्मलक्ष्य की दृढ पकड और प्रीति।

३ **निर्वेद**—बाधक भावो अर्थात् आत्मलक्ष्य के नाशक कारणो के परित्याग की भावना या उनके प्रति उदासीनता की वृत्ति।

४. **अनुकम्पा**—आत्म-लक्ष्य अप्राप्त और आत्म-लक्ष्य की अरुचि से उत्पन्न कष्टो से पराभूत आत्माओ तथा आत्म-लक्ष्य से भ्रष्ट आत्माओ के प्रति करुणा-भाव या उनके दुःखो को दूर करने की वृत्ति; और

५. **आस्तिक्य**—आत्मलक्ष्य और उसके सिद्धि के हेतुओ के प्रति दृढ़ विश्वास—निश्चल मति या जिनेश्वर देवो के वचन के प्रति विश्वास—तत्त्वार्थ श्रद्धान।

इसके तीन रूप है—श्रद्धा, प्रत्यय और रुचि। यथा—

इह परलोक छतापणो, होइ 'आस्तिक' भाव।
करम कर्या तेना फल सही, होइ पुण्य ने पाप॥

इम समकित मन थिर करो—१५.

तरक-अगोचर 'सद्दहो'—द्रव्य-धर्म-अधर्म ।
केइ 'प्रतीतो' युक्ति सों, पुण्य-पापजु कर्म-इम. १६.
तप-चारित ने 'रोचवो', कीजे तस अभिलाख ।
'श्रद्धा' 'प्रत्यय' 'रुचि' तिहुँ, जिन-आगम-साख—इम. १७

—समकित छप्पनी

लिङ्ग—सम्यक्त्व के तीन लिंग है—तीनो ही लिंग प्रशस्त राग से होने हाली वहिरक्रिया को अभिव्यक्त करते है । प्रशस्त राग के तीन रुप है—सदिच्छा, सत्प्रीति-सदनुराग और कृतज्ञता । तीन लिगो मे प्रशस्त राग के उपर्युक्त तीनो प्रभेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होते है । यथा—

१. शुश्रूषा—आत्मार्थ-प्रतिपादक शास्त्रो अर्थात् जिनवाणी सुनने की तीव्र इच्छा—

(अ) आप्त की खोज ।

(आ) आप्त के प्रति वहुमान-भक्ति ।

(इ) आप्त-वाणी के उपदेष्टा ज्ञानी गुरु के प्रति विनय और वहुमान ।

(ई) आप्त-वाणी का वहुमान और—

(उ) आप्त-वाणी के श्रवण में दत्त-चित्तता ।

२. धर्मक्रियानुराग—धर्मानुष्ठान के प्रति अत्यधिक राग, ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न होता है—

(अ) धर्म-क्रिया के प्रति वहुमान और प्रीति ।

(आ) धार्मिक जनो के प्रति अनुराग और सम्मान ।

(इ) शुद्ध भाव से धर्माचरण करने की रुचि और यथाशक्ति उद्यम की वृत्ति ।

(ई) धर्मक्रियाओ की विधि का राग और पक्षपात; और

(उ) विधिवादी का वहुमान ।

३. **यथा-समाधि-गुरुजन-वैयावृत्य**—गुरुजन के नियमो की सुरक्षा और उनकी समाधि को लक्ष्य मे रखते हुए, उनके योग्य उनकी पूर्ण सेवा करना ।

(अ) गुरुजन का 'हम पर महदुपकार है'—यह मानना ।

(आ) सयमी की सेवा को दुर्लभ मानना ।

(इ) सेवा से अहकार का विसर्जन करना ।

(ई) सेवा भाव की अति मे असेवा न कर वैठना ।

(उ) सेवा मे किसी की होड़ न करना ।

(ऊ) सेवा के वदले मे सेव्य से कुछ पाने की चाह नही करना, आदि ।

योग-विशुद्धि

मन, वचन और काया की क्रिया को योग कहते है । ज्ञान की प्राप्ति के वाद सहज मे ही योग-विशुद्धि प्रारम्भ हो जाती है । अर्थात् ज्ञान का प्रकाश मन, वचन और काया की क्रिया को उज्ज्वलता प्रदान करता है ।

योग-विशुद्धि के दो रूप है—निवृत्ति और प्रवृत्ति । मन आदि का अशुभ क्रिया से निवृत्त होना निवृत्ति और शुभ क्रिया मे रत होना प्रवृत्ति है ।

ज्ञान-ज्योति के हृदय मे प्रज्ज्वलित होने पर सकल्प मे दृढता, क्रिया में आंशिक विशुद्धि और ध्यान-विशुद्धि प्राप्त होती है।

सत्संकल्प—ज्ञानी को आराध्य आदि के प्रति उत्तम भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते है वह—

(अ) मन से अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनप्रज्ञप्त धर्म को ही साररूप और अन्य को नि:सार मानता है।

(आ) वचन से उन्ही की स्तुति करने का और,

(इ) उन्ही के समक्ष नतमस्तक होने का भाव रखता है।

(ई) परमात्म भाव का पुन पुनः विचार करता है, और

(उ) संकल्प की जाग्रति के हेतुरूप महामत्र 'णमोक्कार' का शुद्धभाव से जाप करता है।

क्रिया-विशुद्धि—क्रियाविशुद्धि के तीन भेद है—व्यसन-परित्याग, आचार और भूषण क्रिया।

१. **व्यसन-परित्याग**—दुर्व्यसनो का त्याग करना—

पंचुंबर-सहियाइं, सत्तवि विसणाइं जो विवज्जेइ।
समत्तविसुद्धमई, सो दसण-सावओ भणिओ॥

जो पाँच उदुम्बर फल (उमर, कठूमर, गूलर, पीपल और वड़) और व्यसनो का त्याग करता है, वह सम्यक्त्व से विशुद्ध मतिवाला 'दर्शन श्रावक' कहलाता है।

इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य।
दंड-फरुसत्त-मत्थस्स दूसण सत्त वसणाइं॥

परस्त्री-गमन, द्यूत-क्रीडा, मद्यपान, शिकार, वचन की कठोरता, दण्ड की कठोरता और अर्थ के दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन (सम्यक्त्वी के लिए त्याज्य) है।

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि चौर्यं परदार-सेवा ।
एतानिसप्त व्यसनानि लोके, घोरातिघोर नरकं नयन्ति ।।

द्यूत, मासभक्षण, सुरापान, वेश्यागमन, शिकार-आखेट, चोरी और परस्त्रीगमन, ये लोक मे सात व्यसन घोरातिघोर नरक मे ले जाते है ।

२ **आचार**—ज्ञानी का आचार ज्ञानार्जन-तत्पर, ज्ञान और ज्ञानी के विनयादि से युक्त, आस्था का शोधक, पोषक और उत्पादक होता हैं । ज्ञान सम्वन्वी दो आचार हैं—ज्ञानाचार और दर्शनाचार ।

(अ) **ज्ञानाचार**—स्वयं कम से कम अष्ट प्रवचन-माता का ज्ञाता होता है—१. गमन-विवेक, २. भाषण-विवेक, ३. जीवनोपयोगी वस्तुओ के ग्रहण मे विवेक, ४. वस्तुओ के आदान-निक्षेप मे यत्न, ५ त्याज्य पदार्थो का उत्सर्ग-विवेक ६. मनोनिरोध, ७. वचन-निरोध ,और ८ काय निरोध अर्थात् पाँच समिति (=सम्यक् प्रवृत्ति) और तीन गुप्ति (=सम्यक् निवृत्ति) का ज्ञान ।

ज्ञानाचार के आठ भेद—१ यथाकाल ज्ञान (श्रुतज्ञान) का अभ्यास करना, २ विनय सहित ज्ञानाभ्यास करना, ३ ज्ञानी और ज्ञान के वहुमानपूर्वक ज्ञानाभ्यास करना, ४ ज्ञानाभ्यास के समय यथाशक्ति तप करना, ५. ज्ञानदाता के नाम को नही छिपाना—उनका उपकार मानना, ६ शुद्ध सूत्रोच्चारण, ७ शुद्ध अर्थज्ञान, और ८. सूत्रो का शुद्ध अर्थज्ञान करना ।

(आ) **दर्शनाचार**—श्रद्धा के शोधकादि आठ आचार है—

णिस्संकिय-णिक्कंखिय-णिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ।।

—उत्तरज्झयण २८/३१

१. **निःशंकित**—आत्मलक्ष्य मे या जिनवाणी मे शंका होने पर—'आत्म लक्ष्य से परम अन्य लक्ष्य नही है' 'सर्वज्ञोक्त ही सत्य है' आदि भावो को धारण करके शंका निवारण करना। निर्भय रहना। धर्माचरण मे लोगो से नही डरना और धर्म से अनभिज्ञ माता-पितादि गुरुजन का भी भय नही करना।

२. **निष्कांक्षित**—कर्म और धर्म के फल की वांछा का परित्याग करना। यदि अन्य मतादि का आकर्षण हो जाय तो—'यदि वीतरागोक्त मार्ग से तुझे सिद्धि नही मिली तो अन्य मार्ग से तुझे कदापि सिद्धि नही मिल सकती है'—इस भाव को धारण करके, उस आकर्षण का निवारण करना।

३. **निर्विचिकित्सा**—धर्म-क्रिया के फल मे चित्त की अस्थिरता का और धर्माराधना और धार्मिको के प्रति घृणा का निवारण करना।

४. **अमूढदृष्टि**—चमत्कारादि से भ्रमित न होना। आत्मलक्ष्य मे पूर्ण सावधान रहना।

ये चार आचार दर्शन-विशोधक है।

५. **उपबृंहण**—ज्ञानादि गुणवानो की प्रशंसा करना—उनके कर्मोदय-जनित दोषो का आच्छादन करना।

६. **स्थिरीकरण**—गुणो में अस्थिर मति वाले साधको को गुणो मे स्थिर करना।

७ **वात्सल्य**—गुणीजनो के प्रति—अपने साधर्मिको के प्रति मातावत् वत्सलतापूर्ण व्यवहार करना; और

८ **प्रभावना**—जैन धर्म का उद्योत हो वैसे प्रयत्न करना।

(अ) सूत्र-सिद्धान्त का अध्ययन करना, (आ) धर्मकथा करना, (इ) सद्वाद करना, (ई) निमित्तादि ज्ञान के द्वारा

भूतादि कालो का ज्ञान करके, धर्म सघ की सुरक्षा और वृद्धि के प्रयत्न करना, (उ) तपश्चरण, (ऊ) व्रत-ग्रहण, (ऋ) विद्या का प्रवर्तन; और (ऋ) कवि कर्म करना।

३. **भूषण क्रिया**—प्रभावना के सिवाय ज्ञान को भूपित करने वाली चार क्रियाएँ और है—

(अ) निपुणता धर्मज्ञान मे दक्षता। वन्दना आदि पड्आवश्यक क्रियाओ और तत्त्व-ग्रहण मे चतुरता।

(आ) तीर्थमेवा—चतुर्विध सघ को शाता उपजाना।

(इ) भक्ति—देव-गुरु की उपासना।

(ई) स्थिरता—श्रद्धा मे दृढता, धर्मकार्य मे दिये गये योग्य वचन आदि का दृढता से पालन करना।

ध्यान विशुद्धि—चित्त की एकाग्रता या किसी कार्य मे योगों का समरूप से लगे रहना या योगो की क्रिया को रोक देना ध्यान कहलाता है। मन आदि की विचार आदि क्रिया ध्यान की वाहिका होने के कारण ध्यान का योग के साथ सम्वन्ध है। अर्थात् योग की शुद्धि या अशुद्धि में स्थिरता ही ध्यान है।

योग की आत्म शुद्धि की ओर उन्मुख शुभ क्रिया मे स्थिरता प्रशस्त ध्यान है और इससे इतर क्रिया मे स्थिरता अप्रशस्त ध्यान है। अतः आत्म शुद्धि के—परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति के—लक्ष्य के निर्णय के वाद अन्तरात्मा का प्रशस्त ध्यान अवश्यमेव प्रारम्भ होता है। चरम लक्ष्य के निर्णय के साथ ही आत्मा का ढलाव उस ओर हो जाता है और आत्मा का जिस ओर ढलाव होता है, उधर ही अपने पुरुपार्थ को मोड़ने की उसकी वृत्ति होती है।

अप्रशस्त ध्यान मे दो स्थायी भाव होते है—रौद्र—भयंकर भाव और काम—शब्दादि के चाह रूप भाव। ये दोनों स्थायी भाव अन्त-रात्मा को त्याज्य प्रतीत होते है। इसलिये इन भावो मे मन्दता आ जाती है और सम्यग्दृष्टि आत्मा अव्रती होने पर भी इन भावो के निवारण का यत्किञ्चित् प्रयत्न करने लग जाता है। इसी कारण उनका अप्रशस्त ध्यान अति मन्द हो जाता है।

प्रशस्त ध्यान में धर्मानुराग और वीतरागताउन्मुख भाव स्थायी होते है। अन्तरात्मा मे प्रारम्भ मे वीतरागता के लक्ष्य से युक्त धर्मा-नुराग की प्रधानता रहती है। इसलिये उसका निम्नलिखित भावो के चिन्तन मे चित्त स्थिरता प्राप्त करता है—

(अ) 'सत्य वक्ता कौन हो सकते है?—जो रागादि दोषो से मुक्त हो—आप्त हो।' अर्थात् उपदेष्टा की निर्दोषता का चिन्तन।

(आ) 'सत्य वक्ता कौन हो सकता है?—जो सर्वज्ञ हो' अर्थात् आप्त के आभ्यन्तर गुणो का चिन्तन।

(इ) 'जो मेरा लक्ष्य है, उसे जिन्होने प्राप्त कर लिया हो, वे ही मेरे आराध्य है' अर्थात् अपने लक्ष्य और आराध्य मे अभेद-चिन्तन।

(ई) 'अहो! कैसे है मेरे आराध्य?—आत्म-विकास के और पुण्य-फल से उपलब्ध पौद्गलिक विकास के चरम शिखर पर स्थित परमात्मा तीर्थंकर देव।' अर्थात् अतिशयो सहित अरिहन्त भगवान के स्वरूप का चिन्तन।

(उ) उन आप्त भगवान की आज्ञा का क्या स्वरूप है? उनकी आज्ञा द्विविध है—आदेशरूप अर्थात् नियमो के विधि—निषेध युक्त

विधानरूप आज्ञा और वस्तुस्वरूप की प्रतिपादिका स्वरूप आज्ञा। अर्थात् जिन-आज्ञा का पुनरपि पुनः चिन्तन।

सावधानी

सद्श्रद्धान-प्राप्त या विशिष्ट ज्ञान चेतनावान आत्मा को अपनी उपलब्धि–हेय–त्याज्यभाव, ज्ञेय–जानने योग्य भाव और उपादेय–ग्राह्य भाव को पहचानने की शक्ति और तद्रूप रुचि विशिष्ट और अनुपम लगती है। इसलिये वह उसकी सुरक्षा के लिये विशेष सावधान रहता है। उसके सावधानी के प्रयत्नो की परम्परा दो कोटियों मे विभाजित हो जाती है–दृढता के विशिष्ट प्रयत्न और लचीला भाव-संरक्षण।

दृढ़ता के प्रयत्न (यत्ना)

वन्दना–अन्यतैर्थिक देव–गुरु की स्तुति नही करना और सुदेव–सुगुरु की प्रशसा करना

नमस्कार–कुदेव आदि को प्रणाम नही करना और सुदेव–सुगुरु को नित्य प्रति विधि–युक्त नमस्कार करना।

दान–कुदेव आदि को धर्म समझकर वस्त्रादिवस्तुएँ प्रदान नही करना। परन्तु सुदेव आदि को उनके नियमो के अनुसार योग्य पदार्थो को समर्पित करना।

अनुदान–मिथ्या भावो के प्रचार–प्रसार मे वार-वार दान अथवा सहयोग नही देना और सुदेव आदि के सत्कार्यों मे पुन.-पुनः सहयोग देना।

आलाप–मिथ्या भावों के प्रचारको–अपने लक्ष्य से विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादको से किंचित् बातचीत नही करना या पहले नही बोलना।

लेकिन सुदेवादि से उनके नही बुलाने पर भी बोलना उनसे वातचीत करना।

संलाप–अपने साध्य से विपरीत सिद्धान्त–प्रचारको से वार-वार नही बोलना–उनके साथ सभाषण नही करना। पर सुदेवादि के साथ सुन्दर और विधिपूर्वक सभाषण करना।

भाव–संरक्षण (आगार)

ज्ञानी साधक को शक्ति की अल्पता या अन्य किसी कारण से अपने व्यवहार में कुछ छूट रखनी पड़ती है। इसमे उसकी मुख्य वृत्ति अपने को प्राप्त गुणो संरक्षण की ही रहती है। वह उन छूटो का उपयोग रुचिपूर्वक नही करता है। इसलिये इन 'आगारो' को भाव-संरक्षण संज्ञा दी गई है।

(१) राजाभियोग, (२) गणाभियोग (जनसमूह या जाति का दवाव, (३) देवाभियोग (देव-प्रकोपादि), (४) गुरुजननिग्रह (माता-पिता आदि का दवाव), (५) बलाभियोग (शक्तिमान का दवाव) और (६) वृत्ति-कान्तार (आजीविका और जगल की विषम स्थिति)। इन छह कारणो से मिथ्यादर्शनियो को वन्दनादि करने की छूट।

भावना का अभ्यास

जिन आचरणो से और जिन भावो के विचार से ज्ञानदशा की पुष्टि होती है, उन्हे भावना–अभ्यास कहते है। इन भावनाओ के तीन वर्ग है–

(१) **ज्ञानभावना**–ज्ञान-भावना दो प्रकार की है–आगमानुसारिणी अनुप्रेक्षा और स्वरुपचिन्तना।

(अ) आगमानुसारिणी-अनुप्रेक्षा—आगम के माध्यम से जो चिन्तन किया जाता है, उसे आगमानुसारिणी भावना कहते है। आगम के दो भेद है—सूत्रागम और अर्थागम ।

सूत्र अर्थात् णमोक्कार सुत्त, चउवीसत्थच, पणिवायसुत्त आदि मूल सूत्रो का अर्थ की भावना करते हुए चिन्तन करना या मात्र अर्थ की पुनरावृत्ति करना सूत्रागमानुसारिणी अनुप्रेक्षा है ।

सूत्र के किसी पद या आशय को ग्रहण करके नय, निक्षेप आदि के द्वारा चिन्तन करना या विविध प्रश्नात्मक अनुयोगो के द्वारा विस्तार से अर्थ—चिन्तन करना अर्थागमानुसारिणी अनुप्रेक्षा कहलाती है ।

(आ) स्वरूप-चिन्तना—'मै कौन हूँ'—इसका निर्णय करना—'मै अतीत काल मे पृथ्वीकायिकजीवो से लगाकर देव पर्यन्त विविधभवो मे परिभ्रमण करता रहा। किन्ही विशिष्ट पुण्यकर्मो के उदय से वर्तमान मे, मैने मनुष्य—पर्याय प्राप्त की है। क्या मै इस शरीर-रूप ही हूँ ? नही, शरीर जड है, रुपी है, अशुचिरूप है, नाशवान है. . . .और मै चैतन्य हूँ, अरूपी हूँ, शुचिता-अशुचिता से परे हूँ, शाश्वत हूँ, अव्यय हूँ, अखण्ड हूँ, अक्षय हूँ. . .मै शरीर से भिन्न हूँ, और शरीर मुझसे भिन्न है। मै भविष्य मे परमात्मा बन सकता हूँ सम्प्रति मुझे आराधना के अनुकूल सामग्री उपलब्ध हुई। . . . लोक के कोने-कोने मे परिभ्रमण करते हुए धर्म-आराधना के योग्य भूमि भरत क्षेत्र के आर्य-खण्ड मे मेरा जन्म हुआ है। धर्म-सस्कारो से सम्पन्न उत्तम कुल की प्राप्ति हुई है । सुदीर्घ आयुष्य है। सम्पूर्ण इद्रियाँ सक्षम है। बहुत कुछ नीरोग और धर्म-साधना के योग्य शरीर है। सद्गुरु की कृपा दृष्टि भी प्राप्त हुई है। अब इतनी कमी

है–परमागमो का श्रवण, चिन्तन-मनन, तत्त्व-जिज्ञासा स्वल्प है। हेयादि मे दृढ हेयादि बुद्धि नही है और परमात्म-स्वरूप की सप्राप्ति के लिये सयम-मार्ग मे विहार नही है। इनकी प्राप्ति मुझे जल्दी हो। जिससे मोक्षमार्ग मे तीव्रता से गमन करूँ. , आदि अथवा जीव और और देह, सम्बन्ध और जीव, मनोविकार और जीव के भेद का चिन्तन करना।

(२) **दर्शन-भावना**–सम्यग्दर्शन की महिमा और दुर्लभता का चिन्तन करना दर्शन-भावना है–

(अ) महिमा-भावना–सम्यग्दर्शन की महिमा की सूचक छह भावनाएँ है–

१ मूलभूत भावना–सम्यक्त्वरूपी मूल, चारित्ररूपी वृक्ष, भाव-रूपी पल्लव, गुणरूपी मँजरियाँ और मोक्षरूपी फल आदि चिन्तन।

२ द्वारभूत भावना–धर्मरुपी नगर का सम्यक्त्वरुपी प्रवेश द्वार।

३. पीठभूत भावना–धर्मरूपी प्रासाद की सम्यक्त्व रूपी नीव।

४, आधारभूत भावना–व्रत, गुण आदि जीवलोक का सम्यक्त्व रूपी पृथ्वी आधार है।

५ निधानभूत भावना–सम्यक्त्व रूपी खजाने मे गुणरूपी धन।

३ भाजनभूत भावना–श्रुत-शील रुपी रस का पात्र सम्यक्त्व है।

(आ) बोधि-दुर्लभ-भावना–'**संवुज्झह किं ण बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा**' अर्थात् सम्यक् तत्वरुचि को प्राप्त करो। इसे प्राप्त क्यो नही करते हो ? परलोक में सबोधि निश्चय ही दुर्लभ है।

(३) **व्यवहार-भावना**–सद्भावना से युक्त की जानेवाली क्रिया को व्यवहार कहते है। सम्यक्त्व जनित और सम्यक्त्व-पोषक व्यवहार

व्यवहार-भावना है। व्यवहार-भावना दो प्रकार की है—आत्म-केन्द्रित और पर—केन्द्रित।

(अ) आत्म-केन्द्रित व्यवहार—

(अप्पिच्छा) अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया
धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्म-पलोईया
धम्म-पलज्जणा धम्म-समुयारा धम्मेणं चेव वित्ति
कप्पेमाणा सुशीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा

—उववाइय सुत्तं २०

कई मनुष्य (अल्प इच्छावाले) अल्प पापवृत्तिवाले अल्प परिग्रह-वाले, धार्मिक, धर्म का अनुसरण करनेवाले धर्म का कथन करनेवाले, धर्म को उपादेय माननेवाले, धर्मभाव मे रगे हुए, धर्म-सदाचार को माननेवाले, धर्म से वृत्ति करनेवाले सुशील, सुव्रत और शुभभाव सेवन मे प्रसन्न रहनेवाले होते है।

न्याय करै, न्याय भाष ही, न्याय को पछपात।
न्याय विचारै मन धरै, लज्जा नीति की बात॥ ५३
जा को वल्लभ न्याय है, न्याय ही को आचार।
न्याय ही सों सब ही करै, वृत्ति औ व्यवहार इम ५४

—समकित छप्पनी

(आ) परकेन्द्रित व्यवहार भावना—समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव, गुणियो के प्रति प्रमोदभाव, दु.खियों के प्रति करुणा भाव और विपरीत वृत्तिवालो के प्रति माध्यस्थ भाव रखना प्रशस्त है।

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि सत्व—
गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु।

तत्त्वार्थ० ७।६

मैत्री भावना–

नहि हो द्वेष किसी से, सबसे वैर विसार ।
कष्ट न पाये कोई, हो सुख-शान्ति-विहार ।।
क्षमा करूँ मैं, वे भी क्षमा करें अपकार ।
सबको निज सम निरखुं, मैत्री-भव्य प्रसार ।।

प्रमोद–भावना

अनुकूल–विरोधी या सब के गुण में मोद् ।
धनधर हो या निर्धन, तज ईर्ष्या की गोद ।।
आत्म-गुणी को वन्दन, अन्तर भाव-विशोध ।
गुण-परख, भक्ति जागे, भाव-प्रमोद-प्रबोध ।।

कारुण्य–भावना

निर्दयते ! हटजारी ! आओ करुणा-भान ।
तन-मन-भव-पीडा से, दुखिया है जग जान ।।
दुख में भाग बँटाऊँ, दे तन-मन-धन-ज्ञान ।
स्व-कर्मवश दुख है, पर हो करुणा-दान ।।

माध्यस्थ-भावना

औगुन देख पराये, करूँ सुमन-प्रतिकार ।
सुधरे न, हो विरोधी, तो दूँ क्रोध-निवार ।।
रुचिकर-रुचिकटक में, राग-द्वेष दूं मार ।
निन्दा-स्तुति, दुख-सुख में, 'अणु' समता-संचार ।।

इस प्रकार ज्ञान के प्रभाव के विविध क्षेत्र है । मैंने कुछ संक्षेप से तो कुछ विस्तार मे ये वाते वतलाई है ।' मृदुला–'नानाजी ! इनमें कई वातो का तो सकेत मात्र ही किया है ।' 'हाँ ! वात ऐसी ही है ।

अति विस्तार न हो और विषय भी अधूरा न रहे—इसलिये मुझे ऐसा करना पडा है।'

9687

प्रवीण की विरक्ति

प्रविण अति गभीरता से बोला—'नानाजी! मेरा मन होता है कि मै जल्दी ही गुरुदेव के चरणो मे पहुँच जाऊँ और उनकी चरणोपासना करते हुए सर्वविरति की साधना करु।' ऋषभदासजी—'यह भाव होना तो अच्छा है। एक श्रद्धाल ज्ञानी के ये ही भाव होते है, कि वह धन्य दिवस होगा, जब मै अनगार बनकर, समस्त ममता का परित्याग करुँगा—देहातीत दशा मे विचरण करुँगा।' प्रवीण—नानाजी! अब यह सिर्फ भावना ही नही—निश्चय होता जा रहा है। आप मुझे सहयोग दे. .' विनोद हँस पडा—'अब रहने भी दो वैरागीजी! क्या समझते हो वासना को, जो उसे त्यागने चले हो?' प्रवीण—'देखो, विनोद भैया! आज का बच्चा वासना को नही जानता है—यह मत कहो! मेरी जितनी उम्र के लडके तो मजनूँ बने फिरते है! यह पवित्र स्थान है। यहाँ और कुछ कहना नही चाहता हुँ।' ऋषभ बेटा! सयममार्ग ग्रहण मे योग्यता और शक्ति चाहिये और गुरुदेव भी बिना परीक्षा लिये प्रव्रज्या प्रदान नही करते है।' प्रवीण ने दृढता पूर्वक कहा—'मुझमे योग्यता है ही, ऐसा तो मै अभिमान नही कर सकता हुँ। पर मै अयोग्य हुँ—यह भी नही मान सकता हूँ। यदि योग्यता मे कुछ कमी होगी तो उसे अर्जन करुगा—करने का प्रयत्न करुगा। मैने गुरुदेव के दर्शन एकाध बार किये है और मैने सुना है कि वे अपनी कसौटी पर खरे उतरे बिना किसी को दीक्षा नही देते है। पर मुझे लगता है कि मै उनकी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाऊँगा। न तो मै होटल मे चाटन करता हू। न फैशन